प्रवचन-ग्रन्थमाला :

ग्रन्थ : ४-५

प्रवचन-डायरी

१९५६-५७

[आचार्य श्री तुलसी के जनवरी १९५६ से दिसम्बर १९५७ तक के प्रवचनों का संग्रह]

सम्पादक

श्रीचन्द रामपुरिया, बी. कॉम. बी. एल.
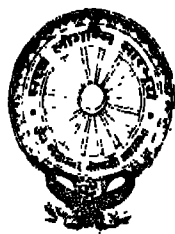
तेरापन्थ द्विशताब्दी समारोह के अभिनन्दन में

प्रकाशक :

जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी महासभा

३, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट

कलकत्ता—१

◈

प्रथमावृत्ति :

मई, १९६०

◈

प्रति संख्या :

१०००

◈

पृष्ठांक :

३७०

◈

मूल्य :

सात रुपये

◈

मुद्रक :

बिनानी प्रिन्टर्स प्राइवेट लि०

कलकत्ता—१

प्रकाशकीय

आज व्यक्ति का जीवन स्वार्थ की परिधियों से आवृत्त हो इतना संकीर्ण बनता जा रहा है कि अपने भौतिक लाभार्जन की पैशाचिक दुष्कामनाओं से वह जर्जर है। यह आज के मानव-जीवन में प्रविष्ट वह दूषित तत्त्व है, जिसने नैतिकता और सदाचार की सात्विक परम्पराओं पर गहरा आघात किया है। ऐसी विषम और विपथगामिनी परिस्थिति में आज सब से प्राथमिक और आवश्यक कार्य मानव के लिए यह है कि वह स्वार्थमयता, अर्थलोलुपता और वासनाओं के प्रवाह में अपने को नहीं बहने दे।

व्यक्ति, समाज और राष्ट्र का चरित्र ऊँचा हो, यह आज के युग की मांग है। आचार्य श्री ने अपने प्रवचनों के द्वारा दिग्-भ्रष्ट मानव को समयोचित दिशा-संकेत प्रदान किया है। आचार्य श्री के प्रवचनों से अधिकाधिक व्यक्ति लाभान्वित हो सकें, इसी पावन उद्देश्य को दृष्टिगत रखते हुए महासभा ने 'प्रवचन-ग्रन्थमाला' योजना के अन्तर्गत प्रत्येक वर्ष के प्रवचनों को पृथक् रूप से प्रकाशित करने का कार्यारंभ किया है। प्रवचन-डायरी १९५६-५७ प्रवचन-ग्रन्थमाला का चतुर्थ एवं पंचम ग्रन्थ है।

हमें विश्वास है, सर्वसाधारण के हित में यह उपयोगी सिद्ध होगा।

तेरापंथ द्विशताब्दी व्यवस्था उपसमिति
३, पांर्चुगीज चर्च स्ट्रीट,
कलकत्ता—१
२० अप्रैल १९६०

श्रीचन्द रामपुरिया
व्यवस्थापक,
साहित्य-विभाग

भूमिका

अशान्ति से झुलसते हुए संसार को आज सबसे अधिक शान्ति की प्यास है। सुख गरीब, मजदूर, शोषित और शासित को नहीं है तो शान्ति अमीर, मालिक, शासक और शोषक को भी नहीं है। मनुष्य की अशान्ति का मूल कारण आकांक्षा की असीमता है। कोई साम्राज्य विस्तार का लिप्सु है तो कोई अपने अधिकारों को सार्वभौम बनाने की लगन में है। कोई धन के बल पर, कोई सत्ता के बल पर, कोई शस्त्रास्त्र के बल पर, तो कोई कूटनीति के बल पर दूसरे पर हावी होने की बात सोच रहा है। दुनिया अपने अधिकारों को अपने तक सीमित रखने में सन्तोष नहीं मान रही है यही अशान्ति का बीज है।

आज के युग में दो विचारधाराएँ प्रवाहित हो रही हैं। पहली अध्यात्मवाद की और दूसरी भूत-चैतन्यवाद की, जिसको पुराने दार्शनिक नास्तिकवाद कहा करते थे। आचार्य श्री ने अपने प्रवचनों के माध्यम से जन-जन के मानस पटल पर आध्यात्मिकता का अमिट चित्र खींचा है। इसमें दो मत की बिलकुल सम्भावना नहीं कि अगर आज के जन-मानस ने इन आध्यात्मिक प्रवचनों के नवनीत को ग्रहण किया तो निश्चय ही भौतिक क्लेशों से वे परित्राण पा सकेंगे। अगर सर्वसाधारण आध्यात्मिकता को अपनावें तो निश्चय ही स्वार्थ की टक्करें, पद-प्रतिष्ठा की भूख, नाम व बड़प्पन की लालसा, अधिकार और सत्ता की लार, शोषण और संग्रह का जुआ तथा कूटनीति का उन्माद दूर हो जाय और विश्व फिर एक बार शान्ति की ठण्डी सांस ले सके।

आचार्य श्री ने अपने प्रवचनों में बार-बार जीवन में संयम का अनुसरण एवं त्याग के पालन की आवश्यकता पर बल दिया है। संयम और त्याग को उन्होंने जीवन-शुद्धि का संबल माना है। आचार्य श्री ने संयम और त्याग की महत्ता का विश्लेषण करते हुए बताया है—'भारतीय संस्कृति त्याग और संयम की संस्कृति है। जीवन की सच्ची सुन्दरता और सुषमा संयताचरण में है, बाहरी सुसज्जा और वासनापूर्ति में नहीं। जिन भोगोपभोगों में लिप्त हो मानव अपने आपको भूल जाता है, वह जरा आंखें खोलकर देखे कि वे उसके जीवन के अमर तत्त्व को किस प्रकार जीर्ण-शीर्ण और विकृत बना डालते हैं। जीवन में त्याग को जितना अधिक प्रश्रय मिलेगा, जीवन उतना ही सुखी, शान्त और उद्बुद्ध होगा।'

'संयम जीवन को, जीवन-तत्त्व को, सुरक्षित रखने के लिए मेंड़ जैसा है। संयम का अर्थ है आत्म-नियन्त्रण, अपनी इच्छाओं पर अपना नियन्त्रण। यद्यपि यह नियन्त्रण है पर सही माने में सच्ची स्वतन्त्रता भी यही है कि संयम के लिए अपने-आप में दृढ़ता और आत्मबल पैदा करना होगा। संयम वह बहुमूल्य रत्न है, जिसकी बराबरी संसार का बड़ा से बड़ा रत्न भी नहीं कर सकता।'

भारतवर्ष एक आध्यात्मिक संस्कृति का देश है। धर्म यहां का प्राणभूत आधार रहा है। आज भी यदि भारत का गौरव है, उसका अन्तर्राष्ट्रीय महत्व है, तो वह इसलिए कि इसकी संस्कृति, दर्शन, परम्परा और इतिहास अहिंसा और मैत्री जैसे आध्यात्म-तत्त्वों से भरे पड़े हैं, जो आज भी विश्व के लिए प्रेरणा के स्रोत हैं। भारतीय जन-जीवन की वर्त्तमान प्रवृत्तियों पर चिन्ता व्यक्त करते हुए आचार्य श्री ने बताया है - 'आज यह आवश्यक हो गया है कि मानव-समाज अपने विकृत रूप को देखे। आत्मबल और हिम्मत के सहारे बुराइयों के साथ टक्कर लेकर वह भलाइयों के राजमार्ग पर आये। तभी उसमें सही माने में मानवता कही जा सकती है।'

आचार्य श्री ने अपने प्रवचनों में बार-बार दुहराया है कि आज ज्ञानी या पण्डितों की उतनी अपेक्षा नहीं है जितनी क्रियाशीलों की, कर्मठों की, करने वालों की। आज तो ऐसे व्यक्तियों की आवश्यकता है जो अहिंसा, सत्य आदि धार्मिक आदर्शों को अपने दैनन्दिन व्यवहार में संजोने वाले हों। आज ही क्या, सदा ऐसे लोगों की अपेक्षा रही है और रहती है। यही सच्ची धर्माराधना और धर्मानुशीलता है।

धर्म का विश्लेषण करते हुए आचार्य श्री ने कहा है—'धर्म का सत्य स्वरूप एक है। सम्प्रदाय, जाति या कौम उसे बाधित नहीं कर सकते। यह वर्गवाद के परकोटे से घिरा नहीं है। क्या हिन्दू, क्या मुसलमान, क्या हरिजन, क्या महाजन, क्या जैन व क्या अजैन, सब उसका परिपालन करने के अधिकारी हैं। धर्म का यथार्थ स्वरूप है—संयम, संयताचरण, जीवन-व्यवहार का नियमन, सम्मार्जन।'

आचार्य श्री ने अपने प्रवचनों के द्वारा कई बार शिक्षक एवं शिक्षार्थी वर्ग को सम्बोधित करते हुए विद्यार्थी-जीवन की महत्ता और शिक्षार्थियों के जीवन-निर्माण के प्रति शिक्षकों के दायित्व पर विशेष रूप से प्रकाश डाला है। उन्होंने इस बात पर घोर खेद व्यक्त किया है कि आज विद्या का भी सौदा किया जाने लगा है। विद्या का लक्ष्य अर्थोपार्जन मानना सर्वथा अनुचित है। इस सम्बन्ध में आचार्य श्री ने विद्यार्थी, अभिभावक एवं अध्यापकों से यह आह्वान किया है कि इस प्रकार बहिर्मुखी वृत्ति का वे परित्याग करें। विद्यार्थी वर्ग को इंगित करते हुए आचार्य श्री ने कहा है—'वे पुस्तकीय ज्ञान के अतिरिक्त उस सद्विवेक को भी अर्जित करने का सबल प्रयास करें, जो उन्हें

चरित्रशीलता, औदार्य आदि गुणों की ओर ले जाना है। विद्यार्थी तोड़-फोड़ व विध्वंसतामूलक कार्यों में भाग न लें। वे राजनैतिक संघर्षों एवं विप्लवों में अपनी शक्ति, प्रतिभा और समय का दुरुपयोग न करें।'

इसी प्रकार आचार्य श्री ने अन्य वर्गों से भी जीवन में संयम और सन्तोष की भावना अपनाने की अपेक्षा की है।

अणुव्रत-आन्दोलन के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण के रूप में आचार्य श्री ने बताया है—'अणुव्रत-आन्दोलन मानव के सुषुप्त विवेक को जाग्रत करने का आन्दोलन है। अहिंसा और सत्य पर आधारित जीवन-शुद्धि-मूलक प्रवृत्तियों को लोकव्यापी बनाने का आंदोलन है ताकि विषय-समस्याओं के भारी आघातों से क्षत-विक्षत मानव-सुख और शान्ति की साँस ले सके। अणुव्रत-आन्दोलन जीवन-शुद्धि का आन्दोलन है। यह एक सर्वसम्मत कार्यक्रम है। झूठा माप-तोल न करना, विश्वासघात न करना, रिश्वत न लेना, किसी को अस्पृश्य न मानना, व्यवहार में अप्रमाणिकता न बरतना, व्यभिचार में न पड़ना आदि जीवन-शुद्धि मूलक छोटे-छोटे नियमों का संकलन है। अणुव्रत-आन्दोलन यही करना चाहता है। यह एक ऐसे नये समाज को देखना चाहता है जो वैमनस्य के बदले सन्तोष, संघर्ष के बदले सत्य, अवैर, अहिंसा और छल के बदले विश्वास और लोलुपता के बदले संयनता से सजा हो।'

अणुव्रत-आन्दोलन एक नयी दृष्टि देता है। वह जीवन का उत्कर्ष सरलता, हल्केपन और निष्कपटता में देखता है। उसकी दृष्टि में वही ऊँचा और स्पृहणीय जीवन है जो अधिक से अधिक सन्तोषी, सरल और संयत है। जीवन के वास्तविक मूल्यांकन के लिये आवश्यकता इस बात की है कि सबसे पहले मनुष्य अपनी दृष्टि को माँजे, यथार्थ दर्शन की प्रवृत्ति उसमें आये, ताकि वह अपने लिये सही रास्ता पा सके और उस पर आगे बढ़कर जीवन को सच्चे विकास और प्रगति की ओर ले जा सके।

आचार्य श्री ने अपने प्रभावशाली प्रवचनों के द्वारा समाज के सभी वर्गों के अभ्युदय की सुनियोजित परिकल्पना प्रस्तुत की है। क्या वृद्ध---क्या बालक, क्या पुरुष---क्या महिलाएँ, क्या अमीर—क्या निर्धन, क्या छात्र—क्या छात्राएँ, कहने का तात्पर्य यह कि राष्ट्र के कर्णधारों से लेकर एक साधारण नागरिक के जीवन के उत्थान का लक्ष्य उन्होंने सामने रखा है।

पारिवारिक-प्रकरणवश आचार्य श्री ने कहा है—'अगर आप चाहते हैं कि हम सुखी बनें, हमारा परिवार सुखी बनें, तो बाहर भटकने की आवश्यकता नहीं है। वह तो आपके पास ही है। जहाँ कलह, ईर्ष्या, द्वेष, बेईमानी, अभिमान, परिग्रह है वहीं नर्क है। और जहाँ ये दुर्गुण नहीं वहीं स्वर्ग है।'

यदि यह वांछनीय है कि जागतिक-जीवन हिंसा के क्रूर आघातों से बचे, उसमें सचाई व्यापे, शोषण और अनाचार मिटे, धोखा, विश्वासघात और छल-प्रपंच के जाल का निरसन हो तो मानव को आचार्य श्री के प्रवचनों का नवनीत उसके अभिष्ट की सिद्धि में परम सहायक सिद्ध होगा।

यद्यपि यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि आचार्य श्री के मौखिक प्रवचनों से लाखों व्यक्तियों ने लाभार्जन किया है, किन्तु जिन बन्धुओं को प्रवचन - श्रवण का सुअवसर नहीं प्राप्त हुआ उनके निमित्त प्रस्तुत संग्रह परम उपयोगी होगा, ऐसा मेरा निश्चित विश्वास है।

१५, नूरमल लोहिया लेन,
कलकत्ता
२० अप्रैल, १९६०

श्रीचन्द रामपुरिया

प्रवचन-डायरी, १९५६

प्रवचन-डायरी, १९५७

प्रवचन-डायरी, १९५६

(आचार्य श्री तुलसी के जनवरी '५६ से दिसम्बर '५६ तक के प्रवचनों का संग्रह)

१ : त्याग के आदर्श की आवश्यकता

मनुष्य का जीवन ज्ञान-विज्ञान की एक बहुत बड़ी प्रयोगशाला है। इसमें इतने प्रयोग हुए हैं कि जिनका शतांश भी नहीं पकड़ा जा सकता। जितने व्यक्ति है, उतनी ही अभिरुचियाँ और जितनी अभिरुचियाँ हैं, उतने ही प्रयोग। यह एक बड़ी कहानी है। थोड़े में इनकी दो मुख्य धाराएँ रही हैं—शारीरिक और आत्मिक। शारीरिक प्रयोगों की चर्चा में यहाँ नहीं जाना है। आध्यात्मिक प्रयोगों के बारे में कुछ बताऊँ, ऐसा संकल्प है।

आत्मिक प्रयोगों की साध्य-भूमि है—अन्तरंग शुद्धि। इस पर चलने वाला अपने को अपनी भाषा में साधक बताता है। जनता की भाषा भी उसके लिए यही है। साधना भौतिक क्षेत्रों में भी जरूरी है; किन्तु वह क्षेत्र सीधा, सहज और स्वतः प्रिय है। इसलिए वहाँ साधना शब्द की प्रवृत्ति नहीं होती। अपनी खोज—दूसरे शब्दों में अपना नियंत्रण सहज होना चाहिए; किन्तु यह है नहीं। इसके लिए बड़े-बड़े प्रयत्न करने पड़ते हैं। यही कारण है कि इसके लिए 'साधना' शब्द का एकतन्त्र प्रयोग होता है। साधना का मार्ग टेढ़ा है, यह कहते ही आत्म-संयम की तस्वीर आँखों के सामने खिच जाती है।

साधना का क्षेत्र खुला है। उसका छोटा रूप अणु जितना है तो बड़ा रूप अखण्ड विश्व जितना। साधना का मुख्य मार्ग योग है। योग का अर्थ है जुड़ना। जो अपनी वृत्ति को आन्तरिक विशुद्धि से जोड़ ले, वही तो योगी है। इसी का नाम जीवन-मुक्त दशा है। जो जीता हुआ मुक्त है इसका अर्थ होगा कि वह निष्क्रिय नहीं है। वह जीवन चलाने की आवश्यक प्रवृत्तियाँ करता है, किन्तु उनमें अनासक्त रहता है। वह खाता है, किन्तु उसका खाना खाने के लिए नहीं, सिर्फ निर्वाह के लिए होता है।

अनासक्ति अपनी आत्मीय वृत्ति है। वह बाहरी उपकरणों से दबी रहती है। मनुष्य जानता ही नहीं, अच्छी तरह से जानता है कि सोना, चाँदी उससे भिन्न वस्तु है। फिर भी वह उनमें बँध जाता है। बँधता भी इतना है कि उनका संग्रह करते-करते वह तृप्ति का अनुभव भी नहीं करता। यही एक कारण है कि जिनमें अनासक्ति का भाव प्रबल हो जाता है, वे बाहरी उपकरणों का यानी धन-धान्य आदि जीवन-निर्वाह के साधनों का भी त्याग कर पूर्ण अकिंचनता की ओर कूच कर जाते हैं। यहाँ आकर साधना के क्षेत्र में दो रेखाएँ खिच जाती हैं—गृहस्थ साधक

और संयमी साधक। गृहस्थ के लिए अणुव्रत है, जिनका संगठित रूप अणुव्रती संघ के रूप में लोगों के सामने आ ही गया है। आज के युग में अणुव्रत-दीक्षा का भी कम महत्त्व नहीं है; महाव्रत-दीक्षा का तो है ही।

दीक्षा जीवन का महान् आदर्श है। चिरसंचित शुद्ध संस्कारों के बिना इस ओर मनुष्य का मन ही नहीं जाता। आज के भौतिक वातावरण में जहाँ चारों ओर वासनापूर्ति की होड़ लग रही है, वहाँ वासना को ठुकराने वालों की मनोवृत्ति कितनी ऊँची है, जरा ध्यान से देखिए। इच्छाओं और आवश्यकताओं को ज्यों-त्यों पूरा करना ही मनुष्य अपना लक्ष्य मान बैठा है। ऐसी हालत में इन सबको कुचल कर सुख-शान्ति में रहनेवाला यमी क्या शेष व्यक्तियों के लिए पथ-प्रदर्शक नहीं बनता? बनता है, वह अवश्य बनता है।

आज के अशान्त संसार को त्याग के आदर्श की सबसे अधिक आवश्यकता है। मनुष्य की अशान्ति का मूल कारण आकांक्षा की अ-सीमा है। जिस गति से महत्त्वाकांक्षा बढ़ रही है, आखिर वह कहां रुकेगी? अगर रुकेगी नहीं तो उसका परिणाम क्या होगा, यह प्रश्न क्यों नहीं उठता? कोई साम्राज्य-विस्तार का लिप्सु है तो कोई अपने अधिकारों को सार्वभौम बनाने की लगन में है। कोई धन के बल पर, कोई सत्ता के बल पर, कोई शस्त्रास्त्र के बल पर, तो कोई कूटनीति के बल पर दूसरों पर हावी होने की बात सोच रहा है। दुनिया अपने अधिकारों को अपने तक ही सीमित रखने में ही सन्तोष नहीं मान रही है यही अशान्ति का बीज है। दीक्षा का आदर्श है—"अपने आप में रमण करना"। क्या ही अच्छा हो आज का संसार इस आदर्श को मानता चले।

अशान्ति से झुलसते हुए संसार को आज सबसे अधिक शान्ति की प्यास है। सुख गरीब, मजदूर, शोषित और शासित को नहीं है तो शान्ति अमीर, मालिक, शासक और शोषक को भी नहीं है यानी किसी को भी नहीं है। भौतिक सुख का मार्ग सामाजिक व्यवस्था की उलट-पुलट से शायद मिल भी जाये किन्तु शान्ति का मार्ग आध्यात्मिक जागृति के सिवा दूसरा कोई है ही नहीं। दीक्षा उसका एक उत्कृष्ट रूप है—राजपथ है। सामान्य जीवन में उससे प्रेरणा मिलती है। देखिए वह जीवन कितना पवित्र जीवन है जिसमें अमीरी नहीं, गरीबी नहीं, मजदूर-मालिक, शासक-शासित आदि का कोई भाव नहीं। दीक्षा का छाया चित्र भी जनता के मानस-पट पर खिंचा रहे तो निश्चय ही स्वार्थ की टक्करें, पद-प्रतिष्ठा की भूख, नाम और बड़प्पन की लालसा, अधिकार और सत्ता की लार, शोषण और संग्रह का [illegible] तथा कूटनीति का उन्माद दूर हो जाय; और विश्व फिर एक बार शान्ति [illegible]र सांस ले सके।

२ : जैन-दीक्षा

जैन-दीक्षा का विषय गंभीर है। पाठक ध्यान पूर्वक पढ़ेंगे और आशा है कि मनन करेंगे। इस पर मैं आगम, युक्ति एवं अनुभव के आधार पर प्रकाश डालूंगा। मैं मानता हूँ, इस विषय में मतैक्य नहीं है। "मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना" वाली जनश्रुति के अनुसार हम जानते हैं कि सब के विचार एक से नहीं होते। लेखक का काम अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करना है।

विषय प्रवेश

आज के युग में दो धाराएँ बह रही हैं। पहली आध्यात्मवाद की और दूसरी भूत-चैतन्यवाद की, जिसको पुराने दार्शनिक नास्तिकवाद कहा करते थे। इस दूसरी विचारधारा में आत्मा नाम की कोई वस्तु नहीं। भूत-सम्मिश्रण से चैतन्यशक्ति पैदा होती है और भूत-विकृति से वह नष्ट हो जाती है। ऐहिक सुख की प्राप्ति उनका लक्ष्य है। आज की दुनिया में इस दृष्टिकोण के व्यक्ति सम्भवतः बहुत मिलेंगे। पहली विचारधारा है आत्म-वादी। उसका लक्ष्य है—आत्म-दर्शन, दूसरे शब्दों में मोक्षप्राप्ति। प्रायः भारतीय दर्शनों में इसकी प्रमुखता रही है। आत्मदर्शन की प्रेरणा से ही दर्शन चले हैं और उन्होंने इस विषय में काफी छान-बीन की है। अस्तु।

अब जो भूत चैतन्यवादी हैं, उनसे मुझे कुछ भी नहीं कहना है। क्योंकि "ग्रामो नास्ति कुतः सीमा"। जिन्हें आत्मा, कर्म और मोक्ष पर ही विश्वास नहीं, उनके लिए दीक्षा कैसी? आस्तिकों के लिए दीक्षा एक तथ्य है। उनमें आत्म-दर्शन की भावना होती है। उसके लिए जिस साधन की आवश्यकता होती है, उसी का नाम दीक्षा है। आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा है: "दीक्षा तु व्रतसंग्रहः" व्रतों का जीवन में उतारना ही दीक्षा है। दीक्षा से जीवन विषम नहीं बनता, सम होता है। लोग यह सन्देह करते होंगे कि दीक्षित व्यक्ति कैसे रहते होंगे, किस प्रकार जीवन-यापन करते होंगे? किन्तु ऐसी कोई बात नहीं। वे इसी दुनिया में रहते हैं—जन-सम्पर्क में जीवन-यापन करते हैं। उनके दिल और दिमाग में जितनी शान्ति रहती है, उतनी शान्ति सम्राटों में भी नहीं रहती।

दीक्षा का स्वरूप

अभी मैंने दीक्षा का शब्दार्थ मात्र बताया है, किन्तु इतने से काम नहीं चलता। किसी भी विषय की पूरी जानकारी के लिए उसके अन्दर घुसना

होता है—प्रत्येक पहलू में परख करनी होती है। दीक्षा का भावार्थ बताते हुए भगवान् महावीर ने कहा है :

अहिंस सच्चं च अतेणगं च, ततो य बंभं अपरिग्गहं च।
पडिवज्जिया पंचमहव्वयाइं, चरेज्ज धम्मं जिणदेसियं विउ ॥

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पांच महाव्रत हैं। इनका पालन करने वाला ही साधु या दीक्षित कहलाता है।

दीक्षा-ग्रहण के कारण

दीक्षा ग्रहण के दो कारण हैं—नैसर्गिक रुचि और उपदेशजन्य विरक्ति। कई व्यक्तियों को विरक्तिपूर्ण वातावरण में रहने का खास अवसर नहीं मिलता, फिर भी उनमें नैसर्गिक जागरण पैदा हो जाता है और वे दीक्षित बन जाते हैं। आकस्मिक घटनाएं भी कई व्यक्तियों के हृदय-परिवर्तन का कारण बनती हैं। आकस्मिक मृत्यु, कष्ट आदि कारणों से भी मनुष्य को संसार की नश्वरता का बोध होता है और उससे विरक्ति की भावना प्रबुद्ध हो उठती है। उपदेशजन्य विरक्ति तो दीक्षा का प्रमुख कारण है ही। यदि उपदेश के कारण विरक्ति न बढ़े, चरित्र-शुद्धि की भावना जाग्रत न हो, तब फिर उसे सुनने का अर्थ ही क्या? श्रोता क्यों उपदेश सुने और उपदेष्टा क्यों उपदेश दे? भगवान् महावीर की शिक्षावाणी है—"समयं गोयम मा पमायए"—एक क्षण भी प्रमाद मत करो, जीवन का प्रत्येक पल अप्रमादी अवस्था में बिताओ।

दीक्षा का समय

(क) जैन सिद्धान्तानुसार दीक्षा कब लेनी चाहिए? इसका निर्णय मैं सबसे पहले जैन-सिद्धान्त के आधार पर करूंगा, क्योंकि जब दीक्षा-ग्रहण या पालन उसी के आधार पर होता है, तब हम उसके निर्णय को कमजोर क्यों समझें? व्यक्ति-व्यक्ति की सूझ अपने दिमाग की सूझ है, वह क्षणिक है, बदलती रहती है। सिद्धान्त आप्त-वचन हैं। उनमें क्षणिकता नहीं होती; स्थायित्व होता है। कोई शक नहीं, वीतराग और साधारण व्यक्तियों की सूझ में महान् अन्तर होता है। साधारण व्यक्तियों में कई तरह के स्वार्थ छिपे हुए होते हैं। इस दशा में वीतराग सर्वथा निःस्वार्थ होते हैं। जैन-सिद्धान्तानुसार आठ वर्ष के बच्चे को दीक्षा लेने का अधिकार प्राप्त है। कुछ अधिक आठ वर्ष की अवस्था में केवल ज्ञान प्राप्त हो सकता है। जैनी मात्र इस विषय में एकमत हैं। प्रश्न हो सकता है कि

आज फिर आठ वर्ष वाले बालक केवल ज्ञानी क्यों नहीं बनते? इसका समाधान यही है कि आज उसके योग्य सामग्री का अभाव है। तद्योग्य संहनन आदि नहीं है। यही तो कारण है कि वर्तमान में ६ तो क्या १०० वर्ष का व्यक्ति भी केवली नहीं बनता। जिन्हें भगवान् महावीर के वचनों पर आस्था है उनके लिए आगम-प्रमाण काफी है।

(ख) वैदिक-परम्परा में—अब मुझे वैदिक सिद्धान्तों पर भी कुछ प्रकाश डालना है। वैदिक परम्परा में चार आश्रमों की व्यवस्था है। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास—ये चार आश्रम हैं। इनमें से प्रत्येक का कालमान २५–२५ वर्षों का है। इसके अनुसार दीक्षा का अवसर ७५ वर्ष के बाद आता है, किन्तु थोड़ी-सी गहराई में जायँ तो बात ऐसी नहीं। यह साधारण नियम है। विशेष नियम यह है कि—"यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत् ब्रह्मचर्याद्वा गृहाद्वा वनाद्वा" जिस दिन विरक्ति हो, उसी दिन संन्यास ले। विरक्ति के बाद आश्रम-नियम लागू नहीं होता। अंगिरा ने लिखा है:

प्रव्रजेद् ब्रह्मचर्याद् वा, प्रव्रजेद् वा गृहादपि।
वनाद्वा प्रव्रजेद् विद्वान्. . . . .॥

अर्थात् ब्रह्मचर्य में संन्यास लें, गृहस्थ में भी संन्यास ले, वन में भी संन्यास ले। चतुर्थ आश्रम का नियम सर्वसाधारण के लिए था। जो पहले विरक्त न हों, वे भी कम से कम ७५ वर्ष की अवस्था में तो विरक्त बनें, संन्यास धारण करें। यही उस नियम का अर्थ था।

(ग) मनोवैज्ञानिकों की दृष्टि में—आगम निर्णय करने के बाद हम वैज्ञानिकों के दृष्टिकोण पर भी जरा विचार कर लें, क्योंकि यह युग वैज्ञानिक युग है। वैज्ञानिकों के अन्वेषण बहुमुखी हैं। उन्होंने भारतीय ग्रन्थों का मूल्यांकन किया है। कितने आनन्द का विषय है कि उनका दृष्टिकोण संकुचित नहीं है। मनोविज्ञान भी विज्ञान की एक शाखा है। मानस-शास्त्र के आचार्यों ने जीवन-परिवर्तन की दो अवस्थाएँ बतलाई हैं ११–१२ या २०–२१। इनमें जीवन-प्रवाह बदलता है। भोग या त्याग की ओर जीवन मुड़ता है। अब आप देखिए, इसमें और जैन-सिद्धान्त के निर्णय में कितना कम अन्तर है।

आग्रह छोड़ो

बालक को ही दीक्षा दी जाय मेरा ऐसा आग्रह न तो है और न था और सम्भवतः आगे भी न होगा। यह भी आग्रह नहीं कि १६ वर्ष या २१ वर्ष से कम आयुवाले को दीक्षा न दी जाय। लोगों में भी आग्रह नहीं होना चाहिए। आग्रह हठधर्मिता है। उसमें तत्त्वातत्त्व का भान नहीं रहता।

आग्रही बत निनीषति युक्तिं तत्र-यत्र मतिरस्य निविष्टा

आग्रही वही युक्ति खोजता है, जहाँ उसकी बुद्धि का अभिनिवेश होता है, इसलिए आग्रह रखना उचित नहीं।

एकमात्र हल

दीक्षा योग्य व्यक्ति को देनी चाहिए। अयोग्य दीक्षा का मैं स्वयं कट्टर विरोधी हूँ। उसके विरोध में मैं क्रान्ति करने को तैयार हूँ, किन्तु मैं यह मानने को बाध्य नहीं हूँ कि बालक योग्य हो ही नहीं सकता। बालक अनुचित से अनुचित काम करता है तब क्या कोई बालक सन्मार्ग की ओर प्रवृत्त नहीं हो सकता। मैं मानता हूँ कि बुरे मार्ग में जाना सहज है, सुगम है किन्तु हजारों बालकों में से दो चार बालक भी अच्छाई में प्रवृत्त नहीं हो सकते, यह बात युक्ति की कसौटी पर नहीं टिकती। किसी पहले ज़माने में बालक योग्य होंगे, आज तो नहीं, यह तर्क लचीला तर्क है। आज के बालक अयोग्य होते हैं, तो योग्य क्यों नहीं हो सकते? १२ वर्ष से अधिक आयु वाले बालक को उसके अपराध के लिए सजा दी जाती है। इसका कारण यही है कि वह सोच-समझ कर अपराध करता है। बालक में यदि सोच-समझ पूर्वक कार्य करने की शक्ति न होती, तो विधान-विशेषज्ञ उनके लिए दण्ड का विधान नहीं करते। अनुचित काम करने के लिए बालक में समझ आ सकती है तब फिर उचित काम करने के लिए क्यों नहीं?

राज-सत्ता की ओर मत देखो

विशुद्ध धार्मिक कार्य-कलापों में राजकीय हस्तक्षेप को मैं सर्वथा अनुचित मानता हूँ। आज कई लोग राज-सत्ता द्वारा दीक्षा-विरोध कराने की बात सोच रहे हैं। कल वे मुखवस्त्रिका पर नियंत्रण लगाना चाहेंगे, परसों कुछ और!! और थोड़ा आगे चलकर तो वे यही चाहेंगे कि ज्यों-त्यों धर्म यहाँ से विदा हो जाय। धार्मिक लोग इस अनुचित गड्डरी प्रवाह का सत्य और अहिंसा के बल पर सामना करेंगे। स्वतन्त्रता के युग में बाल-दीक्षा पर प्रतिबन्ध लगाना बालकों की स्वतन्त्रता पर प्रहार करना है। उनको सर्वथा अयोग्य करार देना है। स्वतन्त्रता-संग्राम में जाने कितने बालक गोलियों की बौछार में सीना ताने खड़े हुए थे। बालकों में आत्म-बल होता है, सोचने-समझने की क्षमता होती है। सब बालक एक से नहीं होते।

अनुभव

अनुभव प्रमाण सब प्रमाणों से पुष्ट होता है। विक्रम सं० १९८२ से लेकर आज तक का मेरा जो अनुभव है उसके आधार पर मैं कह सकता

हूं कि योग्य बाल-दीक्षा में कोई बुराई नहीं है। बालदीक्षित साधुओं ने संस्था और समाज का नैतिक धरातल जितना ऊँचा किया है, उतना वयस्क दीक्षितों ने सम्भवतः नहीं किया। बाल-जीवन में जितने अच्छे संस्कार बनते हैं, उतने अवस्था पकने पर नहीं बनते। मैं औरों को क्यों देखूं, स्वयं को ही देखूंगा। यदि मैं ११ वर्ष की अवस्था में पूज्यपाद श्री कालूगणी के चरणकमलों में न आता, ११ वर्ष तक उनकी सेवा न कर पाता तो सम्भवतः आज जन-कल्याण में मैं इतना योग-दान नहीं दे सकता। दूसरी धर्म-संस्थाओं की ओर देखें तो उनमें भी बाल-दीक्षा के उदाहरण कम नहीं मिलते।

आचार्य हेमचन्द्र, वादिदेव सूरि, अभयदेव सूरि आदि बड़े-बड़े समर्थ विद्वान् बालपन में ही दीक्षित हुए थे। इनकी साहित्य-साधना से दर्शन का भण्डार आज भी समृद्ध है। हेमचन्द्राचार्य को अपनी प्रतिभा के कारण कलिकाल सर्वज्ञ की उपाधि प्राप्त थी। वादिदेव सूरि ने जैन-न्याय का काफी गौरव बढ़ाया। 'प्रमाणनयतत्त्वालोक' पर स्वोपज्ञ टीका रची जिसका श्लोकानुपात ८४ हजार का कहा जाता है। अभयदेव सूरि १६ वर्ष की अवस्था में आचार्य बने। उन्होंने नव अङ्गों की टीकाएँ कीं। पूर्ववर्ती इतिहास को पलटें तो उदाहरणों की कोई कमी नहीं। जम्बूस्वामी जैसा विचित्र उदाहरण हमारी जैन परम्परा में विद्यमान है। वैदिक परम्परा में ध्रुव, प्रह्लाद और शंकराचार्य के अतिरिक्त और भी बाल-संन्यास के अनेक प्रमाण सम्भवतः खोज करने पर मिल सकेंगे। पण्डित टोडरमल जी ने १२ वर्ष की अवस्था में कई ग्रंथों की टीकाएँ बनाई। बालक की बुद्धि का विकास नहीं होता, यह एकान्त रूप से कैसे माना जाय?

अपनी बात

मैं आपको अपनी स्थिति बतलाऊँ। तेरापंथ शासन में यहाँ ९ आचार्यों में से आठ आचार्य बाल-दीक्षित हुए। उनकी पावन कृतियों से तेरापन्थ का भाल चिर उज्ज्वल है। गौरव की बात नहीं, वस्तुस्थिति समझें। आज भी मेरे बाल-दीक्षित साधु एवं साध्वियाँ जिस प्रगति के पथ पर अग्रसर हैं, उसे देख कर मुझे अपार आनन्द है। इनकी साहित्य-साधना और पारमार्थिक जन-सेवा सबके लिए गौरव की वस्तु है।

विरोधी शंकाएँ

बाल-दीक्षा के विरोध में जो शंकाएँ उपस्थित की जाती हैं, उन्हें भी मैं छिपाना नहीं चाहता। विरोध को छिपाने का अर्थ होता है कायरता या कमजोरी। पहली शंका यह है कि बालक के विचार अपरिपक्व होते

हैं। वह अपने भविष्य का उचित निर्णय नहीं कर सकता। इसका उत्तर यही है कि यह नियम सबके लिए नहीं। बहुत से १५ वर्ष के बालक परिपक्व मिलते हैं और तीस वर्ष के युवा अपरिपक्व। दीक्षा उसी बालक को दी जानी चाहिए, जिसके संस्कार परिपक्व हों। दूसरी शंका—दीक्षित जब व्रतच्युत हो जाता है, तब समाज में उसका कोई स्थान नहीं होता। यह एक अनोखी शंका है। समाज-व्यवस्था नाम की आज कोई चीज है क्या? सब अपनी-अपनी इच्छानुसार राग अलापते हैं। बहुत से निकले हुए आज भी समाज में रह रहे हैं। हमारा इससे कोई सम्बन्ध नहीं। तीसरी शंका—बालक दीक्षित होकर युवा होता है, तब विकारों से भर जाता है, साधुत्व से च्युत हो जाता है और समाज का अनिष्ट करता है। यह बात भी तथ्यहीन है। क्या युवा दीक्षित कभी विचलित नहीं होते? बहुत से संघ से पृथक् हुए व्यक्ति समाज में अपना जीवन बिता रहे हैं। भविष्य की आशंका से दीक्षा रोकी जाय, यह कोई तर्क नहीं। सोमप्रभ सूरि ने कहा है "**दोषभयान्न कार्यारम्भः कापुरुषाणाम्**", "**मृगाः सन्तीति किं कृषिः न क्रियते**", "**अजीर्णभयात् किं भोजनं परित्यज्यते**", **स कोऽपीहाभूदस्ति भविष्यति वा यस्य कार्यारम्भेषु प्रत्यवाया न भवन्ति**" अर्थात् दोष की आशंका से कार्य शुरू न करने वाले शक्तिहीन होते हैं। हिरणों के भय से क्या खेती न की जाय? अजीर्ण के भय से क्या भोजन करना छोड़ दिया जाय? ऐसा कौन है या होगा, जिसके कार्य-कलाप में विघ्न न होते हों? उक्त लचीले तर्कों को लेकर आत्म-शुद्धि का मार्ग रोका नहीं जा सकता।

तेरापंथ की दीक्षा-प्रणाली

आचार्य श्रीभिक्षु ने पहले ही यह मर्यादा निश्चित कर दी थी कि कोई भी साधु अपना शिष्य नहीं बना सकता। शिष्य-शाखा की समाप्ति से शिष्य-लोलुपता अपने आप समाप्त हो गई। आचार्य की अनुमति के बिना कोई दीक्षा नहीं दे सकता, इसलिए अयोग्य की दीक्षा की कोई सम्भावना ही नहीं रहती। आचार्य भी पूर्ण परीक्षा के बाद दीक्षा देते हैं। परीक्षा में कई तो नाबालिग से बालिग बन जाते हैं। मैं बहुत घबराता हूँ कि कहीं कोई अयोग्य न आ जाय, क्योंकि एक ही अयोग्य के आने से साधु संस्था में एक प्रकार की गड़बड़ी पैदा हो सकती है। मैं अयोग्य दीक्षा देना नहीं चाहता। उसका घोर विरोधी हूँ। बाल-दीक्षित साधु-साध्वियों की कृतियों तथा उनके दीक्षा-परिणाम को देखकर बाल-दीक्षा के प्रति मेरी श्रद्धा बढ़ी है।

लोग गौरव न समझें, साधु-साध्वियों की जैसी प्रगति चालू है, यदि वैसी रही तो मेरा अनुमान है कि मैं दुनिया को कुछ कर दिखलाऊँगा। जनता विश्वास

सके—अयोग्य दीक्षा न तो पहले हुई, और न होती है और न होगी। योग्य दीक्षा पहले हुई, होती है और होगी। हाँ, इसमें कोई समझाने जैसी बात हो, तो लोग मुझे समझा दें और यदि समझने जैसी हो तो मुझसे समझ लें। योग्य दीक्षा कल्याणकारी है—निःसन्देह हितप्रद है।

३ : अपनी वृत्तियों को संयमित बनाइए

यदि आपको जीवन की विशृङ्खलता को मिटाना है, उसे व्यवस्थित, नियमित और शान्तिमय बनाना है तो अपनी वृत्तियों को संयमित बनाइए, स्वार्थपरता और लोभवृत्ति को छोड़ जीवन के यथार्थ को समझिए, सन्तोष और अपरिग्रह के आदर्शों को जीवनव्यापी बनाने के लिए कटिबद्ध बनिये। हर व्यक्ति पूर्णरूपेण इन आदर्शों के अनुरूप जीवन-चर्या को मोड़ सके, यह कठिन है पर मनोवृत्ति यह रहे कि उन्हें अपने जीवन को अधिक से अधिक संयमित और सादगीमय बनाना है। अणुव्रत आन्दोलन और कुछ नहीं केवल यही करना चाहता है। वह स्वार्थपरता, अर्थ-लोलुपता और असन्तोष-वृत्ति का उन्मूलन करना चाहता है ताकि आज का असन्तुलित, अस्त-व्यस्त और डांवाडोल जीवन सन्तुलन, स्थिरता और स्वनिष्ठा पा सके। यही अणुव्रत आन्दोलन के गठन का मूल हेतु है। व्रतगत नियमों का संचालन इसी दृष्टि से किया गया है कि वे जीवन-व्यवहार पर सीधा प्रभाव डाल सकें; क्योंकि आदर्श जब तक जीवन-वृत्ति में स्थान न पाकर केवल कथन-मात्र ही रहें तब तक उनका क्या उपयोग? सही उपयोगिता उनकी तभी है, जबकि जीवन-व्यवहार में उनका सक्रिय परिपालन हो। अणुव्रत आन्दोलन लोक-जीवन में आदर्शों की व्याप्ति देखना चाहता है। इसीलिए उसका गठन वर्तमानयुगीन बुराइयों पर सीधी चोट की जा सके, इस दृष्टि-बिन्दु को लेकर हुआ है। लोग उसे देखें, समझें, जीवन-व्यवहार में संजोयें।

पेटलावद
१ जनवरी '५६

४ : व्यापारी वर्ग से

आज समाज के किसी भी वर्ग को देखें, उसमें अनैतिकता, अनाचरण और स्वार्थ-वृत्ति इस कदर घर करती जा रही है कि इनके अतिरिक्त न्याय और सदाचरण का पथ उन्हें सूझता तक नहीं। व्यापारी समाज तो इन असद्वृत्तियों से अधिक ग्रसित है, यह आम धारणा है। स्थिति यह बन

गई है कि सिवा पैसे बटोरने के उन्हें कुछ सूझता तक नहीं। भारत की एक समय सारे विश्व पर छाप थी कि यहाँ के व्यापारी प्रामाणिक और ईमानदार होते हैं; पर आज स्थिति इसके सर्वथा विपरीत है। सचमुच यह बड़े दुःख का विषय है। व्यापारी बन्धुओं का यह कर्तव्य है कि वे अपने जीवन में आमूलचूल परिवर्तन लाते हुए यह साबित कर दें कि भारत के उज्ज्वल अतीत के प्रतिकूल वे जानेवाले नहीं हैं। भारतीय संस्कृति की विरासत में प्राप्त प्रामाणिकता और सत्यानुशीलन के सक्रिय अनुगामी वे हैं। इसके लिए उन्हें भौतिक स्वार्थों और अर्थ से मुँह मोड़ना होगा।

मैं जब यह सुनता हूँ कि जैन धर्मानुयायियों के दैनिक व्यवहार की लोग निन्दा और कटु आलोचना करते हैं, तो मुझे बड़ा खेद होता है। यदि उनकी जीवन-चर्या भगवान् महावीर के बताये आदर्शों के अनुरूप हो तो ऐसा क्यों बने? जैनधर्म संयम, त्याग, अपरिग्रह और सन्तोषप्रधान है। पर इन सिद्धान्तों की मूल आत्मा से तथाकथित जैन प्रतिकूल जा रहे हैं। ऐसा नहीं होना चाहिए, यह अनुचित है। जहाँ एक ओर जैन-मुनियों के अत्यन्त त्यागनिष्ठ, अपरिग्रहमय जीवन की उज्ज्वल मिसाल लोगों के समक्ष है, वहाँ दूसरी ओर जैन कहलाने वाले कितनी विलासिता और अर्थ-लोलुपता में अपने को फँसाये रखते हैं यह धूमिल मिसाल भी अप्रकट नहीं है। यह कितना विपरीतपन और अनौचित्य है। एक समय था कि प्रामाणिकता और ईमानदारी के क्षेत्रों में जैनों की एक साख थी। मैं जैन भाइयों से कहूँगा कि वे अपने निर्मल चरित्र से उस खोई हुई साख को पुनः प्राप्त करें।

जीवन की सार्थकता धन, वैभव और मालमत्ता की पर्वतराशियाँ खड़ी कर लेने में नहीं है, वह तो उज्ज्वल आचरण, सात्विक वृत्ति और निश्छल व्यवहार में है। व्यापारी उसे अपनायेंगे, ऐसी आशा है।

रतलाम
७ जनवरी '५६

५ : अन्तर-जागृति का आन्दोलन

अणुव्रतों के आदर्श विश्वजनीन आदर्श हैं, शाश्वत और सनातन आदर्श हैं। अणुव्रत आन्दोलन उन आदर्शों को व्यावहारिक जीवन में देखना चाहता है। आदर्श केवल ग्रन्थ और वाणी में न रहकर जन-जन के व्यवहार में आएँ, रोजमर्रा की जिन्दगी में उनका संचार हो, इस वृत्ति को जगाना अणुव्रत आन्दोलन का अभिप्रेत है। व्रतगत नियमों व उपनियमों का गठन इसका स्पष्ट परिचायक है।

अनीति, अनाचार, असत्य और असद् व्यवहार जैसे अमानुषिक कृत्यों से जर्जरित मानव-जीवन के लिए अणुव्रत-आन्दोलन वह शीतल प्रलेप है, जो उसे सही शान्ति देता है। अनीति के बदले नीति, अनाचार के बदले सदाचार, यह असत्य के बदले सत्य और असद् व्यवहार के बदले सद्व्यवहार की प्रतिष्ठा करता है। यह अन्तर-जागृति का आन्दोलन है।

रतलाम
८ जनवरी '५६

६ : अमोघ औषधि

भारत सदा से ज्ञान-विज्ञान और विद्या-परम्परा का महान् धनी रहा है। विद्या के अन्यान्य अङ्गोपाङ्गों की तरह स्मरण-शक्ति की विशद साधना का भी यहाँ गम्भीर अभ्यास चलता रहा है। ये भारतीय संस्कृति के वे अमर तत्त्व हैं, जो उसे सदा सुशोभित और अलंकृत करते रहेंगे। यद्यपि संस्कृति की अमल धारा आज विकास नहीं प्रत्युत् ह्रास की ओर प्रवहशील है तथापि मैं इतना अवश्य कहूँगा कि वह सांस्कृतिक चेतना मरी नहीं है, मूर्च्छित है।

जीवन सही जीवन तब है, जबकि उसमें बुराइयों से अलगाव तथा भलाइयों से लगाव हो। वह तथाकथित नागरिक जो असत्य, धोखा, दम्भ, अविश्वास और अनैतिकता से बचने का आत्मबल नहीं रखता, वह कैसा नागरिक है! क्योंकि नागरिकता की कसौटी प्रामाणिकता, सच्चाई और ईमानदारी है, बाहरी आडम्बर और दिखावा नहीं। अणुव्रत आन्दोलन नागरिक जीवन में स्फूर्ति और शुचिता भरने का एक सफल साधन है। दूसरे शब्दों में मैं कहूँ तो यह व्यक्ति के नैतिक रोगों की अमोघ औषधि है। सच्चाई और सदाचार की ओर ले जाने का यह पावन राजपथ है। मैं चाहूँगा, नागरिक इसे समझें, जीवन में उतारें। यदि उन्होंने ऐसा किया तो वे एक नया बल, नयी प्रेरणा और नया प्रकाश पायेंगे।

रतलाम
९ जनवरी '५६

७ : व्रत या प्रतिज्ञा का बल

बुराइयों की गहरी तह जिस पर चिपकी हुई है, ऐसे प्रत्येक आदमी में यह क्षमता नहीं होती कि एकाएक उन्हें पूर्णतया छोड़ भलाई, न्याय और

सदाचरण का आराधक वह बन जाये। वह जीवन में बुराइयों पर क्रमशः रोक लगा सकता है। यही तो अणुव्रत परम्परा है। पतन के गड्ढे में गिरते मानव को बचाये रखने का यह सफल प्रकार है। व्रत या प्रतिज्ञा के रूप में किया हुआ दृढ़ संकल्प अपना एक विशेष बल और ओज रखता है। अणुव्रत-आन्दोलन अहिंसा, सत्य आदि व्रतों का व्यवहारोपयोगी संस्करण है। जिन बुराइयों अथवा विपरीत वृत्तियों में नागरिक जीवन विशृंखलित होता जा रहा है, उन बुराइयों पर यह सीधा प्रहार करता है। एक शराबी एक साथ शराब का सम्पूर्ण परित्याग कर डाले, यह उसके लिए कठिन है। पर इतना से अधिक वह उसका उपयोग नहीं करेगा ऐसी मर्यादा करना उसके लिए दुष्कर नहीं। अणुव्रत-आन्दोलन इसी क्रमिक विकास का प्रतीक है। यह उन्नति की ओर ले जाने का प्रथम सोपान है। आंशिक मर्यादा में बँधनेवाला व्यक्ति आगे चल कर सहारा देगा, शक्ति देगा।

रतलाम
९ जनवरी '५६

८ : भारतीय दर्शनों का सार

जहाँ विश्व के अधिकांश अन्यान्य दर्शनों ने जीवन के बाह्य पक्ष को देखा, वहाँ भारतीय दर्शनों का स्रोत अन्तरतम का परिदर्शक रहा है। भौतिक अभिसिद्धियाँ यहाँ जीवन का चरम लक्ष्य नहीं बन सकीं। यही कारण है कि आध्यात्म विकास की उच्चतम पराकाष्ठा हस्तगत करने की तरह भौतिक अन्वेषण में भी उतने ही बड़े-बड़े भारतीय तत्त्व-द्रष्टा भौतिकवादी उग्र शक्तियों का प्रयोग कर जगत् में विनाश का ताण्डव मचाना नहीं चाहते थे। जैन वाङ्मय में अनेकानेक भौतिक अभिसिद्धियों के विवरण के बीच तेजोलब्धि का विवेचन हमें मिलता है; उष्ण परमाणुओं के सघन संग्रह का एक वैज्ञानिक प्रकार तेजोलब्धि है। तेजोलब्धि-प्राप्त साधक यदि उसका प्रयोग करे तो वह सोलह देशों को भस्मसात् कर सकता है। पर नहीं, उसके लिए ऐसा करने में कठोर निरोध और निषेध है, तेजोलब्धि का प्रयोग साधुता सम्मत नहीं है। ऐसा क्यों? इसीलिए कि शक्ति का प्रयोग हिंसा और विनाश में नहीं होना चाहिए। भारतीय दर्शन निर्माण और सृजन का दर्शन है, विध्वंस का नहीं। वह लोक-जीवन को एक ऐसी निर्मिति में ढालना चाहता है जो सत्य, शौच, सदाचरण की निर्मिति है। यदि एक शब्द में कहूँ तो वह "संयम" की निर्मिति है।

भारतीय दर्शन ज्ञान और आचरण के समन्वय का दर्शन है। उसका

निचोड़ है—सत्य को जानो, सत्य का ज्ञान में साक्षात्कार करो, अपने जीवन में उसे ढालो, तदनुरूप क्रियाशील बनो। तत्त्वों को समझा, उनका गहरा परिशीलन किया पर यदि जीवन उनके अनुरूप नहीं बना, तब उस समझ तथा परिशीलन ने जीवन में क्या ठोस चीज दी? अतएव भगवान् महावीर ने जीवन के परम लक्ष्य मोक्ष की विवेचना में "ज्ञान क्रियाभ्यां मोक्षः" "ज्ञान और क्रिया से मोक्ष प्राप्त होता है", के रूप में दोनों की अनिवार्यता का निरूपण किया है। भगवान् महावीर जीवन विकास को ज्ञान, विज्ञान और संयम के रूप में देखते हैं, जिसका फल है—अनास्रव अर्थात् कर्म-बन्ध का निरोध और साथ-साथ पूर्व संचित कर्माणुओं का निर्जरण भी चलना है। इस प्रकार आत्मा कर्म रूप विजातीय तत्त्वों से विमुक्त बन अपने शुद्ध स्वरूप में अधिष्ठित होती है। दूसरे शब्दों में कहें तो आत्मा, परमात्म-स्वरूप बन जाती है। यह है जीवन-विकास का व्यवस्थित क्रम।

भारतीय तत्त्व-चिन्तन जीवन के हर पहलू को संयमित और नियमित देखना चाहता है। वह संकीर्णता या संकुचितता से दूर जीवन-शुद्धि का एक शाश्वत और सनातन पथ देता है। मैं चाहूँगा कि लोग उसे यथावत् समझ जीवन को दर्शन के निगूढ़ तत्त्वों का प्रयोगात्मक प्रतीक बनायें। इसी में दर्शन के परिशीलन की सार्थकता है।

रतलाम
१० जनवरी '५६

६ : मानवता का मापदण्ड

मैं बीस वर्ष की लम्बी अवधि के बाद जावरा आया हूँ, तब और अब में कितना परिवर्तन आ गया है? तब के बालक आज युवक बन गये हैं, युवक प्रौढ़ता पा चुके हैं और भी न जाने क्या-क्या हुआ है। यही तो संसार है; निरन्तर बदलने वाला, अनेक रूप लेने वाला! संसार में मनुष्य आता है, चला जाता है, उसकी भलाई और बुराई के सिवा उसका बचा क्या रहता है, कुछ भी तो नहीं। इतना ही क्यों, वर्तमान जीवन में भी मानव की मानवता का मापदण्ड भलाई और बुराई ही तो है। यदि मानव भलाइयों में पगा है, तो वह वास्तव में मानव है, सच्चा मानव है; और यदि बुराइयों से उसका जीवन जर्जरित है तो मूर्तिमान पशुत्व के अतिरिक्त उसमें है क्या? मानव मानवता से परे न हो, मानवोचित गुणों को वह तिलांजलि न दे बैठे इसके लिए हमारे देश के ज्ञानी, तपस्वी, सन्त लोगों को धर्म की सदा प्रेरणा देते रहे हैं। धर्म ही तो वह साधन है, जो जीवन को

शुद्धि की ओर ले जाता है। जीवन को विकारों और बुराइयों से बचाकर भलाई की ओर ले जाना धर्म का अभिप्रेत है। यदि वह उससे नहीं बन पड़ता है तो वह कैसी धर्म की विडम्बना है। धर्म, संकीर्णता और ओछी मनोवृत्ति से दूर व्यापक, विशाल, उदार और असंकीर्ण भावना का प्रतीक है। अहिंसा और सत्य उसकी आत्मा है। जीवन-व्यवहार की परिष्कृति उसकी आभा है। ऐसा न कर धर्म को स्थितिपालकता और स्वार्थपोषकता के दलदल में जो डुबोये रखते हैं, वे धर्म के नाम पर अधर्म के परिपोषक हैं। ऐसा कर वे अपने आपको तो गिरायेंगे ही, औरों के लिए बुरी मिसाल साबित होंगे। अतः मेरा धर्मानुरागी भाई-बहिनों से कहना है कि वे धर्म के सही रूप का अंकन करते हुए अपने जीवन में उसकी व्याप्ति देखें।

धर्म के अहिंसा, सत्य, सदाचार और अपरिग्रह मूलक आदर्श सामाजिक लोगों के दिन प्रतिदिन के व्यावहारिक जीवन में स्थान पावें, एक नयी चेतना और स्फूर्ति का संचार करें, इसी ध्येय को लेकर अणुव्रत-आन्दोलन का प्रवर्तन हुआ। मैं चाहूँगा कि आप सब लोग इसके स्वरूप को समझें और अपनी जीवन-चर्या इसके अनुरूप बनायें।

जावरा
१२ जनवरी '५६

१० : स्याद्वाद या अनेकांत दृष्टि

समन्वय या सामंजस्य भारतीय विचारधारा का प्रमुख तत्त्व रहा है। यहाँ के तत्त्व-द्रष्टाओं ने किसी भी समस्या को सुलझाने में एकान्तिक आग्रह को स्थान नहीं दिया। यहाँ अपेक्षा-भेद से हर पहलू पर हर दृष्टि से विचार-विमर्श, गवेषणा और अन्वेषण की परम्परा चली। जिसका एक महत्त्व है, विशेषता है। संघर्ष, विध्वंस या विप्लव के द्वारा समस्याओं को सुलझाने का जो उपक्रम है वह वास्तविक सुलझाव नहीं, वह तो उलझाव है; क्योंकि उसमें क्षणवर्ती सुलझन दीखती है, पर यह आँखों से ओझल करने जैसा नहीं है कि उलझनों की कितनी गहरी और मोटी परत उसके नीचे छिपी है। अतः यहाँ समन्वय, सामंजस्य व एक दूसरे को विभिन्न अपेक्षाओं से समझकर पारस्परिक समझौता ये ही समस्याएँ सुलझाने के प्रमुख आधार माने जाते रहे हैं जिसे हम जैन दार्शनिकों की भाषा में स्याद्वाद या अनेकांत दृष्टि कह सकते हैं। इसी समन्वय की नीति के आधार पर प्रधान मंत्री पंडित नेहरू ने जो अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा प्राप्त की है, वह सही माने में भारतीय संस्कृति और चिन्तन का गौरव है। धार्मिक क्षेत्र के लोगों से

तो मैं विशेष रूप से कहना चाहूँगा कि वे संकीर्णता, निंदा एवं कटुतापूर्ण व्यवहार से सदा परे रहें।

ऊँचे विचारों तथा आदर्शों के लम्बे-लम्बे गीत व मधुर गाथाएँ गाने से क्या बनेगा, यदि व्यक्ति के जीवन में उन आदर्शों की छाया तक नहीं? "सत्य जयति शाश्वतम्" का घोष सचमुच बहुत मीठा है, पर वह क्या कर पायेगा यदि व्यक्ति का अन्तस्तल सत्य के प्रति आकृष्ट नहीं है? इसलिए मैं सदा यही कहा करता हूँ कि इन उच्च आदर्शों की व्याप्ति अपने जीवन में देखो। ऐसा न कर केवल लम्बी-लम्बी बातें बनाने और दूसरों को उपदेश देने में लगा रहना जो अपना कर्त्तव्य मानता है, वह क्यों भूल जाता है कि दुनिया इतनी बेवकूफ नहीं है, वह उसे ऐसा करते देख उसके मुँह पर थूकेगी। राष्ट्र के नेताओं, विद्वानों, कवियों, लेखकों, पत्रकारों, सार्वजनिक कार्यकर्ताओं तथा शासनाधिकारियों का मैं आह्वान करता हूँ कि वे सब अपने जीवन को सत्य और अहिंसा के आदर्शों में ढाल कर संसार के समक्ष केवल कहने के रूप में नहीं बल्कि करने के रूप में एक जीवित मिसाल पेश करें।

अणुव्रत-आन्दोलन सर्व धर्म समन्वय का प्रतीक है। वह उन सर्व धर्म सम्मत आदर्शों को प्रस्तुत करता है, जो मानव मात्र के कल्याण के आदर्श हैं, लोक-जीवन को जगाने के आदर्श हैं। उन्हें आप हृदयंगम करें, जीवन-व्यापी बनाएँ।

मन्दसौर
१५ जनवरी '५६

११ : अध्यात्म-प्रधान भारतीय संस्कृति

भारतवर्ष एक आध्यात्मिक संस्कृति का देश है। धर्म यहाँ का प्राण-भूत आधार रहा है। आज भी यदि भारत का गौरव है, उसका अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व है, तो वह इसलिए कि इसकी संस्कृति, दर्शन, परम्परा, इतिहास अहिंसा और मैत्री जैसे आध्यात्म तत्त्वों से भरे पड़े हैं, जो आज भी विश्व के लिए प्रेरणा के स्रोत जैसे हैं। पर दुःख तब होता है, जब आज के भारतीयों के वैयक्तिक और सामाजिक जीवन को हम देखते हैं। उनके जीवन में कितनी अधिक गिरावट और ओछापन आ गया है कि अपने तिल मात्र स्वार्थ के लिए भी दूसरों के हितों को शिकार की तरह हड़पते उन्हें जरा भी संकोच नहीं होता। इसी लोलुप वृत्ति ने उसे बहुत प्रकार की अनैतिक प्रवृत्तियों में जकड़ दिया, ऐसी हालत में आज यह अत्यन्त

आवश्यक हो गया है कि मानव-समाज अपने विकृत रूप को देखे। आत्मबल और हिम्मत के सहारे बुराइयों के साथ टक्कर लेकर वह भलाइयों के राज-मार्ग पर आये। तभी उसमें सही माने में मानवता कही जा सकती है, तभी वह अपनी गौरवमयी सांस्कृतिक विरासत का उपयुक्त अधिकारी है। अणुव्रत आन्दोलन और कुछ नहीं, केवल यही करना चाहता है कि मानव विकारों के दलदल से निकल अपने आपको सत्य, शील, सन्तोष और सद्भाव जैसे उत्तम गुणों में ढाले।

नीमच

१७ जनवरी '५६

१२ : सच्ची धार्मिकता क्या है ?

सहस्रों पुस्तकें पढ़ डालीं, धर्मशास्त्रों का ज्ञान अर्जन किया, पर उस पठन और ज्ञान से क्या बना यदि जीवन-चर्या में उसकी जरा भी प्रतिच्छाया नहीं है, यदि जीवन में किंचिन्मात्र भी तदनुरूपता नहीं आई। धर्म-शास्त्रों में वर्णित धार्मिकपन जीवन-व्यवहार में आये, आचरणों में आये तभी उसकी सार्थकता है। आज स्थिति यह बन गई है कि तत्त्वज्ञान की ऊँची-ऊँची बातें बनाने वाले तो बहुत मिल जायेंगे पर उसको जीवन में ढालने वाले कहाँ ? सचमुच आज के मानव-जीवन में यह बहुत बड़ी कमी है। मैंने अनेक बार कहा है और कहता रहता हूँ कि आज ज्ञानी या पण्डितों की उतनी अपेक्षा नहीं है, जितनी क्रियाशीलों की, कर्मठों की, करनेवालों की। आज तो ऐसे व्यक्तियों की आवश्यकता है, जो अहिंसा, सत्य आदि धार्मिक आदर्शों को अपने दैनन्दिन व्यवहार में संजोने वाले हों। आज ही क्या, सदा ऐसे लोगों की अपेक्षा रही है और रहती है। यही सच्ची धर्माराधना और धर्मानुशीलता है।

धर्म का सत्य स्वरूप एक है। सम्प्रदाय, जाति या कौम उसे बाधित नहीं कर सकते। यह वर्गवाद के परकोटे से घिरा नहीं है। क्या हिन्दू और क्या मुसलमान, क्या हरिजन तथा क्या महाजन, क्या जैन व क्या अजैन सब उसका परिपालन करने के अधिकारी हैं। धर्म का यथार्थ स्वरूप है—संयम, संयताचरण, जीवन-व्यवहार का नियमन, सम्मार्जन। खाना-पीना, चलना-फिरना, बैठना-उठना, रहना-सहना आदि जीवन की हर क्रिया, हर पहलू संयम से अनुरंजित हो, यही धर्म सिखाता है। संयम जीवितव्य वास्तव जीवन का सार है जबकि असंयम जीवितव्य जीवित मृत्यु है। असंयत आचरणों में पड़ जीवन की धूल उड़ाने वाला मानव भी क्या मानव ?

मानव के आकार में यदि उसे पशु कहा जाये तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। अतएव हमारा निर्घोष है—नारा है: "संयमः खलु जीवनम्"। संयम ही जीवन है। मैं चाहूँगा, लोग अधिक से अधिक अपने जीवन को संयम के ढाँचे में ढालें।

बाहरी क्रिया-काण्डों, रूढ़ि-परम्पराओं और दिखावों में आप मन भूलिये, जीवन में इनसे कौन-सी शुद्धि आ सकेगी? जीवन में तो तभी शुद्धि और सात्विकता आयेगी जबकि मानव अपनी कार्य-परम्परा को शौच, सत्य, अहिंसा और समता से मँजेगा।

आबद
१८ जनवरी '५६

१३ : एक दिशासूचक आन्दोलन

संसार में हर मानव चाहता है कि उसका जीवन सुखमय बने, दुःख से सदा परे रहे, पर हम देखते हैं कि एक मानव अपने सुख के लिए, सुविधा के लिए, स्वार्थ के लिए दूसरे का गला घोंटते जरा भी नहीं हिचकिचाता। वह भूल क्यों जाता है कि दूसरा भी तो उसी की तरह सुख की चाह रखता है। दूसरे के सुखों को लूटनेवाला, उन्हें उत्पीड़ित करने वाला भला कैसे सुखी बन सकता है? उसके द्वारा पीड़ित व्यक्ति क्या उसके शत्रु नहीं बन जायेंगे? वे भी तो उसके आक्रमण से अपने सुखों के बचाव के लिए भयावह बन सकते हैं। फलतः ऐसा वातावरण तैयार होगा, जिसमें नृशंस, निर्दय, क्रूर और क्लिष्ट भावों की भरमार होगी; जिसमें एक दूसरे के खून का प्यासा होगा। क्या ऐसा जीवन भी कोई जीवन है? पर खेद के साथ कहना होता है कि वस्तुस्थिति आज कुछ ऐसी ही बन गई है। अणुव्रत-आन्दोलन इस वीभत्स, हिंस्र और विध्वंसमय स्थिति को बदलना चाहता है। इसे एक नया मोड़ देना चाहता है। वह मोड़ है—समता का, मैत्री का, सद्भावना का, तितिक्षा का। वह चाहता है, कोई किसी को पीड़ा न दे, धोखा न दे, ऐसा कुछ न करे। कितना अच्छा हो यदि इस अध्यात्म-आलोक के सहारे व्यक्ति अपने को आगे बढ़ाए।

अणुव्रत-आन्दोलन किसी सम्प्रदाय-विशेष का आन्दोलन नहीं है। यह तो मानवता का आन्दोलन है, जीवन-शुद्धि का आन्दोलन है, चारित्र्य जागरण का आन्दोलन है। यह सर्वधर्म समन्वय का प्रतीक है। किसी भी सम्प्रदाय की मान्यता रखना इस आन्दोलन के अपनाने में बाधक नहीं केवल शर्त

यही है कि वह व्यक्ति अणुव्रत-आन्दोलन के नियमोपनियमों का हृदय से परिपालन करे। अणुव्रत-आन्दोलन जीवन को परिष्कृति देने का वह पावन स्रोत है जिसमें अवगाहन करने का अधिकार हर मानव को है। मैं आप सभी लोगों को आह्वान करता हूं, उस ओर आप अग्रसर हों, इन आदर्शों को जीवन-व्यवहार में स्थान दें।

जावद
१८ जनवरी '५६

१४ : मूल्यों में श्रद्धा रखें

नगर में निवास करने मात्र से ही कोई सच्चा नागरिक नहीं हो जाता। यदि ऐसा होता तो नगर में तो अनेकों कीट-पतंगे और पशु-पक्षी भी रहते हैं, वे भी नागरिक कहे जाते, पर बात ऐसी नहीं है। सही माने में नागरिक वह है जिसमें सत्य, शौच, श्रद्धा, शील और समता जैसे नागरिक जनोचित सद्गुण हों। ऐसा व्यक्ति अपनी सुविधा के लिए दूसरों को कष्ट देना नहीं चाहता, सबके प्रति मित्र-भाव से बरतता है। फलतः उसका जीवन शान्त और सुखी बनता है।

सत्य, प्रामाणिकता और नीतिमत्ता से संसार में काम चल सकता है यह आज का मानव स्वीकार करने में भी हिचकिचाता है। यह कितनी बड़ी श्रद्धाहीनता का परिचय है। वस्तुतः आज मानव की आत्म-श्रद्धा डगमगा उठी है। यह उसकी बहुत बड़ी आत्म-दुर्बलता है। सत्य पराङ्मुखता का ऐसा ही प्रतिफल होता है। इस दुरवस्था से मानव को आज निकलना है। अपने श्रद्धाशून्य और सत्य-रहित जीवन को संभालना है। डगमगाती श्रद्धा को पुनः यथावस्थित करनी है, क्योंकि जबतक व्यक्ति के मन में श्रद्धा या विश्वास नहीं होता, वह कुछ नहीं कर सकता। जिसके मन में यह विश्वास नहीं कि सत्य से जीवन-व्यवहार चल सकता है, वह सत्य को कैसे पकड़ेगा? अतः राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक से मेरा कहना है कि सत्य और यथार्थ के प्रति वह अपनी खोई हुई श्रद्धा को पुनः प्राप्त करे।

कुछ ही दिन पूर्व की तो बात है कि सीमा कमीशन का फैसला लोगों के समक्ष आया, तब कहीं-कहीं तो ऐसी दुर्घटना और जघन्य घटनाएँ घटीं कि उन्हें देखते नागरिकता स्वयं लजाती है। आपलोग अखबारों में पढ़ते हैं, आज भी उसको लेकर कहीं-कहीं कितनी उग्रता और उद्दण्डता देखने में आ रही है। यह अनुशासन-वर्जित वृत्ति और अश्रद्धामय मानस का परि-

चायक है। अतः मैं राष्ट्र के नागरिकों से कहना चाहूँगा कि वे अपने जीवन में अनुशासन को पूरा-पूरा स्थान दें।

जावद
१८ जनवरी '५६

१५ : सम्प्रदायों के मौलिक तत्त्वों का उपयोग

सम्प्रदाय का अर्थ संकीर्ण और संकुचित बाड़ा-बन्दी नहीं है और न वह पारस्परिक वैमनस्य, संघर्ष और कलह फैलाने का हेतु है। उसका तो अर्थ है गुरु-क्रम-गुरु-परम्परा (सत्य या यथार्थ के अन्वेषण की एक धारा)। ऐसी स्थिति में वह आपसी अलगाव और मनमुटाव का हेतु हो ही कैसे सकता है? पर ऐसा हुआ। प्राचीनकालीन इतिहास के पन्ने उलटें तो पायेंगे कि सम्प्रदायवाद की आड़ में न जाने कितना रक्तपात हुआ, कितने हत्याकाण्ड हुए। नृशंस व्यक्ति भी क्या इतना क्रूर और हत्यारा हो सकता है? यह इतिहास की वह गहरी कालिमा है, जो धोए नहीं धुल सकती। जब सम्प्रदाय के अन्तरतम में यह विष नहीं तो फैला कहाँ से? यह एक प्रश्न है। इसका सीधा-सा समाधान यह है कि जब व्यक्ति केवल अपने स्वार्थ को साधने में लग जाता है, यश-लोलुपता के नशे में पागल हो जाता है, प्रतिष्ठा की भूख में अपने को खो देता है तब उसका विवेक लुप्त हो जाये तो इसमें आश्चर्य ही क्या? यही तो हुआ। तथाकथित धार्मिकों या सम्प्रदायानुगामियों ने अपने मतलब साधने के लिए या अपनी विजय तथा दूसरों की पराजय की दुरभिसन्धि पूरी करने के लिए यह सब किया। आज भी संकीर्ण साम्प्रदायिकता के छिट-पुट आक्रमण देखने में आते हैं। ऐसा करनेवाले धर्म की सही आत्मा से दूर हैं। वे वर्तमान युग की मांग को नहीं समझते। मैं राष्ट्र के सभी सम्प्रदायों के अनुयायी भाई-बहिनों से कहूँगा कि संकीर्णता और कटुता में न पड़ते हुए पारस्परिक मैत्री और बन्धुभाव को बढ़ाएँ।

यदि विभिन्न सम्प्रदायों के मौलिक तत्त्वों का पर्यवेक्षण किया जाये तो हम पाएंगे कि उनमें समानता और समन्वय के तत्त्व अधिक हैं, असमानता के कम। आज आवश्यकता इस बात की है कि समानता के तत्त्वों को आगे रखा जाये। उनको लेकर अध्यात्म-विकास और नैतिक-निर्माण के पथ पर अग्रसर हुआ जाये ताकि अपना तथा साथ ही साथ दूसरों का भी हित सध सके। यही वह पथ है जो विभिन्न सम्प्रदाय के लोगों में मैत्री

और बन्धु-भाव का प्रतिष्ठापन कर सकता है। असमानता की बातों को बल देने का ही अतीत में यह परिणाम हुआ कि लोगों में पारस्परिक द्रोह-भाव पनपा। उन विसंगति को आज पुनः नहीं दोहराना है। मुझे आशा है आप सब लोग इस पर गौर करते हुए अपने जीवन को मैत्री, समता और बन्धुभाव के धागे में पिरोयेंगे।

जावद
१६ जनवरी '५६

१६ : मालववासियों से

एक तरफ विदाई और दूसरी तरफ स्वागत ; पर आप जानते हैं सन्तों की कैसी विदाई? कैसा स्वागत? क्या वे किसी स्थान विशेष के स्थायी प्रवासी होते हैं? नहीं, विश्व में कोई उनका निर्धारित स्थान नहीं। स्थान-स्थान पर पर्यटन करते हुए आत्म-साधना के साथ-साथ लोक जागृति के पथ पर आगे बढ़ते रहना ही तो उनका काम है। वे जहाँ भी जाते हैं, यही तो करते हैं। फिर क्या विदाई और क्या स्वागत? उनका स्वागत या अभिनन्दन तो यही है कि लोग उनके बताये हुए जीवन-शुद्धि के मार्ग पर अपने को आगे बढ़ायें।

इस अवसर पर मैं सबसे पहले एक बात कहना चाहूंगा, लोग सदा इस ओर जागरूक रहें कि वे मौलिक तत्त्वों से पराङ्मुख बन कहीं एकमात्र दिखावों में तो नहीं भूल रहे हैं। औपचारिकता में तो नहीं बह रहे हैं ; क्योंकि मौलिक तत्त्व की आराधना में ही सच्चा श्रेयस् है, बाह्य उपकरणों में नहीं। अतः एकमात्र समारोह-समारम्भ ही आपका लक्ष्य न बन जाय। सही तत्त्व और वास्तविकता की ओर भी आपलोगों का ध्यान रहना चाहिए।

मध्यभारत के नागरिकों ने उपदेश श्रवण, संसर्ग और सत्संग का काफी लाभ लिया। कुछ एक ऐसे भाई भी हैं, जिन्होंने अष्टमासीय यात्रा व प्रवास में अपना पूरा-का-पूरा समय इधर लगाया, यह देख मुझे ताज्जुब होता है। आज जबकि स्थिति यह है, एक समय का व्याख्यान भी सुनने की फुर्सत निकालने में व्यक्ति कठिनाई महसूस करता है। मालव प्रदेश के भाइयों का यह उपालंभ विस्मृत नहीं किया जा सकता कि मैं मालव को पूरा नहीं परस सका। मैं मानता हूँ, एक वर्ष और रहने की वहाँ अपेक्षा है। वहाँ के भाइयों में जितनी प्रेरणा, जितनी उत्कण्ठा मैंने देखी कि उनके

भक्ति भरे उद्गार देखकर लम्बी-लम्बी मंजिलों की परवाह न करते हुए कहीं-कहीं एक-एक के बदले दो-दो दिन मुझे रुकना पड़ा। फलतः इसमें दुगुना भी चलना पड़ा पर इसका क्या विचार? इन्दौरवासियों का उलाहना भी कैसे भुला जा सकता है? मालव-प्रवेश के समय अल्पकालीन प्रवास वहां हुआ। केवल चार दिनों में वहां के सार्वजनिक कार्यकर्ता, विद्वान्, साहित्यकार और नागरिक कितने निकट जैसे हो गये? पर मैं दुबारा वहां नहीं जा सका। मालव को मैं पूरा नहीं परख सका पर अपने पूर्वाचार्यों से तो मैंने अधिक ही परखा, कम नहीं। मैंने मालव-यात्रा में देखा—लोगों में सत्य व धर्म के प्रति कितनी उत्कण्ठा और उत्सुकता है। सत्य को पाने की कितनी उनमें लगन है। उपदेशों में कितने उन्मुक्त भाव से उन्होंने रस लिया। क्या प्रान्त के बड़े-से-बड़े लोग और क्या जनसाधारण सभी ने उत्कण्ठापूर्वक आध्यात्मिक उपक्रमों में समानता से भाग लिया। वस्तुतः मेरी मालव-यात्रा सब दृष्टि से अत्यन्त उल्लास, आनन्द और सुख से पूर्ण रही। वातावरण बड़ा शान्त रहा।

अब मेरा मालववासियों से कहना है कि आपने जो कुछ हमसे पाया है हमारी विदाई के साथ-साथ उसे भी आप विदा न कर दें। जो अध्यात्म-तत्त्व आपने सुने, उन्हें भुला नहीं देना है। उन्हें स्मरण रखते हुए अपने जीवन को उन पर ले चलना है। जो कुछ आपने सीखा, वह केवल कथनी में नहीं; करणी में आना चाहिए। वह केवल प्रचारात्मक न होकर आचारात्मक बने, जीवन-व्यवहार को छूनेवाला हो। मैत्री, बन्धुता, समन्वय और समता का अनुवर्तन करते हुए सब अपने जीवन को विकासोन्मुख बनाएँ—यही मेरा कहना है।

मेवाड़वासियों से मुझे बहुत बड़ी आशा है। उनका बहुत बड़ा यूथ है। उनकी भक्ति प्रसिद्ध है। यह मैं प्रत्यक्ष देख रहा हूँ। कितनी बार वे आये, कितने बड़े समूह के रूप में आये, इससे यह स्पष्ट है, उनके हृदय में भक्ति, स्फूर्ति और सदाकांक्षा का मानो स्रोत बह रहा है। मैं मेवाड़ आ रहा हूँ। मेवाड़ के लिए यह एक परीक्षा का समय है। मेवाड़वासी वास्तव में कुछ करके दिखायेंगे। मेवाड़वासियों का एक संगठित समाज है। यदि वे साहस करें तो जीवन-शुद्धि के क्षेत्र में बहुत कुछ कर सकते हैं। कभी-कभी लगता है कि वे आचार के बदले प्रचार की वृत्ति में अधिक उलझे हैं। पर उनका कार्य केवल प्रचारात्मक न हो, वे केवल प्रचार में न बह जायें, आचार को जीवन में महत्ता दें। जीवन का मुख्य लक्ष्य आचार-शुद्धि है। जो स्वयं आचारशील नहीं होते, उनका प्रचार लोगों में क्या असर लाता है कुछ भी नहीं। आप यह न समझिए कि केवल प्रचार

से मैं खुश हो जाऊँगा। मैं चाहता हूँ, व्यक्ति-व्यक्ति का जीवन सदाचार और नैतिकता से मँजा हो, सजा हो। इस ओर आपको आगे बढ़ना है।

गृहस्थ-वर्ग में प्रचार की कभी भी परम्परा न रही हो, ऐसा तो नहीं है। हम आगमों में पढ़ते हैं—तीर्थंकर आते थे, दुन्दुभि बजती थी, लोगों को जानकारी होती थी। पर जानकारी देने जैसे आवश्यक प्रचार के बदले प्रभाव और प्रदर्शनपूर्ण प्रचार ही जब लक्ष्य बन जाता है तो वह कदापि वांछनीय नहीं है। उस पर अंकुश रहना चाहिए। साधु कहीं आएं-जाएं, इस उपलक्ष में ढोल पीटे जांय, अनेकानेक आडम्बर किये जाय, यह कभी शोभनीय नहीं है, धर्मानुरूप नहीं है। धर्म आडम्बर में नहीं है, वह तो जीवन की साधना में है, आत्मा को मँजने में है। अतः मैं मेवाड़वासियों से कहना चाहूँगा कि वे इस सुनहले अवसर का, जो उन्हें मिलने जा रहा है, अधिकाधिक सदुपयोग करेंगे। जीवन के अमर तत्त्व को जर्जरित बनानेवाली बुराइयों, रूढ़ियों और परम्पराओं को सामूहिक रूप में उखाड़ फेंकने को वे उद्यत होंगे। उनके बदले वे अपने जीवन में सज्जनता, सादगी, ममता, सुजनता और मैत्री भाव जैसी भलाइयों को स्थान देकर सही माने में अपने को सुखमय बनायेंगे। वे सामूहिक रूप में अच्छा मार्ग ग्रहण करेंगे, जीवन-निर्माण का एक ऐसा ढाँचा तैयार करेंगे, जो जीवन को संयमाचरण का एक नया मोड़ दे सकेगा। अतः मेरा पुनः-पुनः यही कहना है कि सब आन्तरिक कार्यक्रमों में, अन्तरशुद्धि के उपक्रमों में अपने को जुटाते हुए जीवन को संयम और सदाचरण के अधिकाधिक निकट ले जाँय। इसी में उनके प्रयास की सफलता है।

प्रस्थान के उपलक्ष में भक्ति-उद्‌गार प्रकट करने को उपस्थित मालवीयों तथा आगमन के उपलक्ष में स्वागत-भाव से उपस्थित मेवाड़ियों से मैं कहूँगा कि अणुव्रत-आन्दोलन जो जन-जागृति का एक ओजपूर्ण सफल कदम है, उसे आप आगे बढ़ावें। स्वयं अपने जीवन में उसे अपनावें, औरों तक उसे पहुँचाने का प्रयास करें ताकि एक ऐसे समाज का सृजन हो, जो चारित्र्य, नीति, न्याय, ईमानदारी और प्रामाणिकता का जीता-जागता प्रतीक हो।

जावद
२० जनवरी '५६

१७ : विद्यार्थी का कर्त्तव्य

विद्यार्थी-अवस्था मानव-जीवन का महत्त्वपूर्ण अंग है। यह वह समय है, जबकि व्यक्ति अपने भावी जीवन के लिए अपने को तैयार करता है।

अपने में उन सद्गुणों और सद्वृत्तियों को वह भरता है, जो उसे जीवन में सही माने में मानवता देते हैं। सचमुच शिक्षा का लक्ष्य तो यही है कि मानव सत्य, सदाचार, विनय, सरलता, मैत्री और बन्धुता जैसे मानवोचित गुणों का अर्जन करे। ये गुण ही मानवता की सच्ची कसौटी हैं। अन्यथा वह कलेवर से हाड़-मांस का मानव अवश्य है, गुणों से वह मानव नहीं। याद रखिए शिक्षा का अभिप्रेत केवल इतना ही नहीं है कि व्यक्ति रट-रटाकर पुस्तकीय ज्ञान पा ले, अपना तथा अपने परिवार का पेट पालने के योग्य बन जाय। इससे भी ऊँचा उसका लक्ष्य है। और वह है जीवन को समझना, यथार्थ को जानना, उसे पाने की योग्यता लाभ करना। शिक्षा जीवनशोधन का अन्यतम साधन है। आज तो उसका स्तर बिल्कुल छिछला हो चला है। विद्यार्थी जब विद्या-ग्रहण के लिए प्रवेश करने लगता है तब उसके अभिभावक उसके अध्ययन सम्बन्धी निर्वाचन में सबसे पहले यही सोचते हैं कि किस प्रकार का अध्ययन उसे अधिक से अधिक अर्थ अर्जित करने में काम देगा और उसी का वे निर्वाचन करते हैं। खेद का विषय है कि विद्या का भी आज सौदा किया जाने लगा, जो सर्वथा अनुचित है। विद्यार्थी, अभिभावक तथा अध्यापक सबसे मैं कहना चाहूँगा कि इस प्रकार की बहिर्मुखी वृत्ति को वे छोड़ें। हाँ, सामाजिक जीवन में सामाजिक दृष्टि से अर्थ का भी एक स्थान है, पर वह जीवन का लक्ष्य नहीं। जहाँ उसे जीवन का लक्ष्य मानकर कोई कार्य किया जाता है, उस कार्य का अन्तस्तत्त्व मुरझा जाता है। अतः मैं आप सब से यह कहना चाहूँगा कि विद्या के लक्ष्य को आप नीचे न गिरने दीजिये। विद्यार्थियों से मैं खास तौर से कहूँगा कि वे पुस्तकीय ज्ञान के अतिरिक्त उस सद्विवेक को भी अर्जित करने का प्रबल प्रयास करें, जो उन्हें चरित्रशीलता, औदार्य आदि गुणों की ओर ले जाता है।

विद्यार्थी तोड़-फोड़ व विध्वंसतामूलक कार्यों में भाग न लें। वे राजनैतिक संघर्षों और विप्लवों में अपनी शक्ति, प्रतिभा और समय का दुरुपयोग न करें। उनकी तो यह ज्ञान-साधना व विद्या-आराधना की बेला है, जिसका यदि वे दुरुपयोग करते हैं तो उनकी यह बहुत बड़ी भूल है। अनुशासन, नम्रता, सद्व्यवहार, संयत आचरण विद्यार्थी जीवन के वे अमूल्य आभूषण हैं, जिन्हें धारण करना हर विद्यार्थी का सबसे आवश्यक कर्त्तव्य है। मुझे आशा है कि विद्यार्थी इस पर अवश्य गौर करेंगे।

आबद

२० जनवरी '५६

१८ : मंगल क्या ?

संसार में लोग अक्षत, गुड़, कुंकुम आदि को मंगल मानते हैं, पर वे नहीं जानते, क्या वास्तविक मंगल इनमें हो सकेगा ? मंगल का अर्थ है कल्याण, श्रेयस्, दुःख, वेदना और संक्लेश से उन्मुक्ति। तथाकथित उक्त मांगलिक वस्तुएँ ऐसा कर सकेंगी, क्या यह सम्भव है ? ऐसा मुझे तो नहीं लगता। इसलिए भगवान् महावीर ने बताया कि चार मंगल हैं। अरिहन्त मंगल—जिन्होंने राग, द्वेष, कलह, मत्सर आदि समस्त आत्म-शत्रुओं को जीत लिया वे अरिहन्त कहे जाते हैं, उनसे हमलोग कल्याणकारिणी प्रेरणा ले सकते हैं। मंगल की ओर आगे बढ़ने में वे हमारे प्रेरणा-प्रदीप हैं, इसलिए वे मंगल हैं। सिद्ध मंगल—जो आत्मा के समग्र बन्धनों को तोड़ कर शुद्ध आत्म-स्वरूपात्मक सिद्धि पा चुके हैं, वे सिद्ध हैं। वे सब कुछ साध चुके हैं—सफल कर चुके हैं। वे तो मंगल का साकार निदर्शन हैं ही। भगवान के बताये हुए सत्य, अहिंसा आदि महान् व्रतों पर आरूढ़ होकर जीवन-विकास के मार्ग पर अग्रसर होनेवाले साधु मंगल हैं। अर्थात् मंगल की सजीव प्रेरणा हमें मिलती है। इसी प्रकार धर्म आत्म-शुद्धि का साधन, जीवन-शुद्धि का पथ भी मंगल है। ये आत्म-विकास की ओर ले जाने वाले हैं। आत्म-विकास का चरम रूप ही तो वास्तविक मंगल है। अतः बाह्य पदार्थों में मंगल की परिकल्पना छोड़ उसे अन्तरतम की परिशुद्धि से सम्बन्धित तत्त्वों में ढूंढ़ने का प्रयास कीजिये, अन्वेषण कीजिए।

मानव-जीवन एक अमूल्य रत्न है। उसका वे जितना बन सके अहिंसा, सच्चाई और संयम की आराधना में सदुपयोग करें। इसी में जीवन की सफलता है, मानवता का सार है। जो व्यक्ति मद्य, चोरी, धोखा, विश्वास-घात जैसे कुव्यसनों में पड़ अपना जीवन गंवाता है उसके जैसा नादान और अज्ञानी कौन होगा ? सब लोगों से मेरा यही कहना है कि वे अपने जीवन को इन बुराइयों के दलदल में पाप-पंकिल न बनायें। भलाइयों और सद्वृत्तियों के निर्मल जल से उसका प्रक्षालन करें, उसे स्वच्छ बनायें, उसे सात्त्विक बनाएं।

यह वह सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक भूमि चित्तौड़ है, जिसने न जाने कितनों का उत्थान और पतन देखा है। इतिहास बताता है कि कितने ही शूर-वीरों के पराक्रम की कहानियाँ व घटनाएँ इसकी उरस्थली पर घटी हैं।

युग बीत गये, भला या बुरा जो कुछ करनेवाले थे, आज नहीं रहे ; पर उनके जीवन की भलाई या बुराई की अमलता या कलुषता का इतिहास

सजग साक्षी है। यही तो वह विचार है, जिससे व्यक्ति को भलाई की ओर आगे बढ़ने की प्रेरणा मिलती है।

व्यक्ति संसार में आता है, अपनी जीवन-लीला समाप्त कर न जाने कब यहाँ से कूच कर जाय, इसका कुछ निश्चय नहीं। सचमुच मानव का जीवन कितना अस्थिर और अशाश्वत है। पर मानव इसे कब समझता है? वह तो अपने को अमर मान इस प्रकार लोभ, लालसा और स्वार्थपरता के कीचड़ में फँस जाता है कि जीवन का सत्य पक्ष उसे सूझता तक नहीं। यह उसकी भूल है। उसे अपने जीवन का प्रत्येक क्षण सत्य, शौच, सदाचार, शील, मैत्री, सद्भावना और समता जैसी भली प्रवृत्तियों में लगाना है। तभी उसका मानव-जीवन पाना सफल है। सदाचार पर प्राणपण से डटे रहने को ही तो मैं सच्ची शूरवीरता मानता हूं, विश्व के मानव मानव में सच्ची वीरता के ये उदात्त भाव जगें।

जालमपुरा
२२ जनवरी '५६

१९ : सद्वृत्तियों की अधिक आवश्यकता

जीवन में जितने अन्न, जल व वस्त्र की आवश्यकता है, चारित्र्य, सदाचार और सद्वृत्तियों की उससे भी अधिक आवश्यकता है। सच्चा और वास्तविक जीवन तो इन्हीं से बनता है। मानव होकर जिसमें मानवता नहीं, सदाचार, सत्य और प्रामाणिकता जैसे मानवोचित गुण नहीं वह कैसा मानव? वह केवल कहने का मानव है। मेरा कहना है कि वह केवल कहने का मानव न रहे, वह सच्चा मानव बने। वह अपने में मानवपन पनपाए। दुर्विचार और दुश्चर्या से अपने को बचाकर सद्विचार, सच्चर्या में लगाये।

हमीरगढ़
२६ जनवरी '५६

२० : आत्मानुशासन

लाखों दुर्दान्त शत्रुओं को जीत लिया, उन्हें शरणागत बना लिया, पर इससे क्या बना? उसमें सच्ची वीरता कहाँ यदि अपनी आत्मा पर, इन्द्रियों पर, वृत्तियों पर, मानव ने विजय नहीं पाई, दुराचार और दुष्प्रवृत्तियों में जाते हुए अपने मन पर नियन्त्रण नहीं किया? सच्ची वीरता तो अपने-

आपको जीतने में है। अपनी आत्मा ही सबसे बड़ा शत्रु है यदि वह दुष्प्रवृत्त है। और वह सबसे बड़ा मित्र है यदि वह सत्प्रयुक्त है। जिसने अपने को जीता, उसने सबको जीता। आज हम देखते हैं, मानव कितना बलहीन हो गया है। कोई उसे एक गाली देता है तो वह जब तक उसे दस गालियाँ न दे ले, उसका जी नहीं भरता। सहनशीलता और धैर्य की कितनी बड़ी कमी उसमें है। इसलिए मैं जोर देकर कहता हूँ कि सबसे पहले मनुष्य आत्मविजेता बने। अपनी प्रवृत्तियों पर संयमन करे। यही वह मार्ग है, जिससे मानव अपने जीवन में सच्ची शान्ति, सुख और सन्तुष्टि पा सकता है।

विद्यार्थियों से मैं कहूँगा—यह उनके जीवन का बहुमूल्य समय है, जिसमें उन्हें उन सद्‌गुणों का संचय करना है, जिससे आगे चलकर वे सात्विक और उन्नत जीवन के धनी बन सकें। यदि अभी से ही वे अपने-आपको आत्मानुशासन, मनोनिग्रह और चारित्रिक दृढ़ता के ढाँचे में ढालेंगे तो वे स्वयं अनुभव करेंगे कि कितनी सरसता वे अपने जीवन में पा रहे हैं।

ग्रन्थों के ग्रन्थ रट डाले, बड़ी-बड़ी उपाधियाँ पा ली पर यदि जीवन में चरित्रशीलता नहीं आई तो यह सारा ज्ञान बैल की पीठ पर लदे उन पुस्तकों के बोरों जैसा है, जिनका उसके लिए कोई उपयोग नहीं है। विद्यार्थियों को जीवन में जो सबसे बड़ी चीज प्राप्त करनी है, वह है चरित्रशीलता, जीवन में सत्य और अहिंसा के प्रति सजग निष्ठा, जीवन-व्यवहार में उनका समारोप। मैं चाहूँगा कि विद्यार्थी इसके लिए जागरूक रहें। वे पल-पल अपने जीवन को टटोलते रहें कि कहीं चरित्रहीनता के विषैले कीटाणु तो उनके जीवन में प्रवेश नहीं पा रहे हैं। त्याग, सरलता, सादगी, विनय, शालीनता व सद्‌व्यवहार से विद्यार्थियों का जीवन सजा हो, मैं यही चाहता हूँ। मुझे आशा है कि विद्यार्थी इस पर मनन करेंगे, सोचेंगे। क्या समाज और क्या राष्ट्र, विद्यार्थियों के सच्चे विकास पर ही तो उनकी उन्नति निर्भर है।

अध्यापकों पर कितना भारी उत्तरदायित्व है, यह किसी से छिपा नहीं है। उनका जीवन विद्यार्थियों के लिए एक मूर्त प्रेरणा का स्रोत है। अध्यापक क्या कहते हैं, इसको नहीं, वे क्या करते हैं—विद्यार्थी इसको आँकते हैं। अध्यापकों के जीवन की सात्त्विकता विद्यार्थियों पर जैसा प्रभाव डालती है। उनके लम्बे-लम्बे पाण्डित्यपूर्ण भाषण वैसा असर नहीं करते, यदि उनका जीवन तदनुकूल नहीं है। इसलिये अध्यापकों को विशेषतः अपने आपको टटोलना है। मैं उनसे एक ही बात कहूँगा कि वे अनुस्रोतगामी न बनें, प्रतिस्रोतगामी बनें। संसार के चालू प्रवाह में, जिसमें जीवन के वास्तविक

मूल्य आज डूबे जा रहे हैं, वे न बहें। चालू प्रवाह में जोर ही क्या पड़ता है? तुच्छ तिनका भी तो बहता है। जोर तो प्रतिकूल प्रवाह में बहने मे पड़ता है। असत्य, अनीति और अनाचरण का आज बोलबाला है, उनके बहाव में बहना क्या कठिन है? कठिन तो सत्य, नीति और सदाचरण के प्रतिस्रोत में बहना है।

मुझे आशा है, अध्यापक इस तथ्य पर गौर करेंगे।

अजमेर
(मेयो कॉलेज)

२१ : संघ का अनुशासन

स्वामीजी का गण एक नीतिमान गण है। इसकी महान् शक्ति का मन्त्र आस्था है। तत्त्व यह है कि एक आचार्य की दृष्टि से सबको सन्तोष है। जो कार्य आस्था से बनने का होता है, वह तर्क की धारा से नहीं बनता। इसलिए आचार्य भिक्षु ने लिखा है : **"श्रद्धा का, आचार का या कल्प का कोई नया बोल निकले वह समझ में आये तो समझे। अगर समझ में आये तो आचार्य पर छोड़ दे। खींचातानी ठीक नहीं।"**

सहज प्रश्न होता है—आत्मा को सन्तोष न हो तब कैसे बने? यह ठीक है कि आत्म-संतोष होना चाहिए। स्वामी जी ने जो मार्ग दिखाया है और मैं जिस मार्ग की ओर संकेत कर रहा हूँ, वह आत्म-संतोष का ही मार्ग है। साधकों के लिए समझ गौण है, श्रद्धा मुख्य। अतीत में ऐसे अनेक प्रश्न आये, जो हमारे सन्मार्गी, न्यायी, विवेकी और गुण के हितेच्छु साधुओं द्वारा सुलझाए गए और आज भी सुलझाए जाते हैं। मैं नहीं कह सकता वे सबकी समझ में आये हैं, सबके ज्ञान में आये हैं किन्तु मैं कह सकता हूँ कि वे सबकी श्रद्धा में आये हैं।

इन दिनों कई बोल चले, सिद्धान्त के आधार पर चले। लोग जानते हैं कि बोल चल रहे हैं। क्या चले, यह जानने को लोग इच्छुक हैं। मुझे भी उन्हें छिपाना नहीं है। जो सबके सामने रखना है, वह रखना ही चाहिए।

कुछेक बातों को लेकर कुछेक लोग व्यर्थ का बवंडर खड़ा करते हैं। मैं उन्हें सावधान किये देता हूँ कि वे किसी भुलावे में न आएँ। भिक्षु-शासन के साधु विनयी, श्रद्धालु, आचारी, भक्त और आत्म-भीरु हैं। उनमें श्रद्धा का महान् गुण है। पुराने लोगों में तो इतनी बलवती श्रद्धा है कि नयों को उनसे वर्षों तक सीखनी है।

कई बेसमझ लोग बेवुनियादी बातें करते हैं—अमुक साधु अनशन कर देंगे, यह कर देंगे, वह कर देंगे, आदि-आदि। मैं नहीं समझता कि क्या अनशन कोई तमाशा है। अनशन हुए हैं और होंगे। शासन ने उन्हें सहयोग दिया है और देगा। किन्तु कुछ बात ध्यान में न आये तब अनशन कर दे, यह बात भिक्षु शासन में होने की नहीं है। कोई ऐसा सपना ही न ले। जब नीति में विश्वास है, तब अनशन करना गलत है। स्वामी जी ने अनशन की व्यवस्था की है, पर उस हालत में जबकि **"कदाच टोला मांहे दोष सरधं तो टोला मांहे रहणो नहीं। एकलो होय नें संलेखना करणी।"**

इतर कई बातों पर विचार-मंथन चल रहा है। जिनके कुछ विचार थे, उन्होंने अपने विचार रखे। मैंने सबके विचार सुने और स्पष्टीकरण भी किये। वे सबके ध्यान में आ ही जायं या आ ही गये, यह मैं नहीं कह सकता, चेष्टा यही है कि आ जायें। श्रद्धा में अवश्य आये हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं।

कई विषय चर्चित रहे। उनमें लोकगम्य सिर्फ दो-चार बातें हैं बाकी के विषय गहरे हैं। जो सरल बातें हैं और जिनके बारे में लोग जानने को उत्सुक हैं, उनमें पहली चीज है लाउड-स्पीकर। गृहस्थ अपनी आवश्यकता के लिए साधुओं के सामने लाउड स्पीकर का प्रयोग करें, यह उनकी अपनी इच्छा है। साधुओं की इसमें किंचित् भी प्रेरणा या भावना नहीं होनी चाहिए। प्रेरणा हो तो साधु को दोष लगे। साधु मन, वचन और शरीर से उसमें शामिल न हो तो उसे दोष नहीं लगता। अब रही बात उसके निषेध की। निषेध करना चाहिए या नहीं, यह तो अवसर पर निर्भर है। प्रश्न यह है कि निषेध करना जरूरी है क्या? निषेध न करे तो दोष लगे, यह सिद्धान्त नहीं है। श्रावकों को भी चाहिये कि वे व्यर्थ की हिंसा से बचें।

पारमार्थिक शिक्षण संस्था के बारे में मैं क्या कहूँ। इससे हमारा वही सम्बन्ध है जो श्रावक संघ से है। दीक्षार्थियों की परीक्षा हम पहले ही से करते थे और अब भी करते हैं। दीक्षा संस्था में नहीं रहने वालों की भी होती है और रहनेवालों की भी। संस्था में कोई दीक्षार्थी रहे या न रहे, हमें उससे कोई सरोकार नहीं। और क्या श्रावक संस्था चलायें तो उनकी इच्छा न चलायें तो उनकी इच्छा। हमसे सम्बन्ध जोड़ने की जरूरत ही क्या?

अणुव्रती संघ के बारे में भी कुछ बताऊँ। यह संघ त्याग और नियमों का संघ है। इसकी निरवद्य प्रवृत्तियों का संचालन मेरे जिम्मे है। अणुव्रत समिति की प्रचारात्मक प्रवृत्तियाँ मेरी प्रेरणा से नहीं चलतीं और न उनसे

मेरा कोई सम्बन्ध है। गृहस्थों को भी साधुओं के समक्ष सावद्य बातें नहीं चलानी चाहिएँ।

जुगुप्सनीय कुल की बस्ती में, जहाँ हाड़-मांस आदि घृणित वस्तुएँ बिखरी हुई न हों, वहाँ व्याख्यान देने में कोई आपत्ति नहीं है। वाद-विवाद बढ़ाने की प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए।

साधुओं के फोटो लेने की प्रथा ठीक नहीं। साधु फोटो खिंचाने में तत्पर न हो तो साधु को दोष नहीं लगता। फिर भी साधुओं को इसके निषेध की परिपाटी रखनी चाहिए। यह उचित है।

स्वामी जी ने गृहस्थ को 'संदेशा' देने की मनाही की है। यहां 'सदेशा' का अर्थ समाचार है। साधु को गृहस्थ के द्वारा समाचार नहीं पहुँचाने चाहिएँ जैसा कि उन्होंने लिखा है :

"गृहस्थ साथ कहै संदेशो, तो भेलो हुवै संभोगजी।
तिणनें साधु किम सरधीजें, लाग्यो जोगनें रोगजी॥
समाचार बिवरा सुधि कहि कहि, सानी कर गृहस्थ बुलायजी।
कागद लिखावें कहि आमना, पर हाथ देवे चलायजी॥

वर्तमान में जो सन्देश दिया जाता है, उसका मतलब समाचार नहीं है। वह धर्मोपदेश या धार्मिक विचार है। हमारे विचार जो व्यक्ति जानना चाहते हैं, उन्हें या उनके द्वारा प्रेरित अन्य व्यक्ति को हम बताते हैं। और यह बताना बिल्कुल सही है—निरवद्य है।

धारण-प्रणाली अनुश्रुति के अनुसार स्वामी जी के समय से चली आ रही है। जयाचार्य के समय में भी चालू थी। यह परम्परा से पुष्ट और शास्त्र से प्रमाणित है। मुझे भी निरवद्य लगती है। इसी के आधार पर चालू की गई नवीन धारणा-प्रणाली भी निरवद्य है। दोनों निषेधात्मक हैं, फर्क सिर्फ इतना-सा है—पुरानी में स्थानान्तर है और नई में पुरुषान्तर। किसी को दोनों सावद्य लगें और किसी को पुरानी निरवद्य और नवीन सावद्य लगे तो? इसीलिए स्पष्टीकरण की आवश्यकता है। आचार्य को सावद्य नहीं लगती, वह सावद्य नहीं है। सिद्धान्त सामने है—दो साधु दोष सेवन कर आए। उनमें एक प्रायश्चित लेता है, दूसरा स्वीकार ही नहीं करता। उस दशा में आचार्य क्या करे? स्वीकार हो, उसे प्रायश्चित दे और जो स्वीकार न करे, उसे दण्ड नहीं दे सकते। सन्देह हो तो संघसे पृथक् कर सकते हैं। विश्वास होने पर संघ में रखें तो दूसरा उसे साधु ही समझेगा। कारण साफ है—आचार्य पर उसकी श्रद्धा है इसलिए। इसमें जबर्दस्ती नहीं कि जो बात अपनी बुद्धि में सावद्य जँचे, उसे बलात् निरवद्य माननी पड़े। किन्तु अपनी बुद्धि को छोड़ जहाँ श्रद्धा पर चलना होता है वहाँ

ऐसा होता है। टीकमचन्दजी छाजेड़ ने मघवागणी से कहा कि मैं अमुक को असाधु नहीं कह सकता। लोग मुझसे पूछते हैं कि तुम अमुक को क्या समझते हो, तब मैं क्या कहूँ? मघवागणी ने कहा—"जो महाराज समझते हैं, वही मैं भी समझता हूँ।" उन्होंने वही किया। सारी समस्या टल गई।

कोई किसी को समझा सके या न समझा सके सीधा उत्तर यह है कि हम इसमें वही मानते हैं, जो आचार्य मानते हैं।

मैं कह आया हूँ कि नई धारणा प्रणाली भी निरवद्य है। फिर भी उसे निरवद्य समझता हुआ भी मैं कम से कम छः मास के लिए स्थगित करता हूँ। इसके दो कारण हैं—आत्म-सन्तोष और चिन्तन। मैं चाहता हूँ कि प्रत्येक को आत्म-सन्तोष मिले और अन्तरवर्ती काल में चिन्तन-मन्थन का भी मौका मिले।

स्वामी जी ने गृहस्थ को पन्ना देने का उस हालत में निषेध किया है, जब कि गृहस्थ साधु के पन्ने से देख कर सीधा लिखे। जैसा कि उन्होंने लिखा है :

गृहस्थ नें लिखावै बोल थोकड़ा, आप तणो पानो दे उतारण ताय के।
ते उतारे छै पानो देखनें, इण दोष री बिकला नें खबर न कायके॥
पहले करण लिख्या में पाप छै, तो लिखाया हुसी निश्चय पाप के।
तिण में निन्हव जाणे धर्म छै, त्यां जिन वचन दिया छै उथापके॥

यहाँ स्वामी जी ने गृहस्थ साधु के पन्ने से सीख कर लिखा, उस हालत में पन्ना दिये जाने पर दोष नहीं बताया है। गृहस्थ साधु के पन्ने से सीधा लिखने के लिए वह ले और साधु उसे दे, उसे सदोष कार्य बताया है। गृहस्थ साधु के पास से लिखने के लिए पन्ना नहीं लेता, वह सीखने के लिए लेता है। सीखने के बाद लिखता है, यह उसकी सुविधा है।

मैं गृहस्थों को चेतावनी देता हूँ कि वे साधुओं की पंचायत करने की व्यर्थ चेष्टा न करें। हमारे विनयी, उन्नत, श्रद्धालु और अनुशासित साधु-समाज को इसकी कोई अपेक्षा नहीं है।

साधु-समाज की नीति शुद्ध है, उद्देश्य शुद्ध है। क्रिया में कोई भूल हो सकती है फिर भी लक्ष्य गलत नहीं है। भिक्षु शासन की उन्नति की रीढ़ यही है कि सब साधु गुरु के एक शब्द पर झूमते हैं, नाना प्रकार के कष्ट सहते हैं, जीवन झोंक देते हैं। परम प्रसन्न और परम सुखी हैं। संतोष नहीं तब सुख कैसे? फिर भूल! संतोष हो गया। गुरु की वाणी पर इन्हें संतोष है। कहना इनका काम है, सुनना मेरा। ये कहते रहेंगे, मैं सुनता रहूँगा। कहनेवाले थकेंगे, मैं नहीं थकूँगा।

दस दिन तक बोल चले। रात को नींद 'खोटी' की। 'खोटी' नहीं 'चोखी' की। स्वामी जी समूची रात गालते थे। हमने दो-दो तीन-तीन घण्टे गाले, इसमें क्या बात है। ठीक है शरीर की वैसी मजबूती नहीं किन्तु रजपूती तो वही है। मुझे कोई भार नहीं, प्रसन्नता है। पूछने की जो स्वतन्त्रता स्वामी जी ने दी है, वह छीनी नहीं जा सकती और न मैं उसे छीनना ही चाहता हूं। अनुशासन का ध्यान सबको रखना चाहिए भी और उसमें मैं भी ढीला नहीं कर सकता। यह गण के हित के लिए है। गण और गणी का एक सम्बन्ध है। गण में गणी आगे हैं। गणी के दिल में गण के साधु के प्रति अन्य भावना हो ही नहीं सकती। हो जाय तो फिर बस ही समझो।

अब मैं कुछ श्रावक-समाज से भी कह दूं—आचार्य का अनुशासन जैसा साधुओं पर है—वैसा ही श्रावकों पर। श्रावक-समाज का प्रत्येक धार्मिक कार्य गुरु की दृष्टि से होता है। वे दृष्टि से दूर नहीं हो सकते।

चाहे कोई किसी भी सम्प्रदाय में विश्वास करता हो, किसी भी जाति या कौम का हो, नैतिकता और सदाचार उसके लिए समान रूप से आवश्यक हैं। इसके बिना जीवन शान्ति के साथ कैसे चल सकता है? अणुव्रत आन्दोलन लोक-जीवन में व्यापक रूप से नैतिकता और सदाचार को परिव्याप्त करना चाहता है। यह किसी भी तरह की संकीर्णता से जुड़ा नहीं है। यह तो मानव-धर्म का विशाल राजपथ है, जिस पर चलता हुआ मानव-समुदाय जीवन-शुद्धि की मंजिल आसानी से तय कर सके।

अणुव्रत-आन्दोलन शोषण और परिग्रह के मूल पर प्रहार करता है। आज मानव का दृष्टिवेध पैसा बन गया है इसे वह बदलना चाहता है, एक नया मोड़ देना चाहता है। पैसे के बदले अपरिग्रह, सन्तोष और संयम की महत्ता मानी जाये, ऐसा वातावरण यह बनाना चाहता है।

शान्ति लाने के नाम पर हिंसा को खुलकर प्रश्रय दिया गया, अनेकों विषैले विध्वंसकारी अस्त्र-शस्त्रों की सृष्टि हुई, लोमहर्षक नर-संहार हुआ, पर शान्ति नहीं आयी, उल्टी अशान्ति बढ़ी, पारस्परिक विद्वेष पनपा, एक दूसरे को निगल जाने की भावना जागी। खेद है, यह सब हुआ शान्ति के नाम पर। मैं दावे के साथ कह सकता हूँ—जितना सहारा हिंसा को मिला, यदि अहिंसा को मिल जाता तो क्या से क्या हो जाता। आज भी मेरा कहना है कि अहिंसा को जितना अधिक प्रश्रय मिलेगा संसार उतना ही अधिक उलझनों से छुटकारा पायेगा। अणुव्रत-आन्दोलन का यह घोष है कि व्यक्ति के जीवन में अधिकाधिक अहिंसा की प्रतिष्ठा हो। आपसी मैत्री और बन्धुत्व भाव जगे, द्रोह और वैमनस्य दूर हो। मुझे यह प्रकट

करने प्रसन्नता है कि लोगों ने इसके अन्तरतम को समझा है और वे समझ रहे हैं, भारत के दूर-दूर के प्रदेशों की यात्राओं में मैंने यह स्वयं अनुभव किया है।

आज मर्यादा-महोत्सव का दिन है। हमारा संघ मर्यादा की शृङ्खला में प्रतिष्ठित है। उसमें जो सबसे बड़ी विशेषता है वह है आज्ञा की। यह सर्व विदित है कि वही संघ, वही संगठन बलवान् होता है जो आज्ञा-प्रधान होता है। आज्ञाप्रधान संघ ही, संघ कहलाता है। आज्ञा-शून्य संघ, संघ नहीं, सिर्फ हड्डियों का ढेर है। हमारा संघ हड्डियों के ढेर का संघ नहीं, वह विचारकों का संघ है। हमारे लिए यह महान् गौरव का विषय है कि महामहिम आचार्य भिक्षु ने आज के दिन अन्तिम मर्यादाओं का संकलन कर इस संघ को आज्ञा-प्रधान बनाया। वे महापुरुष थे। उन जैसे महापुरुष इस धरातल पर कभी-कभी ही अवतरित हुआ करते हैं। आचार्य भिक्षु ऐसे हुए, वैसे हुए, उन्होंने यह किया, वह किया, केवल ऐसी आवाज लगाने में गौरव की बात नहीं, गौरव की बात तो इसमें है कि हम उनके जीवन-चरित्र से शिक्षा ग्रहण करें। हमारे हृदय में ऐसी प्रेरणा जाग्रत रहे कि हम भी अपने जीवन को उनके जीवन जैसा बनाने के लिए हर पल उद्योगशील रहें। हममें भी वैसा आत्म-बल, वैसी आत्म-निष्ठा और वैसी आत्म-भावना जाग्रत रहे। आचार्य भिक्षु ने जो मर्यादाएँ बनाई उनमें परिवर्तन की कभी आवश्यकता ही नहीं पड़ी। मर्यादायें बनीं, परिवर्तन नहीं किया गया, इस बात का गौरव नहीं, गौरव इस बात का है कि परिवर्तन की कभी आवश्यकता ही नहीं पड़ी। आचार्य भिक्षु ने संघ का विधान बनाया इसका गौरव नहीं, गौरव इस बात का है कि आज सैकड़ों विधान-विशेषज्ञ मिलकर भी ऐसा विधान बनाने में अपने आपको असमर्थ महसूस करते हैं, जो चिरस्थायी बन सके। आज के दिन आचार्य भिक्षु ने संघ विधान की रचना की और तात्कालिक उनके साथी साधुओं ने विधान के लिए स्वीकृति प्रदान की। इसके साथ ही साथ समस्त संघ मर्यादाओं की कुँजी भी आचार्य के हाथ में सौंपी गई। शास्त्रीय मर्यादाओं के अतिरिक्त संघीय मर्यादाएँ वर्तमान आचार्य के हाथ में हैं। उनमें परिवर्तन व परिवर्धन करने का उन्हें पूर्ण अधिकार है। मैं सोचता हूँ तो मुझे लगता है कि ऐसे जीवन का क्या महत्व है, जो मर्यादाहीन हो। मर्यादाहीन जीवन में कोई आकर्षण नहीं होता। वही जीवन महत्त्वपूर्ण और आकर्षक होता है जो मर्यादित होता है। मर्यादा में रहनेवाला पानी जहाँ खुद आकर्षक होता है वहाँ कितनी शस्य-सम्पत्ति को भी निष्पन्न करता है। जो बाह्य मर्यादाओं को तोड़ गिराते हैं, वे जहाँ अपना आकर्षण खो बैठते हैं,

वहाँ दूसरों के लिए भी बड़े घातक और विध्वंसक बन बैठते हैं। यही बात मर्यादाहीन और मर्यादायुक्त जीवन के लिये लागू होती है। लोग सम्भवतः सोचते होंगे कि आज के दिन में ऐसा क्या आकर्षण ? तो इस प्रश्न का उत्तर यही है कि अगर इस दिन में कोई आकर्षण नहीं होता तो आज हजारों की संख्या में लोग यहाँ क्यों इकट्ठे होते ? लोग समझें, आज मर्यादा का दिन है। हम एक संघ में हैं और संघ में आज्ञा की प्रधानता होती है। जो आज्ञायुक्त होता है, वही संघ होता है। अतएव हर एक मनुष्य के लिए मर्यादा में रहना आवश्यक है। मर्यादा लांघने से महान् अनर्थ होता है। अतः जो भी मर्यादाएं हमारे संघ के लिए बनाई गई हैं, हमें सजीवता के साथ उनका पालन करना चाहिए।

संगठन का आधार

मर्यादा में संगठन होता है पर हमारी मर्यादा सिर्फ संगठन-प्रधान नहीं, आचार-प्रधान है। संगठन यहाँ गौण और आचार प्रधान है। मेरी दृष्टि में वह संगठन इतना मजबूत, चिरस्थायी और विशुद्ध नहीं जहाँ केवल संगठन को ही मुख्यता दी जाती है। आचार की सुव्यवस्थित शृङ्खला में जकड़ा रहने वाला संगठन ही वास्तव में मजबूत, दीर्घकालिक और विशुद्ध संगठन होता है। संगठन का आधार प्रेम होता है और प्रेम का आधार विशुद्ध आचार। हमारे संघ में प्रेम और विशुद्ध आचार दोनों हैं और इन दोनों का ही मार्ग विशुद्ध अहिंसा का मार्ग है।

शिष्य-परम्परा के लिये जिहाद

साधु-संस्था किन कारणों से शिथिल पड़ती है, इस बात का आचार्य भिक्षु को तलस्पर्शी ज्ञान था। उन्होंने मर्यादाओं का निर्माण करते समय विधान-पत्र में उनका उद्देश्य बतलाते हुए लिखा है—"**इन मर्यादाओं का निर्माण इसलिए किया जाता है कि साधु-साध्वी शिष्यादि के लोभ से निवृत्त हो विशुद्ध चरित्र पालें तथा विनय-अनुशासन की परम्परा को सदा उज्ज्वल बनाए रखें।**" आचार्य भिक्षु ने शिष्य-प्रथा को समाप्त कर हमारे संघ की नींव को अत्यन्त मजबूत बना दिया। आचार्य भिक्षु शिष्य-प्रथा के विरोधी थे। इसको वे संगठन के लिए भयंकर खतरा समझते थे। उन्होंने तात्कालिक स्थितियों में यह अनुभव किया था कि साधुओं में शिष्यों की बड़ी भूख है। वे इसी कार्य में व्यस्त रहते हैं। योग्य या अयोग्य जो कोई मिले उसे मूंड़-मूंड़कर जहाँ साधु-संघ की प्रतिष्ठा को धूलधूसरित कर रहे हैं

वहाँ संगठन के भी टुकड़े-टुकड़े कर रहे हैं। परिणामतः साधुओं की भिन्न-भिन्न टोलियाँ स्व-हित और लोक-हित के कल्याणकारी अनुष्ठान को भूलकर पारस्परिक स्पर्धा और वैमनस्य में ही अपनी-अपनी शक्ति को विनष्ट करने लग जाती हैं। यही कारण था कि आचार्य भिक्षु ने विशुद्ध चरित्र और विनयमूल धर्म की रक्षा के लिए विधान की सर्वप्रथम धारा यही बतलाई: **"साधु-साध्वी करणा ते भारमलजी रे नामे करणा, आपरे नामे चेला-चेली करणा रा सर्व साधु-साध्वां रे पचक्खाण छै"**—अर्थात् किसी को दीक्षित करना तो केवल गुरु के नाम से ही करना, अपने पृथक्-पृथक् शिष्य करने का सबको प्रत्याख्यान है।

आचार का फल

यह मैं पहले ही कह आया हूँ कि आचार्य भिक्षु की दृष्टि में संगठन का उतना महत्त्व नहीं था जितना चरित्र का। चरित्र अगर अस्खलित रहेगा तो संगठन अपने-आप उसके पीछे आयेगा। उनकी दृष्टि में संगठन के पीछे चरित्र नहीं बल्कि चरित्र के पीछे संगठन था। जब पूछा गया—"भीखन जी! आपका मार्ग कब तक चलेगा?" तो उन्होंने दृढ़तापूर्वक उत्तर दिया, **"जब तक हमारे साधु-सन्तों में मठ, स्थान, स्थल बनाने की प्रवृत्ति नहीं होगी, वस्त्र आदि की मर्यादा का वे उल्लंघन नहीं करेंगे और जब तक वे श्रद्धा, आचार और शुद्ध नीति में दृढ़ रहेंगे तबतक यह मार्ग विशुद्ध रूप से चलता रहेगा।"** स्वामी जी के ये अमर उद्गार जहाँ आचार की महत्ता को व्यक्त करते हैं वहाँ हमें दृढ़ रहने के लिए सदैव प्रेरित करते रहते हैं। स्वामी जी की जीवन-चर्या को याद कर मेरा रोम-रोम पुलकित हो उठता है। मुझसे जब कोई पूछता है—"महाराज! क्या धर्म में प्रकाश होनेवाला है?' तो मेरे मुँह से अनायास ही यह निकल पड़ता है कि मुझे तो धर्म में प्रकाश ही प्रकाश दिखाई पड़ रहा है। इसका एकमात्र कारण स्वामी जी की आचार-निष्ठा और विश्वास का बल है।

चरित्र ही जीवन है

आचार्य भिक्षु एक निर्भीक वक्ता थे। आचार को वे सर्वस्व, प्राण और निधि समझते थे। उनसे कोई कहता कि आप साधु-साधु सब एक साथ मिल क्यों नहीं जाते? तो वे निर्भीकता पूर्वक अपना मन्तव्य प्रकाशित करते और कहते:

"कहो साधु किसका सगाजी, तड़के तोड़े नेह,
आचारी स्यूं हिलमिल रहे जी, अनाचारी स्यूं छेह"

साधुओं का किसके साथ सम्बन्ध है? आचारियों के साथ हमारा सम्बन्ध है और अनाचारियों से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं। अचारहीन चाहे कितने ही विद्वान क्यों न हों पर हमारा उनके साथ कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। वर्तमान में कुछ लोगों के दिमाग में यह विचार भी चक्कर काटता रहता है—"आजकल तो अच्छे-अच्छे साधु संघ से बाहर हो रहे हैं!" मैं समझ नहीं पाता, अच्छा वे किसे समझते हैं। अच्छे की परिभाषा क्या है? क्या अमुक साधु अच्छा इसलिए समझा जाता है कि वह कपड़े बड़े अच्छे पहनता है या मांग कर भोजन लाने में बड़ा होशियार है अथवा बडा अच्छा लेखक या वक्ता है? साधु के अच्छा होने का इन सब बातों से इतना सम्बन्ध नहीं जितना आचार से है। आचारवान् साधु ही अच्छा साधु होता है। आचारयुक्त, निष्कलंक जो होगा वह न तो संघ से निकलेगा और न उसे संघ से निकलने के लिए बाध्य ही किया जायगा। लेकिन जो आचारहीन, मर्यादाहीन होंगे वे निकलेंगे अथवा निकाल दिये जायेंगे। उनकी कोई चिन्ता नहीं होनी चाहिए। यह चिन्ता की बात है ही नहीं। चाहे पीछे कितने ही रहें, अगर पीछे रहनेवाले थोड़े होकर भी आचारवान् हैं तो कोई चिन्ता की बात नहीं। आचारवान् थोड़े से भी अपार शक्ति और आकर्षण के केन्द्र होते हैं। आचारभ्रष्ट बहुत से होकर भी निकम्मे और निष्प्रयोजन हैं। वे न अपना उद्धार करने में समर्थ हो सकते हैं और न औरों का उद्धार करने में ही। पतित से कोई पावन नहीं बन सकता। पावन, पावन से ही बन सकता है। संघ में एक भी पतित, आचारभ्रष्ट तथा शिथिलाचारी का रहना किसी काम का नहीं। सबको स्मरण होना चाहिए कि आचार्य भिक्षु के अन्य १२ साथियों में से घटते-घटते अन्त में ६ साथी ही रह गये थे। साध्वियाँ उस वक्त थी ही कहाँ? जो रहे वे बड़े आचारकुशल थे। उसीका ही तो परिणाम है कि आज उन सात की जगह ७०० के आसपास साधु-साध्वियाँ संघ में विद्यमान हैं। अतएव प्रारम्भ से हमारा जो मन्तव्य रहा है वह मन्तव्य आज भी अक्षुण्ण रूप से चला आ रहा है। वह है—"**आचार की महत्ता**"।

संगठन आचार-प्रधान हो

आचार को महत्त्व देना हमारा प्रमुख काम है। आज का युग संगठन का युग है। संगठन की चर्चाएँ आजकल दिन-रात जगह-जगह पर सुनी जाती हैं। हमारे सामने भी समय-समय पर संगठन की आवाज लगती रहती है। लोग हमें संगठन-प्रेमी समझते हैं; वस्तुत: हम संगठन व एकता के अनन्य प्रेमी हैं। हम एकता चाहते हैं। सबमें परस्पर प्रेम हो,

अप्रेम न रहे, सबमें एकता हो, अनेकता न रहे—इसमे सहमत हैं पर एक बात जरूर है कि हम यह मानते हैं कि एकता और संगठन का आधार आचार होना चाहिए। जहां आचार में मजबूती और दृढ़ता नहीं है वहाँ संगठन की नींव रखने का हम समर्थन नहीं कर सकते। मैं पहले ही कह आया हूँ, हमारी दृष्टि में आचार प्रधान है न कि संगठन।

विधान-पत्र के सम्बन्ध में

अब मुझे स्वामी जी द्वारा निर्मित विधान-पत्र के विषय में प्रकाश डालना है। स्वामी जी ने एक प्रथम और एक अन्तिम दो संघ-विधान-पत्र लिखे। दोनों में अक्षर-अक्षर स्वामी जी के हाथ के लिखे हुए हैं। प्रथम विधानपत्र विक्रम सं० १८३२ का है और अन्तिम विधान-पत्र विक्रम सं० १८५९ का है। १८३२ से पहले स्वामी जी ने संघ में किसी संघीय मर्यादा विशेष का निर्माण नहीं किया था। प्रथम विधान-पत्र में साधुओं के हस्ताक्षर है। उनसे प्रतीत होता है कि आप उक्त समय तक १३ से ७ की संख्या में ही रह गये। अन्तिम विधान-पत्र पर २० साधुओं के हस्ताक्षर हैं। ये दोनों विधान-पत्र हमारे लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं और हमारी संघ-शक्ति के लिए ये अमूल्य निधियाँ है। हमारी समूची शक्ति इन दोनों में निहित है। हमारा गौरवपूर्ण इतिहास इन दोनों में सुरक्षित है और सदैव सुरक्षित रहेगा। दोनों पत्रों में प्रायः एक समान धाराएँ हैं। जो धाराएं प्रथम पत्र में हैं प्रायः वे-की-वे अन्तिम पत्र में दुहराई गई हैं। कुछ मुख्य धाराएँ इस प्रकार हैं :

१—अब से संघ में एक आचार्य हमारे संघ के प्रमुख रहेंगे।

२—समूचा संघ एक आचार्य के अनुशासन में अनुशासित रहेगा।

३—सारे चेला-चेली एक आचार्य के शिष्य होंगे। आचार्य की अनुमति के बिना कोई भी किसी को दीक्षित नहीं कर सकेगा।

४—वर्तमान आचार्य ही अपने उत्तराधिकारी का चुनाव करेंगे। वे जिस पर शासन का भार सौंपें, सारे संघ का कर्त्तव्य होगा कि वह बिना किसी प्रकार की आनाकानी किये निष्ठापूर्वक उसके अनुशासन को शिरोधार्य करके चले।

५—संघ से बहिष्कृत या बहिर्भूत व्यक्ति के साथ सम्बन्ध न रखें।

६—किसी में दोष देखे तो उसे न तो छिपाये और न उसका अन्यत्र प्रचार करें। दोष-दोषी को बतलाये या फिर गुरु को सूचित करे। किसी कारण से दोष को पहले न कहकर जो बाद में उसका प्रकाशन करेगा वास्तव में वही दोष का भागी होगा। अगर दोषी दोष स्वीकार करे तो उसे दण्ड

दिया जाय, न करे तो उतना दण्ड उस व्यक्ति को देना चाहिए जो वर्तमान के दोष को भविष्य में कहे।

७—संघ के वस्त्र, पात्र, पुस्तक आदि पर संघ का सर्वाधिकार है। आचार्य की आज्ञा से ही उनका उपयोग किया जा सकता है। संघ से सम्बन्ध-विच्छेद होते समय उन्हें अपने साथ में ले जाने का किसी को भी अधिकार नहीं है। अस्तु।

उज्ज्वलता का प्रतीक

ये धारायें हमारे संघ के उज्ज्वल भूत, उज्ज्वल वर्तमान व उज्ज्वल भविष्य की प्रतीक हैं। इनके प्रति हमारी जितनी निष्ठा हो उतनी ही हमारे रम्य व विकसित जीवन की ये परिचायक हैं। ये मर्यादाएं हमारे जीवन हैं, सर्वस्व हैं, निधि हैं। इनके प्रति हमारी जो निष्ठा है, उसे हम सहस्रगुणी अधिक बढ़ाते हुए इन्हें सदैव अस्खलित रूप से निभाते रहें।

मर्यादा का प्रतीक

मर्यादा का जीवन क्या साधु और क्या गृहस्थ, सबके लिए उपयोगी है। गृहस्थ समाज को धार्मिक मर्यादाओं में प्रतिष्ठित करने के लिए अणुव्रती संघ की स्थापना की गई है। अणुव्रत-योजना मानव के असंयमित जीवन को संयमित बनाकर मानवीय-आदर्श का एक महानतम सन्तुलन उपस्थित करती है। आज मैं गृहस्थ समाज को आमन्त्रित करना चाहूँगा कि वे अगर जीवन को मर्यादित बनाना चाहते हैं तो अणुव्रत के राजमार्ग पर अग्रसर हों।

२२ : ऐक्य, अनुशासन एवं संगठन का प्रतीक

संसार में समारोह बहुत होते हैं, पर आज के युग में जबकि मर्यादा-विहीनता बढ़ती जा रही है ऐसे समारोह की बहुत बड़ी अपेक्षा व आवश्यकता है, जिससे जीवन में मर्यादा की प्रभावना हो ; क्योंकि मर्यादा मानव के विकास को बाँधती नहीं, उसे वास्तविक गति देती है। आजादी के बाद लोग ऐसा समझने लगे कि हम पर अब अंकुश की आवश्यकता नहीं है, पर आजादी का मतलब मर्यादाहीन, निरंकुश और उच्छृङ्खल बन जाना नहीं है। यदि लोगों ने ऐसा समझा है तो उन्होंने बड़ी भूल की है। आजादी में मर्यादा की और अधिक आवश्यकता है। होनेवाला समारोह संघीय

ऐक्य, अनुशासन व संगठन की मर्यादा का एक स्फूर्तिमय पाठ देता है; इसलिए इसका नाम मर्यादा महोत्सव है। जैसा कि मेरा ख्याल है, भारत में अपने ढंग का यह पहला समारोह है।

सही माने में धार्मिक बनने की आवश्यकता है। केवल धर्माचरण का बाहरी स्वांग रचने से आत्महित नहीं होता, जीवन का उत्थान नहीं होता। जीवन को उठाने के लिए तो धर्म को जीवन में उतारना ही होगा। संसार में अनेकों मत हैं; पंथ हैं पर हमें उनसे लड़ना-झगड़ना नहीं है, उनपर आक्षेप नहीं करना है। हमारा कार्य तो सिर्फ इतना ही होना चाहिए कि उन मतों में समाहित सत्तत्त्वोंको जीवन में उतारा जाय। सब धर्मों के मौलिक तत्त्व समान हैं। उनका लक्ष्य एक है पर देखना यह है कि उनके नियम, शील और व्रत उनके अनुयायियों के जीवन में कितने क्या उतरे हैं? अपने आपको उच्च और धार्मिक समझनेवाले जीवन को निर्लेप, शुद्ध, सात्त्विक और पवित्र बनाएं। धर्म के नाम पर दिखावा, प्रदर्शन और आडम्बर को प्रोत्साहन दिया गया तभी तो धर्म बुद्धिजीवियों को आकृष्ट नहीं कर पा रहा है। टीका, टिप्पणी, ईर्ष्या, जलन और देखादेखी से मानव क्या लाभ पा सकेगा? उससे तो नुकसान ही होगा। अतः मैं चाहूँगा कि प्रत्येक व्यक्ति धर्म के अहिंसा, सत्य और एकतामूलक रूप को अपने जीवन में ढालें।

भीलवाड़ा
(गवर्नमेंट कॉलेज),
१४ फरवरी '५६

२३ : जीवन में मर्यादा का स्थान

इस पौने दो सौ वर्ष पूर्व बने विधान की उपयोगिता इससे बड़ी और क्या हो सकती है कि आज लगभग ६५० साधु-साध्वियों का यह धर्म संघ इसके आधार पर चलता हुआ दिन प्रति दिन प्रगति की ओर अग्रसर हो रहा है। सचमुच जीवन में मर्यादा, संयमन और नियमन का बड़ा स्थान है। मर्यादाहीन जीवन केवल कहने भर को जीवन है, जीवन का ओज और सत्त्व उसमें कहाँ? दिन पर दिन मर्यादाहीनता की ओर आगे बढ़ते हुए मानव समुदाय के लिए यह एक सम्बल है, प्रेरणा-स्रोत है। मैं इस अवसर पर उपस्थित प्रत्येक भाई-बहिन से कहना चाहूँगा कि वे अपने को संयम, सदाचार, अनुशासन और शील की मर्यादा में बाँधें।

भीलवाड़ा
१८ फरवरी '५६

२४ : बहनों का कर्त्तव्य

आज बहनों में जो पारिवारिक झगड़े दृष्टिगोचर हो रहे हैं वे किसी से छिपे नहीं हैं। आज सास और बहू एक घर में नहीं रह सकतीं; देवरानी व जिठानी एक साथ नहीं रह सकतीं; इसका कारण क्या है? यही तो कि प्रत्येक चाहती है कि सारे अधिकार उसके हाथों में आ जाय, वह घर की मालकिन बन जाय। बहनें इस मनोवृत्ति को अपने मन से निकाल दें। केवल अधिकार की मांग में ही वे न उलझें। बहनों में विनय, सहनशीलता, नम्रता और विवेक होना चाहिए। मैं सबसे बड़ी मानी जाऊँ, मुझे सब मान दें—यह ऐसी मनोवृत्ति है जो संघर्ष और टक्कर पैदा करती है; क्योंकि उसके अतिरिक्त दूसरी बहनें भी तो ऐसा ही चाहेंगी।

जीवन का सार संयम और सात्त्विकता है। यही सच्चा सौन्दर्य है। बाहरी प्रदर्शन, दिखावा, फैशनपरस्ती जीवन का सही लक्ष्य नहीं कहा जा सकता। संयमाचरण और सद्वृत्तियों का ग्रहण जहाँ बहिनों का अपना जीवन ऊँचा उठायेगा वहाँ परिवार के बालक-बालिकाओं में भी वह एक सात्त्विक ओज पैदा करेगा।

बहनों का दृष्टिकोण भौतिक नहीं आध्यात्मिक होना चाहिए। दृष्टि-बिन्दु यदि आध्यात्मिक रहा तो उनके जीवन की गति विलासिता और संकुचितता से दूर संयतता और सात्त्विकता से ओतप्रोत रहेगी।

भीलवाड़ा
२० फरवरी '५६

२५ : सत्यनिष्ठा की सर्वाधिक आवश्यकता

जीवन में नीतिमत्ता, प्रामाणिकता और सत्य निष्ठा की सर्वाधिक आवश्यकता है। इनसे जीवन सही माने में ओज, शक्ति और विकास पाता है। यह तथ्य सब स्वीकार करते हैं पर खेद इस बात का है कि आज इसके प्रति सच्ची निष्ठा मानव में नहीं रह गई है। उसके मस्तिष्क में यह जम नहीं पाता कि आज के युग में सच्चाई और ईमानदारी से भी काम चलाया जा सकता है। उसका सोचना यह है कि आज का वातावरण ही कुछ ऐसा बन गया है कि उसके अणु-अणु में असदाचार, बेईमानी और अनैतिक भाव बुरी तरह भरे पड़े हैं। तब भला कैसे यह सम्भव माना जाये कि एक व्यक्ति भलाई और सच्चाई के साथ बरतता हुआ अपना जीवन-यापन कर सकता है। पर यदि गहराई से सोचा जाय तो बात ऐसी नहीं है

सचाई और ईमानदारी का प्रयोग जीवन में सचमुच शान्ति का संचार कर सकता है। हो सकता है पहले-पहले कुछ कठिनाई प्रतीत हो पर दृढ़ता के साथ इन पर डटे रहने से जीवन-व्यवहार में प्रविष्ट अनेकों उलझनें सुलझ जाती हैं। जीवन हल्का और सात्त्विक बनता है। मैं उपस्थित व्यापारी बन्धुओं से कहना चाहूँगा कि वे अपने व्यापार-व्यवसाय में अधिकाधिक नीतिमत्ता और सच्चाई का समावेश करें। वे इस विचार को दिमाग से सर्वथा दूर कर दें कि इससे उनका काम अवरुद्ध हो जायगा। सच्चाई के मार्ग पर चलनेवालों को अलबत्ता कठिनाइयों का सामना तो करना ही पड़ता है पर याद रखें सच्चा वीर और साहसी वही है जो सत्यनिष्ठा, नैतिकता और सदाचरण के मार्ग पर सत्यनिष्ठा के साथ झेलता हुआ कठिनाइयों, बाधाओं और असुविधाओं की जरा भी परवा न करे। मुझे आशा है, व्यापारी बन्धु अपने जीवन को अधिकाधिक प्रामाणिक और सत्य निष्ठ बनाने में यत्नशील होंगे।

बड़े खेद का विषय है कि आज मानव का जीवन एक ऐसे हीन-प्रवाह से गुजर रहा है कि यदि गम्भीर और सूक्ष्म दृष्टि से पर्यवेक्षण करते हुए कहा जाय तो कहना होगा कि इस अवमूल्यन ने उसे मानव नहीं रहने दिया है। वह केवल हाड़-मांस का पुतला जैसा रह गया है। आकार में कहने भर को वह मानव है पर उसके मानवीय गुण उत्तरोत्तर मिटते जा रहे हैं। जहाँ पैसे के लिए वह अपना ईमान बेचते नहीं सकुचाता, प्रामाणिकता को तिलाजलि देते जरा भी नहीं हिचकिचाता, समझ नहीं पड़ता वहाँ उसमें मानवता रह कहाँ गई है! आज मानव को अपने जीवन का मूल्य बदलना है। पैसा, परिग्रह व स्वार्थ के बदले उसे त्याग, संयम और सदाचार को महत्त्व देना है। जीवन को अधिकाधिक सरल, सादा और सात्त्विक बनाना है। अणुव्रत-आन्दोलन इसी भावना को लेकर चलता है। उसका स्वर है—जनजीवन में नैतिकता व्यापे, सदाचरण प्रसार पाये, जीवन व्यवहार संयम से सना हो। यही वह मार्ग है, जो आज के अलसाए लोक-जीवन में एक पुण्य प्रेरणा फूंक सकता है। यह जीवन-मूल्यों के अहिंसा व अपरिग्रहपरक परिवर्तन का नया मोड़ है। सत्य, सदाचार और शील किसी की बपौती नहीं। ये तो उन्हीं के है, जो इनका परिपालन करे। यही कारण है कि यह आन्दोलन जाति, वर्ग, सम्प्रदाय व वर्णभेद की खाइयों से सर्वथा दूर जीवन-विकास का एक सार्वजनिक विशुद्ध पथ है। मैं चाहूँगा कि इसके अर्थ को समझते हुए सब लोग इस ओर अग्रसर होंगे।

भीलवाड़ा

२२ फरवरी '५९

२६ : भारतीय दर्शन अन्तर्दर्शन

साथ ही साथ एक आवश्यक बात जो भारतीय दर्शन हमें देता है वह है कि व्यक्ति परमुखापेक्षी बन अपने जीवन को, अपनी कर्मठ शक्तियों को परावलम्बी न बना दे। स्वावलम्बन भारतीय चिन्तन का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। एक ओर हम ऐसे विचार देखते हैं कि अतीत चला गया, वर्तमान चल रहा है, भविष्य जैसा आयेगा, आयेगा—इनपर किसका क्या नियंत्रण ? पर भारतीय दर्शन इससे सहमत नहीं है। वह तो ओजस्वी आत्म-शक्ति द्वारा वर्तमान, भूत और भविष्य तीनों को बदल देने का मार्ग देता है। वैदिक साहित्य में हम विश्वामित्र की कहानी पाते हैं। विश्वामित्र सोचते हैं—मैं उसका पुत्र क्यों रहूँ जो ऋषि न हो ? वे स्वयं अपने उन्नत कार्यों से ऋषि बनने तक ही अपने को सीमित रख सन्तुष्ट नहीं बनते, वे अपने पिता को भी ऋषि के रूप में देखना चाहते हैं। पिता ही क्यों, वे अपने पितामह तक ऋषित्व लाना चाहते हैं और लाते हैं। संक्षेप में मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि भारतीय दर्शन पुरुषार्थवादी व श्रम-वादी दर्शन है। पुरुषार्थ और श्रम से क्या असाध्य है ? कुछ भी तो नहीं।

दर्शन का अर्थ है—जीवन का निरीक्षण, आत्मा का अन्वेषण। आत्म-दर्शी परमात्मदर्शी होता है, सर्वदर्शी होता है। **"यः आत्मवित् स सर्ववित्, तत्तेन जातं येन आत्मज्ञातः"**—ये उक्तियाँ स्पष्ट बताती हैं कि जिसने आत्मा को जाना उसने सब कुछ जाना। जिसने आत्मा को नहीं जाना, उसने कुछ नहीं जाना। भारतीय दर्शन अन्तर्दर्शन है। वह केवल बाहरी पदार्थों को ही नहीं देखता, जीवन के अन्तरतम की गुत्थियों को भी देखता है और उन्हें सुलझाने का पथ-दर्शन देता है। शरीर व मन के विकारों का परिहार कर आत्मा के शुद्ध स्वरूप की अभिव्यक्ति, उसका अभिप्रेत है, जिसे शब्दान्तर में मोक्ष से अभिहित किया जा सकता है। मैं चाहूँगा कि भारतवासी अपने पूर्वज ऋषि-मुनियों के अनवरत श्रम और साधना से प्रसूत इन शाश्वत तत्त्वों को यथावत् समझेंगे व जीवन-व्यवहार में उन्हें ढालेंगे।

भीलवाड़ा

२३ फरवरी '५६

२७ : अवधान

अवधान कोई जादू या मन्त्र नहीं है। यह साधना लक्ष्य-स्मृति वैशिष्ट्य है, मति ज्ञान का एक प्रकार है। अवधान प्रयोग से यह स्पष्ट है कि

यदि इसे विकसित किया जाए तो मति ज्ञान बड़े अनोखे कार्य कर सकता है। शास्त्रों में तो यहाँ तक उल्लेख है कि विकसित मति व ज्ञान के सहारे व्यक्ति जन्म-जन्मान्तर तक की बात जान सकता है। इसके साथ-साथ विद्वानों से यह भी तो छिपा नहीं है कि प्राचीन काल में भारतीय वाङ्मय अधिकांशतः स्मरण-शक्ति के सहारे ही जीवित रहा। जैन वाङ्मय तो जैन आचार्यों की स्मृति मे बचे रहने के ही फलस्वरूप ग्रन्थ-रूप में आया। स्मरण-शक्ति बढ़ाने के लिए चित्त की एकाग्रता, स्थिरता और सतर्कता की आवश्यकता है। ऐसा होने से सुनी या देखी हुई वस्तु झट दिमाग से निकल नहीं पाती। पर मुझे एक खास बात आपलोगों को बतानी है। इन सब विद्याओं, कलाओं आदि का प्रयोग व्यक्ति आत्म-शुद्धि में करे। यदि आत्म-शोधन से व्यक्ति दूर रहा तो उसने जीवन में किया ही क्या? आप सबको इससे प्रेरणा लेनी है।

भीलवाड़ा
२४ फरवरी '५६

२८ : शिक्षक और शिक्षार्थी

राष्ट्र-निर्माण के लिए यह अपेक्षित है कि विद्यार्थियो का जीवन सदाचार, अनुशासन, विनय और सद्भावना के साँचे में ढाला जाय। इसके लिए जितने प्रयास हों, वे कम हैं। देश और समाज तब तक अँधेरे में रहेगा, जब तक जन-समुदाय इन सद्वृत्तियों से सुसज्जित नहीं होगा। विद्यार्थी ही तो उनकी बुनियाद हैं। ये ही तो आगे चलकर सारा भार वहन करने-वाले हैं। उनका जीवन जितना उन्नत और विकसित होगा राष्ट्र और समाज उतना ही आगे बढ़ेगा। इसके लिए सबसे पहली आवश्यकता मैं यह मानता हूँ कि अध्यापकों का जीवन सही माने में उन्नतिशील और सात्त्विक बने। अध्यापकों की वाणी नही, उनका जीवन विद्यार्थियों के लिए एक जीवित आदर्श है। उनके जीवन की अच्छाइयाँ और बुराइयाँ विद्यार्थियों के जीवन पर तत्काल अच्छा या बुरा असर डालती हैं। विद्यार्थियों के जीवन-चित्र के निर्माता (चित्रकार) अध्यापक हैं। रंग, तूलिका, पत्र, भित्ति जो चित्र के लिए अपेक्षित होते हैं, वे सब कुछ हैं पर यदि योग्य और कुशल चित्रकार न हो, तो इन सबके बावजूद सत्य, शिव और सुन्दर नहीं आता। अतः मैं विद्यार्थियों को कुछ मार्ग दर्शन दूं, इससे पूर्व अध्यापकों से यह कह देना चाहूँगा कि वे सँभलें, अपने जीवन को निरखें-परखें। कहीं

वे दुर्गुण तो उनमें नहीं भरे हैं, जो उनके अपने जीवन को तो मिटाते ही हों, विद्यार्थियों के लिए भी एक विकृत और गलत मिसाल पेश करते हों।

ग्रन्थ के ग्रन्थ कण्ठस्थ कर डाले, अनेक विषयों की जानकारी पा ली पर इन सबसे क्या बना, यदि जीवन में सद्विवेक नहीं जागा, असत् से निवृत्ति और सत् की ओर प्रवृत्ति जीवन में नहीं व्यापी? इसलिए भगवान् महावीर ने कहा—"**सच्चा पण्डित और ज्ञानी वह है, जिसमें विरक्ति है, संयम है। संयम जीवन का भूषण है, वह आत्माकी सुसज्जा है। विनय, नम्रता, मैत्री, बन्धुता, सहिष्णुता, अनुशासन ये संयम के सुफल हैं।**" मैं कहूँगा कि विद्यार्थी प्रारम्भ से ही अपने जीवन को संयमित, नियमित और अनुशासित बनाने के लिए यत्नशील हों। आये दिन हम सुनते हैं कि अमुक स्थान पर विद्यार्थियों ने तोड़-फोड़ कर डाली, भूखे भेड़ियों की तरह वे उपद्रव करने को टूट पड़े। यह विद्यार्थियों के लिए कतई शोभनीय नहीं। उनका जीवन तो ज्ञानाराधना और आचार-साधना का जीवन है। उनका यह निर्माणकाल है, जिसमें उन्हें अपने आपको बनाना है, विकास की पगडण्डी पर चलते हुए सही माने में उन्हें उन्नत बनना है। इस सृजन-वेला को वे विध्वंस में लगाएँ, क्या यह उचित है?

अणुबम जैसे विध्वंस और संहार लानेवाले भयावह अस्त्र-शस्त्रों से आज संसार थक चुका है। शान्ति लाने के बहाने अशान्ति का ताण्डव मचाने-वाले इन विनाश-साधनों से ऊबी हुई दुनिया आज शान्ति की टोह में है। ऐसी स्थिति में मैं कहूँगा शान्ति का एकमात्र साधन अहिंसा है, मैत्री है, समता है। अणुव्रत-आन्दोलन इन्हीं के माध्यम से चलनेवाला एक सृजनात्मक आन्दोलन है, जो ऐसे मानव की सृष्टि करना चाहता है, जो संघर्ष में नहीं समन्वय और समभाव में निष्ठा रखनेवाला हो, जो पशु बल से नहीं, आत्मबल से विजय पाना चाहता हो। मैं विद्यार्थियों से कहना चाहूँगा कि वे इस आन्दोलन को समझें, इसके आदर्शों को जीवन में ढालें ताकि आगे चलकर एक ऐसे राष्ट्र, एक ऐसे समाज का निर्माण हो, जो सत्य, न्याय, नीति, सदाचरण, ईमानदारी और प्रामाणिकता जैसे ऊँचे आदर्शों पर टिका हो।

गुलाबपुरा
४ मार्च '५६

२९ : अन्तर-निर्माण

कहने को कहा जाता है कि आज मानव ने बड़ा विकास किया है, वह बहुत आगे बढ़ा है पर जरा बारीकी से टटोलिये, क्या वास्तव में ऐसा हुआ है, क्या उसने अपने जीवन में सुख और शान्ति पाई है? स्पष्ट झलकेगा कि ऐसा नहीं हुआ है। उसका जीवन आज बुरी तरह प्रताड़ित और पीड़ित जैसा है। बहुत-कुछ पाने पर भी वह खोया-खोया-सा है। यही कारण है कि वह आज स्वयं यह महसूस करने लगा है कि उसे इस तथा-कथित उन्नति से मुँह मोड़ना चाहिए। बाहरी जीवन को सजाने में, बढ़ाने में जहाँ उसने दिन-रात एक कर दिये, वहाँ आज उसे अपने अन्तर-जीवन को सजाना होगा। इसके लिए उसे करना क्या है, मैं बताना चाहूँगा। आप यह मत सोचिये कि मैं आपको कोई अभूतपूर्व बात कहूँगा। मैं तो शाश्वतकाल से भारत के ऋषि-महर्षियों द्वारा कहे गये तत्त्व की बात ही कहूँगा, जो प्राचीन होते हुए भी जीवन में अभिनव शक्तियों का संचार करने के कारण नवीन है। भगवान् महावीर ने बताया—"**सत्य की खोज करो, उसका विश्लेषण करो, जीवन को तदनुकूल सांचे में ढालो। दूसरों को कष्ट मत दो, शोषण मत करो।**" कितना अच्छा हो यदि इन आदर्शों पर आज का मानव चलने लगे। यदि ऐसा हुआ तो जीवन को जर्जरित बनानेवाली समस्याएं स्वतः निर्मूल हो जायेंगी।

भारत के दार्शनिकों और विचारकों ने अपने सतत अनुशीलन और चिन्तन के फलस्वरूप ज्ञान, भक्ति और कर्म जैसे तत्त्वों पर अनूठी सूझ दी है। भगवान् महावीर ने बताया—"**ज्ञान और कर्म का समन्वय करो, सत्य को जानो, उसे कर्म में अनुप्राणित करो।**" यह लक्ष्य है जिसे अपनाकर व्यक्ति जीवन का सच्चा विकास कर सकता है। कर्म में आने से ही सत्य की सार्थकता है नहीं तो उन ऊँचे सिद्धान्तों से क्या बनेगा, यदि वे लम्बी-लम्बी बातों तक ही परिसीमित रह जाएँगे। अणुव्रत-आन्दोलन की इसलिए प्रतिष्ठापना की गई कि व्यक्ति सत्य को व्यवहार में संजोए, अहिंसा और संयम का आदर्श जीवन-वृत्तियों में लाए। अणुव्रत-नियम इन आदर्शों के जीवनोपयोगी संस्करण हैं।

धर्म साम्प्रदायिक संकीर्णता में नहीं है, वह जातिवाद, वर्गवाद और वर्ण-वाद जैसे सँकड़े बन्धनों में नहीं बँधा है। पर खेद है कि तथाकथित धार्मिकों ने उसे इन बन्धनों में बाँधकर पंगु बना दिया है। धर्म तो शाश्वत, व्यापक, विशाल और अत्यन्त असंकीर्ण तथ्य है। उसे इन मिथ्या बन्धनों में मत

जकड़िए। अहिंसा, अपरिग्रह, सदाचार और संयम से जो धर्म के सच्चे अभिप्रेत हैं, अपने जीवन को मंजिए। यही सच्ची धर्माराधना है।

अजमेर
८ मार्च '५६

३० : श्रद्धाहीनता सबसे बड़ा अभिशाप है

सच्चाई, प्रामाणिकता और ईमानदारी से जीवन में काम चल सकता है—आज मानव इसे स्वीकार करने को तैयार नहीं होता। उसके दिमाग में यह बैठता जा रहा है कि ये तो केवल पढ़ने और समझने के आदर्श हैं, व्यवहार इनसे कैसे चल सकता है? मैं कहूँगा—मानव की यह सबसे बड़ी कायरता है। कौन कहता है कि सत्य और अहिंसा व्यवहार्य नहीं हैं? हाँ, हो सकता है—उनके परिपालन में एक बार कठिनाइयां सामने आएँ। कठिनाइयों से मुंह मोड़ना कोई वीरता नहीं है। माना कि आज का वातावरण अनीति और हिंसा से बुरी तरह दूषित हो चला है, इसमें अहिंसा और सत्य पर चलना इतना सहज नहीं पर यह भी मत भूलिये—प्रतिकूल परिस्थितियों के समक्ष घुटने टेकना मानव की सबसे बड़ी कमजोरी है। सत्य का आचरण न करनेवाला इतना बुरा नहीं, जितना यह माननेवाला कि सत्य से जीवन में काम ही नहीं चल सकता; क्योंकि ऐसा माननेवाले के लिए आगे बढ़ने के सारे द्वार ही रुक जाते हैं। यह श्रद्धाहीनता मानव का सबसे बड़ा अपराध है, जिससे उसे छुटकारा पाना है। अणुव्रत-आन्दोलन इस श्रद्धाहीनता पर करारी चोट करता है। वह अहिंसा, सत्य और प्रामाणिकता का एक व्यवहार्य मार्ग है। देखने में अणु पर प्रभाव में महत् नियमों का यह संकलन है, जो जीवन को निःसत्त्व बनानेवाली बुराइयों का उन्मूलन करता है।

अजमेर
८ मार्च '५६

३१ : धर्म क्या सिखाता है ?

धर्म लड़ना नहीं सिखाता। वह तो मैत्री, बन्धुता और भाईचारे की [illegible] देता है। धर्म को जो संघर्ष, कलह और वैमनस्य का साधन बना [illegible] हैं, वास्तव में धर्म के नाम पर वे अधर्म को पोषण देते हैं। धर्म

का मूल अहिंसा है, दया है। जहाँ अहिंसा या दया नहीं, वहाँ कैसा धर्म? जहाँ तक मैं सोचता हूं, क्या वैदिक, क्या जैन, क्या बौद्ध, क्या इस्लाम और क्या ईसाई, सभी धर्मों में अहिंसा या दया के लिए महत्त्वपूर्ण स्थान है। दूसरों को पीड़ा देना, सताना, शोषण करना धर्म नहीं सिखाता। प्रत्येक व्यक्ति को यह सोचना है कि जिस प्रकार सताए जाने पर, प्रताड़ित होने पर उसको दुःख होता है, उसी प्रकार दूसरों को भी होता है। किसी के द्वारा पीडित होना उसे कितना अप्रिय लगता है, वह भूल क्यों जाता है—दूसरों को भी तो वह ऐसा ही अप्रिय लगता है। ऐसी दशा में किसी भी जीव को कष्ट देना अनुचित है, धर्म-विरुद्ध है। आत्मा को गिरानेवाला है। क्या हिन्दू, क्या मुसलमान सभी धर्मावलम्बी इस व्यापक तत्त्व को हृदयंगम करते हुए जीवन को अधिकाधिक अहिंसा की ओर ले जाएँ, मेरा यही कहना है।

यदि व्यक्ति अपने जीवन को धर्म के आदर्शों में ढालने की प्रेरणा नहीं लेता तो मन्दिर, मस्जिद, गिरजा तथा अन्यान्य धर्म स्थानों में जाने मात्र से क्या बनेगा? धर्म की सच्ची उपासना तदनुकूल जीवन बनाने में है। जीवन का हर व्यवहार सच्चाई और नेक-नीयत से भरा हो, किसी के प्रति दुश्मनी और विरोध की भावना न रहे—धर्म का यही सन्देश है।

धर्म को जाति या कौम में मत बांटिये। जातियाँ सामाजिक सम्बन्धों के आधार पर अवस्थित हैं। धर्म जीवन परिमार्जन या आत्मशोधन की प्रक्रिया है। वहाँ हिन्दू और मुसलमान का भेद नहीं है। धर्म वह शाश्वत तत्त्व है, जिसका अनुगमन करने का प्राणीमात्र को अधिकार है। साम्प्रदायिक संकीर्णता की उसमें गुंजाइश नहीं। जहाँ भेद-दृष्टि को प्रमुखता दी जाती है वहाँ साम्प्रदायिक झगड़े और संघर्ष पैदा होते हैं। चूंकि विभिन्न सम्प्रदायों में भेद के बजाय अभेद—समानता के तत्त्व अधिक हैं, अतः उनको मुख्यता देते हुए धर्म के जीवन-शुद्धिमूलक आदर्शों पर चलना प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है। ऐसा होने से आपसी संघर्ष, विद्वेष और झगड़े खड़े ही नहीं होंगे।

अजमेर
१० मार्च '५६

३२ : सब धर्मों का नवनीत

अणुव्रत-आन्दोलन जीवन की मूल भित्ति को सुदृढ़ बनाना चाहता है। पारस्परिक द्रोह और असद्भावना के स्थान पर हमें प्रेम, भ्रातृभाव और

सद्भावना का संचार कर जीवन में एक नयी शक्ति भरनी है। इसका अनुगमन करनेवाला स्वयं आत्म-तृप्ति के मधुर रस का आस्वादन करेगा। सबसे पहले लाभ उसे स्वयं है, इसलिए इन आदर्शों को अपनाना मुझपर कोई एहसान नहीं है। यह तो उनका अपना काम है, जिसे करने पर उनको स्वयं लाभ मिलेगा। यह व्यक्ति के दैनिक व्यवहार को परिमार्जित और परिष्कृत करने का एक सफल साधन है। मानव का दैनन्दिन व्यवहार सात्त्विकता, शुद्धता, और निर्मलता लिये हो, यह जीवन की पहली जरूरत है। दैनिक व्यवहार यदि क्लेश, कदाग्रह आदि भाव से गन्दा बना हो तो ऊँची-ऊँची बातें बनाने से क्या लाभ? यह धर्म के उन मौलिक सर्वसम्मत आदर्शों को लेकर चलता है, जिनका प्रतिपालन व्यक्ति को धर्म की ऊँची आराधना के योग्य बनाता है।

इस आन्दोलन से कोई यह न समझ ले कि छोटे-छोटे व्रतों का संचयन कर ऊँची तपस्या और साधना का यह निरोधक है। ऐसा समझना बड़ी भूल होगी। ऐसा करने से रोकता ही कौन है? यह तो प्रसन्नता की बात है कि मनुष्य अपने जीवन को जितना ले जा सके, धर्म और तपस्या की ऊँची आराधना में ले जाय। पर पहले उसके योग्य तो बने। अणुव्रत-आन्दोलन का हमने आरम्भ किया, कठिनाइयां भी सामने आने लगीं। धर्माचार्य इस तरह का कार्य करते हैं—ये व्यंग भी मैंने सुने। मैंने सोचा—जो काम मैं कर रहा हूँ, जो मार्ग मैंने लिया है, वह अनुचित नहीं है, शुद्ध है, निर्दोष है, मुझे उसपर चलना चाहिए। मैं चला। विरोध का मैं बुरा नहीं मानता। मैं उसे लाभकारी समझता हूँ क्योंकि यह व्यक्ति को जागरूक रखता है। मुझे उसमें बड़ा आनन्द आता है। मुझे यह प्रकट करते सन्तोष है कि आज अणुव्रत-आन्दोलन की जड़ें मजबूत होती जा रही हैं।

अणुव्रत-आन्दोलन सब धर्मों का नवनीत है। क्या कोई भी धर्म, शील, सदाचार, शौच और सद्भावना का विरोध करेगा? अणुव्रत-आन्दोलन [illegible] के इन ऊँचे आदर्शों को सरलता से हृदयंगम और जीवन-व्यापी बनाना [illegible]ता है। नई शिक्षण-प्रणाली के अनुसार चलनेवाले बाल-मन्दिर में [illegible] बच्चों को बिना आभास के हँसते-खेलते शिक्षण दिया जाता है, उनको [illegible] महसूस नहीं होने पाता कि हमसे पढ़ाई करायी जा रही है; उसी तरह [illegible]त-आन्दोलन धर्म के ऊँचे तत्त्वों को जीवन-व्यवहार में इस सफलता [illegible] सहज भाव से जोड़ता है कि वे भार रूप न रहें और व्यक्ति के [illegible] का हर पक्ष सदाचार के बुनियादी उसूलों से जुड़े।

[illegible]र

[illegible]र्च '५६

३३ : आत्म-नियमन

भारतीय संस्कृति में वह जीवन जीवन है, जो शान्त, तुष्ट और पवित्र है। जिसमें शान्ति, तुष्टि और पवित्रता नहीं, वह केवल कहने भर को जीवन है, जीवन का सच्चा सत्त्व वहां नहीं। भौतिक साधनों की उपलब्धि और उनके उपभोग में शान्ति नहीं। शान्ति संयम में है। संयम अर्थात् असत्य, हिंसा आदि पतनकारी तत्त्वों से बचते हुए सत्य, अहिंसा आदि पर डटे रहना। ऐसा करनेवाला ही सच्ची शान्ति या सात्त्विक सुख पा सकता है। अपने विचारों में, वृत्तियों में जितना अधिक संयम को आप प्रश्रय देंगे, जीवन उतनी ही शान्ति और सुख की ओर अग्रसर होगा। तुष्टि या सन्तोष का साधन है—स्वतन्त्रता। स्वतन्त्रता के बिना सचमुच जीवन दूभर लगता है। पिंजड़े में बँधा पक्षी चाहे जितना मेवा मिष्ठान्न पावे, पर क्या वह सुख अनुभव करता है? राजनैतिक दृष्टि से आज देश स्वतन्त्र है पर मेरी दृष्टि में यह बाहरी स्वतन्त्रता है। देश के लोगों को आन्तरिक स्वतन्त्रता पाने की ओर प्रयास करना होगा। इसलिये यहाँ जो मैंने स्वतन्त्रता की बात कही, उससे मेरा आशय है—स्व अर्थात् अपना तन्त्र, आत्मानुशासन, आत्म-नियमन, स्ववशता। जो अपने द्वारा शासित है, आत्मानुशासन में रमा है, सचमुच वह स्वतन्त्र है, क्योंकि स्वयं पर उसका अपना शासन है, दूसरे का नहीं। पवित्रता से मेरा मतलब बाहरी सफाई-धुलाई से नहीं है। विचारों और वृत्तियों में सात्त्विकता—निर्मलता ही सच्ची पवित्रता है। कपड़े खूब साफ-सुथरे पहन रखे हैं, नहाया-धोया है पर यदि विचारों में स्वच्छता नहीं है तो वह व्यक्ति पवित्र नहीं, अपवित्र है। प्रत्येक व्यक्ति इन साधनों को अपनाते हुए जीवन को शान्त, सन्तुष्ट और पवित्र बनाने की ओर आगे बढ़ें।

आत्मा, परमात्मा, संसार आदि [illegible] अनादि आदि दार्शनिक गुत्थियाँ दार्शनिकों और विचारकों के लिए हैं जब वे आपस में इनपर विवेचन करते हैं, विश्लेषण करते हैं तो कितना सुन्दर लगता है। पर ध्यान रहे, जनसाधारण के उलझने के लिए, आपसी संघर्ष के लिए ये प्रश्न नहीं हैं। जन-साधारण को जीवन-शुद्धि की उन सार्वभौम बातों को लेकर चलना है, जिनसे उनके जीवन की बुराइयाँ मिट सकें। अणुव्रत-आन्दोलन इसी विचार का पुण्य प्रतीक है, वहाँ नियम लादे नहीं जाते, व्यक्ति स्वेच्छा के साथ स्वयं उन्हें स्वीकार करता है। वह स्वयं आत्म-निरीक्षण करता रहता है कि नियमों के परिपालन में कहीं स्खलना तो नहीं हो रही है। इस प्रकार सहज रूप में

जीवन को सात्त्विक और उन्नत बनाने का यह उपक्रम है। आशा है आप सब लोग इसे देखेंगे, समझेंगे और इन्हें जीवन में ढालने का प्रयास करेंगे।

अजमेर
१२ मार्च '५६

३४ : आत्म-साधना

भारतवर्ष अनेकानेक सांस्कृतिक व ऐतिहासिक स्थानों का देश है, जिनके पीछे एक लम्बा इतिहास है, गौरवमयी संस्कृति है। पर केवल इतिहास और संस्कृति के गीत गाने से कुछ नहीं बनेगा, बनेगा तभी जब जीवन में उस आत्मशुद्धि-मूलक इतिहास व संस्कृति से प्रेरणा लेते हुए उसका अनुसरण किया जाए। जैसा कि कहा जाता है—पुष्कर तपोभूमि है, पर तपोभूमि में कदम रखने मात्र से क्या होगा? जबतक कि जीवन को तपस्या व आत्म-साधना में रमाया न जाए? मैंने अजमेर में ख्वाजा साहब की दरगाह में कहा था—मन्दिर, मस्जिद, गिरजा, गुरुद्वारा—व्यक्ति कहीं भी जाए, दिन भर वहाँ डटा रहे, पर यदि जीवन में अहिंसा, दया, सच्चाई, आदि धर्म के मौलिक सिद्धान्तों को नहीं उतारेगा तो इससे क्या बनने का है?

पुष्कर
१३ मार्च '५६

३५ : त्याग और संयम की संस्कृति

भारतीय संस्कृति त्याग और संयम की संस्कृति है। जीवन की सच्ची सुन्दरता और सुषमा संयताचरण में है, बाहरी सुसज्जा, और वासना-पूर्ति में नहीं। जिन भोगोपभोगों में लिप्त हो मानव अपने आप तक को भूल जाता है, वह जरा आँखें खोलकर देखे कि वे उस जीवन के अमर तत्त्व को किस प्रकार जीर्ण-शीर्ण और विकृत बना डालते हैं। जीवन में त्याग को जितना अधिक प्रश्रय मिलेगा, जीवन उतना ही सुखी, शान्त और उद्बुद्ध होगा। भारतीय मानस में त्याग के लिए सदा से बड़ा ऊँचा स्थान रहा है। यही तो कारण है कि त्याग-परायण सन्तों का यहाँ सदा आदर रहा है। यह व्यक्ति का आदर नहीं है, यह तो त्याग का समादर है। सन्तों के जीवन से आप त्याग की प्रेरणा लीजिए, जीवन को संयम की ओर उन्मुख कीजिए। इसी में जीवन की सच्ची सफलता है। माना कि प्रत्येक व्यक्ति त्याग को जीवन में सम्पूर्णतः उतार सके यह सम्भव नहीं

पर जितना हो सके अपनी ओर से उसे अपने आपको ज्यादा त्यागी और संयमोन्मुख बनाना चाहिए। त्याग से घबराइए मत, उसे नाग मत समझिए। वह तो जीवन शुद्धिमूलक संजीवनी बूटी है। उस ओर बढ़िए, सात्त्विकता में पूर्ण नया जीवन, नया ओज, नयी कान्ति और नयी शक्ति पाइए।

जीवन का सच्चा विकास आत्म-शुद्धि में है

कहा जाता है कि आज विकास का युग है, मनुष्य बहुत आगे बढ़ा है, पर मानव यदि अपने अन्तस्तम को टटोले तो वह स्वयं महसूस करेगा कि वह कहां से कहाँ आ लुढ़का है, कितना नीचे वह गिर गया है। भौतिक विकास की चकाचौंध में वह अन्धा हो गया है। कर्त्तव्याकर्त्तव्य का भान उसे नहीं रहा। उसका जीवन महज एक यन्त्र-सा बन गया है। इस तथाकथित विकास की ओट में युद्ध, संघर्ष, ईर्ष्या, धोखा, विश्वासघात जैसे विषैले, भीषण परिणाम निकले, जिससे संसार आज कराह उठा है। यह सब क्यों हुआ? उत्तर सीधा है—जीवन का सच्चा विकास आत्म-शुद्धि में है, अपने-आपको सत्य, शौच, शील, सदाचरण जैसे सद्गुणों से सँजोने में है। यदि थोड़े में कहा जाय तो आध्यात्मिक विकास ही मानव का सच्चा विकास है। तभी तो भगवान् महावीर ने कहा था—"**अहिंसा ही विज्ञान है। जिसने अहिंसा को जाना; उसके तत्त्व को हृदयंगम किया, जीवनवृत्ति में उसको स्थान दिया, उसने विज्ञान की बड़ी-से-बड़ी उपासना की।**" यथार्थ विज्ञान तो वही है, जो जीवन को शुद्धि की ओर ले जाए। आज इस से लोग आँख मूंदते जा रहे हैं, उनका जीवन अवसाद, क्लेश, असन्तोष और अभाव से जर्जर बना जा रहा है। क्या विज्ञान और विकास का यही फल होना चाहिये? उससे तो शान्ति मिलनी चाहिए, सुख मिलना चाहिए, स्फूर्त्ति मिलनी चाहिए, चेतना मिलनी चाहिए पर ऐसा नहीं हो रहा है। अतः मैं कहूँगा—मानव जागे, चेते, भारतीय ऋषियों द्वारा बनाये गए मार्ग पर आए; एकमात्र भौतिक विकास को ही चरम लक्ष्य न मान आध्यात्मिक विकास के पथ को अपनाए, उसपर आगे बढ़े। उसका जीवन सहज ही शान्ति से आप्लावित हो उठेगा।

हर व्यक्ति विकास करना चाहता है, अपने जीवन को उन्नत देखना चाहता है। सही भी है—विकास होना ही चाहिए। वह भी क्या कोई जीवन है जो अपनी पुरानी स्थिति में ही चलता रहे, विकास की ओर प्रगति न करे! अतः यह सही है कि विकास जीवन के लिए इष्ट है और उसके लिए व्यक्ति को सदैव सजग और सचेष्ट रहना चाहिए। विकास के भी नाना रूप हैं। कोई परिग्रह की वृद्धि को, कोई साम्राज्य की वृद्धि को,

और कोई नाना सुखोपभोगों की वृद्धि को विकास मानता है, किन्तु यह वास्तव में जीवन का विकास नहीं है। भारतीय दर्शन आत्मवादी दर्शन है। उसके दृष्टिकोण में आत्मा का विकास ही सर्वोपरि श्रेष्ठ विकास है। दैहिक विकास की अपेक्षा यहाँ आत्मा के विकास की महत्ता अधिक रही है और आध्यात्मिक दर्शन-क्षेत्र के समग्र प्रयत्न आत्मा के विकास की ओर ही अग्रसर हुए हैं। आत्मा परम तत्त्व है। व्यक्ति आत्मा से परमात्मा बनने की ओर निरन्तर अग्रसर होता रहे—यही जीवन-विकास की सही दिशा है जिसकी ओर सबको प्रयाण करना है।

थाँवला
१४ मार्च '५६

३६ : जीवन के मापदण्ड में परिवर्त्तन

अनीति, अनाचरण, अप्रामाणिकता, विश्वासघात और अर्थलोलुपता जैसी बुराइयों ने आज मानव के जीवन को जर्जरित कर डाला है। फलतः आपसी विश्वास मिटता जा रहा है। स्वार्थ के मद में अन्धा व्यक्ति अपना विवेक खो बैठा है। जीवन के सत् मूल्यों का स्थान असत् मूल्यों ने ग्रहण कर लिया है। जहाँ सदाचरण, अहिंसा और संयम जीवन के ऊँचेपन का मापदण्ड था, वहाँ अर्थ-पैसा आज उनका स्थान हथियाये बैठा है। इसी का नतीजा आज स्पष्ट देखते हैं कि पैसा बटोरने की तीव्र लालसा ने मानव को बेईमान बना डाला है। पैसा मिलना चाहिए, चाहे किसी को कितना भी अन्याय और अनौचित्य का आश्रय ही क्यों न लेना पड़े! आज यह आम मनोवृत्ति बनती जा रही है। आज की अशान्त, विषादमय और उलझन भरी समस्याओं का मुख्य कारण यही है। इसे दूर करना होगा, जीवन के मापदण्ड में परिवर्तन करना होगा। प्रतिष्ठा संयम और त्याग की रहे, पैसे की नहीं। आज इस तत्त्व के प्रसार की अत्यन्त अपेक्षा है। अणुव्रत-आन्दोलन यही करना चाहता है, वह जीवन के मापदण्ड में एक नया परिवर्तन लाना चाहता है। अहिंसा, सत्य और अपरिग्रह को वह व्यवहार में देखना चाहता है। तभी तो उसने जीवन के हर पहलू को छूते हुए इन व्रतमूलक नियमों का आविष्कार किया है। इस ओर लोग मुड़ें, जीवन के सही लक्ष्य को पहिचानें। अहिंसा, सत्य और अपरिग्रह की आराधना में अपने जीवन को लगाएँ।

थाँवला
१४ मार्च '५६

३७ : सच्चा तीर्थ

धर्म जीवन जागृति का साधन है। वह विकास और शान्ति का सच्चा मार्ग देता है, पर यह सब कब तक? जबकि व्यक्ति उसके आदर्शों पर अपने जीवन को ढाले। केवल परम्परा-पोषण और स्थिति-पालन में धर्म को बांधे रखना उसे जड़ और निस्तेज बनाना है। धर्म तो जीवन-शुद्धि का निर्द्वन्द्व और अप्रतिबन्ध राजमार्ग है। बन्धन और धर्म, इनका कैसा मेल! यदि जड़ता और चेतना का मेल हो तो इनका हो। धर्म साधना में अपने मन को रमा देनेवाले के अन्तस्तम में वह चिनगारी पैदा होती जाती है जो हरदम उसे कुमार्ग से बचने के लिए सजग और उद्बुद्ध रखती है। जड़ता में वह उसे जाने नहीं देती। वह तो उसे आत्म-चेतना में खोए रखना चाहती है। इसीलिये मैं अक्सर कहा करता हूं, केवल मन्दिरों में जाने मात्र से, साधुओं के दर्शन करने मात्र से, तीर्थ स्थानों में चक्कर लगाने मात्र से क्या बनेगा, यदि धर्म के मूल आदर्शों को जीवन में प्रश्रय नहीं दिया जाए। मैं कई बार देखता हूँ—लोग आते हैं। मेरे चरणों के नीचे की धूल ले जाते हैं। उसके सहारे अनेकानेक बाधाओं से छूटने की परिकल्पना करते है। मैं कहता हूँ—आप उन आदर्शों को ही लीजिए, जिन्हें मैं जीवन में लिये चलता हूँ, और जिनकी व्याप्ति मैं लोगों में भी देखना चाहता हूँ। वे हैं—अहिंसा, दया, सत्य, शील, शौच। इन्हें लीजिए यही तो सच्चा तीर्थ है। जैसा कि महाभारत में युधिष्ठिर को सम्बोधित करते हुए एक स्थान पर कहा गया है :

आत्मा नदी संयम पुण्यतीर्था, सत्योदकी शीलतटा दयोर्मि।
तत्राभिषेकं कुरु पाण्डुपुत्र ! न वारिणा शुद्धयति चान्तरात्मा।

अर्थात् आत्मा नदी है। संयम उसका पवित्र तीर्थ है। सत्य उस नदी का जल है। शील उसका तट है। दया की लहरें उसमें छलछलाती हैं। युधिष्ठिर! उसमें स्नान कर। पानी से अन्तरात्मा शुद्ध नहीं होती।

ईडना

१४ मार्च '५६

३८ : सत्संगति उन्नति का साधन

प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि अपना कुछ समय वह सत्संगति में अवश्य लगाए। सत्संगति उन्नति का साधन है। इससे मनुष्य सद्गुण सीखता है। कुछ लोगों से यदा-कदा सुनने को मिलता है—क्या किया जाए समय

ही नहीं मिलता। मैं उनका यह कथन ठीक नहीं मानता। जीवन में अनेकों काम वे करते हैं, उनके लिए उनके पास समय है और सत्पुरुषों की संगति के लिए उन्हें समय ही नहीं मिलता! यह उनकी उपेक्षा का परिचायक है। अच्छे कार्य के लिए तो प्रयत्न करके समय निकालना ही चाहिए दिन में ६० घड़ियाँ होती हैं, क्या २ घड़ी भी धर्मानुशीलन और सत्संग के लिए वह नहीं निकाल सकता। साठ घड़ियों में इन दो घड़ियों की बहुत बड़ी कीमत है। इन दो से मिले लाभ के सहारे न जाने मनुष्य कितना आगे बढ़ सकता है। एक सीधा-सा दृष्टान्त मैं रख रहा हूं, जिसको सुन इन दो घड़ियों का मूल्य आप आँक सकेंगे :—एक व्यापारी था। धन कमाने के लिए दूर देश गया। सुरक्षा के लिए कई ठाकुर उसके साथ थे। व्यापार अच्छा चला। व्यापारी मालोमाल हो गया। लाखों की सम्पत्ति उसने पैदा की। फिर वह घर को वापस चला। गाँव निकट आया। सेठ (व्यापारी) ने सोचा—इन ठाकुरों को विदा कर दूं नहीं तो गाँव तक ले चलने से पुरस्कार देना होगा। अब तो मैं घर के समीप पहुँच ही गया। और पैसे क्यों गवाँऊँ। उसने ठाकुरों को विदा दे दी। ठाकुर चले गए। सेठ थोड़ी ही दूर चला था कि उसे ६० डाकुओं के झुण्ड ने आ घेरा। डाकुओं ने सेठ को रथ से नीचे उतार दिया और धन सहित रथ को अपने अधिकार में ले लिया। सेठ की घिग्घी बँधी थी। वह थर-थर काँप रहा था। हाथ बाँधे खड़ा था। डाकू धन से भरा रथ लेकर आगे चलने लगे। सहसा सेठ को स्मरण आया—उन साठों में दो व्यक्ति उसके सम्पर्क के हैं। उसने झट उन्हें आवाज दी। दोनों ने पीछे की ओर मुंह फेरा। आँखें फाड़कर सेठ की तरफ देखा। उन्हें फौरन याद आया कि सेठ से तो उनका पुराना सम्बन्ध है। सेठ गिड़गिड़ाने लगा—"मुझे इस दशा में छोड़कर जाते हो?" दोनों बोले—"ऐसा नहीं होगा, हम आपका धन अभी वापस दिलवा देंगे।" वे दोनों अपने साथियों के पास गए। कहने लगे "सेठ को हम पहचान नहीं पाए थे। वह तो हमारा पुराना मित्र है। उसको कैसे लूटें? धन वापस लौटा दो।" बाकी डाकू बोले—'नहीं, यह कैसे होगा? लूटा हुआ धन हम वापस नहीं देंगे।" दोनों ने अनमने भाव से कहा—"खैर, मत दीजिये, आप सबके आगे हमारा क्या वश? पर हम आज से इस दल से अपना सम्बन्ध तोड़ते हैं।" सब डाकुओं ने सोचा—केवल एक डाके के माल को लेकर हम अपने घनिष्ठ साथियों को छोड़ दें, यह कभी भी उचित नहीं। अपने को धन से साथी अधिक प्यारे हैं। धन लौटाना है। उन्होंने सेठ को धन सहित उसका रथ वापस लौटा दिया। सेठ की उदासी खुशी में बदल गई।

यह एक कहानी है। साठ में अट्ठावन सेठ का धन न लौटाने पर अड़े थे, बचे दो डाकुओं का, जो सेठ के सम्पर्क के थे धन वापस लौटाने का अनुरोध था। उन दोनों से पूर्व सम्पर्क का परिणाम यह हुआ कि सेठ को धन वापस मिला। यह है साठ में दो का महत्त्व।

जैसा कि मैंने कहा यदि साठ घड़ी में दो घड़ी भी सत्संगति और सद्गुण-अर्जन में मनुष्य लगाए तो वह जीवन में बहुत बड़ा लाभ पा सकता है।

डेगांना
१७ मार्च '५६

२९ : सच्चे सुख का अनुभव

आज हम देखते हैं, विशिष्ट व्यक्तियों का लोग स्वागत करते हैं, लम्बे-लम्बे भाषणों से, फूल-मालाओं से। महान् व्यक्तियों के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट करते हैं, उनकी समाधियों पर फूल-मालाएँ चढ़ाकर, उनके गुणों के गीत गा-गाकर और अधिक हुआ तो उनके नाम पर बड़े-बड़े स्मारक खड़े कर करके। पर क्या यही उनका सच्चा स्वागत है? ये तो महज स्मरण-चिह्न हैं। उनका सच्चा स्वागत तो उन सद्गुणों को अपनाने में है, जिनका प्रतिपालन वे करते रहे हैं। आपलोगों ने हमारा स्वागत किया। अपने श्रद्धामय उद्गार प्रकट किए। यह आपकी भक्ति का परिचय है। पर जैसा कि मैंने कहा—सन्तों का सही स्वागत तो उनके बनाए मार्ग पर चलने में है। इसलिए मैं आपलोगों से कहना चाहूँगा कि आपलोग अपने जीवन को अधिक से अधिक अहिंसामय बनाने का प्रयत्न करें। अहिंसा महान् धर्म है, पर उसकी उपयोगिता तब है, जब कि जीवन में उसकी परिव्याप्ति हो। कहने को "अहिंसा परमोधर्मः" का नारा सभी लगाते हैं, सभी धर्मों में इसका उल्लेख है। ऐसा कौन-सा धर्म होगा, जो कहेगा कि "हिंसा करो शोषण करो, क्लेश, कदाग्रह और संघर्ष करो।" पर हम दुनिया में प्रत्यक्ष देखते हैं कि आज इन बुराइयों का तांता-सा जुड़ रहा है। चाहे कहीं जाएँ, सर्वत्र ऐसा ही नजर आता है। यह सब क्यों? इसलिए कि धर्म के आदर्शों को आज का व्यक्ति अपने सुनने तक के लिए सीमित रखने लगा है, जीवन में उन्हें उतारना है, इससे उसका क्या सरोकार? कितनी विषम और विपरीत स्थिति आज की बन गई है। आज आपको इसे बदलना होगा धर्म को केवल कहने और परम्परा पालने तक सीमित न रख उसके आदर्शों पर जुटना होगा, तभी आपका जीवन सच्चे सुख का अनुभव कर सकेगा।

आध्यात्म दृष्टि के विकास की ओर

धर्म के विश्लेषण में जायें तो पाएँगे कि धर्म त्याग में है, सन्तोष में है, शान्ति में है, ममता में है, जीवन-शुद्धि में है। यह तथ्य आपको हृदयंगम करना है। इस पर आपको आगे बढ़ना है। तभी जीवन में हल्कापन, शान्ति और स्थिरता का आप अनुभव करेंगे।

अणुव्रत-आन्दोलन जीवन-शुद्धि का आन्दोलन है। यह एक सर्वसम्मत कार्यक्रम है। झूठा माप-तोल न करना विश्वासघात न करना, रिश्वत न लेना, किसी को अस्पृश्य न मानना, व्यवहार में अप्रामाणिकता न बरतना, व्यभिचार में न पड़ना—कोई भी धर्म इनका विरोध नहीं करेगा। अणुव्रत-आन्दोलन इसी प्रकार के जीवन-शुद्धि मूलक छोटे-छोटे नियमों का संकलन है। जीवन को ध्वस्त-विध्वस्त बनानेवाली बुराइयों का यह सफल परिहारक है।

जीवन की दृष्टि अन्तर्मुखी बनेगी तभी व्यक्ति अध्यात्मवाद का उपासक बन सकेगा। आज व्यक्ति सुबह उठकर अखबार पढ़ना चाहेगा। गीता, धम्मपद, और जैन सूत्रों के पाठों के स्मरण में अब उसकी रुचि नहीं रही है। यह सब भौतिक दृष्टिकोण की प्रबलता का परिणाम है। आध्यात्मिक दृष्टि का आज अभाव होता जा रहा है। यह खेद का विषय है। मैं उपस्थित बन्धुओं से कहना चाहूँगा कि वे प्रवृत्ति-शोधन और आध्यात्मदृष्टि के विकास की ओर अग्रसर हों और अपने जीवन को सफल और सार्थक बनाएं।

बोराबड़
१६ मार्च '५६

४० : जीवन का सही लक्ष्य

भारतीय दर्शन की त्रिवेणी वैदिक, जैन और बौद्ध तत्त्वज्ञान की त्रिविध धाराओं में बही। यदि इसमें अवगाहन किया जाय तो यह स्पष्ट लक्षित होगा कि—खा लेना, पी लेना, पहन लेना, ओढ़ लेना, संसार के और-और जीवन-यापन-संबंधी काम चला लेना ही जीवन का लक्ष्य नहीं है। जीवन का सही लक्ष्य दूसरा है। वह है अपने आपका परिष्कार करना। अपने में व्यापी हुई पाप वृत्तियों को दूर करना, उनकी जगह सत्प्रवृत्तियों को स्थान देना, देखने में चमकीली और सुहावनी लगनेवाली वासनाओं का शिकार न होना। ये जीवन को क्लेश के दल-दल में फँसाने के साधन हैं। मुझसे कई बार लोग पूछते हैं, सबसे अच्छा कौन-सा धर्म है? मैं कहा करता हूँ—सबसे अच्छा धर्म वही है जो धर्मानुयायियों के जीवन में अहिंसा और

सत्य की व्याप्ति लाए। जिसका पालन करनेवालों का जीवन त्याग, संयम और सदाचरण की ओर झुका हो। कहने को सब कह देते हैं—"उनके धर्मग्रन्थों में ज्ञान की अगाध राशि भरी पड़ी है," पर ऐसा कहनेवाले जरा अपने को टटोलें तो सही कि उस अगाध ज्ञानराशि से उन्होंने भी कुछ लिया या नहीं।

आचार-प्रधान धर्म

जैनधर्म आचार-प्रधान धर्म है। उसमें सबसे पहला स्थान अहिंसा को है। कोई किसी को न मारे, न सताए, पीड़ा न दे शोषण न करे, किसी के मन को न दुखाए, किसी को दास न बनाए, सबको अपने समान समझे, यह सब अहिंसामय सन्देश है, जो भगवान् महावीर ने दिया है। आज इसी समतावाद या साम्यवाद की आवश्यकता है। केवल आर्थिक असमानता दूर होने से सारी समस्याएँ सुलझ जायेंगी, ऐसा नहीं लगता। इसके लिए तो भगवान् महावीर के शब्दों में: "सव्व भूअप्प भूएसु" अर्थात् समग्र भूत प्राणियों को अपने समान समझो—इस आदर्श साम्य के प्रतिष्ठापन की आवश्यकता है। जैनधर्म किसी जाति, वर्ग और वर्णभेद से नहीं बंधा है। वह तो उन्ही का है जो इसका पालन करते हैं। प्राणिमात्र इसके अनुसरण के अधिकारी हैं।

(पुष्कर में दिये गए प्रवचन से)

४१ : जीवन में संयम का स्थान

सुख और शान्ति चाहने वाले मानव के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने जीवन में संयम को अधिकाधिक स्थान दे। संयम का अभाव जीवन के लिए जितना अलाभकारी सिद्ध हुआ है उतना कोई और दुर्गुण नहीं। संयम में रमे रहनेवाले व्यक्ति के जीवन में विकार नहीं समाते। संयम जीवन को बुराइयों से सुरक्षित रखने का अमोघ साधन है। सरोवर के चारों ओर मेड़ होती है, उसका कार्य है सरोवर के भीतर स्थित जल को बचाए रखना—यदि वह न हो तो जल की क्या गति होगी। यह स्पष्ट है कि सारा जल बिखर जायेगा। संयम जीवन को, जीवन तत्त्व को, सुरक्षित रखने के लिए मेड़ (दीवाल) जैसा है। असंयत मनोवृत्ति का ही परिणाम आज हम देख रहे हैं—लोग न्याय-अन्याय, औचित्य, अनौचित्य, सत्य, झूठ किसी की भी परवा न करते हुए संग्रह और शोषण में

जी जान से लगे हैं। ऐसा दीखता है, मानो जीवन का सर्वाधिक श्रेयस्कर लक्ष्य यही है। पर वे भूलते हैं, यह लक्ष्य नहीं अलक्ष्य है। यह ग्राह्य नहीं, त्याज्य है। यह श्रेय नहीं अश्रेय है। यह शान्ति नहीं, जीवन को अशान्ति की ओर ले जाता है। इतिहास इस बात का साक्षी है। अनेक ऐसे लोग हुए जिन्होंने येन-केन-प्रकारेण प्रभुता और सम्पदा उपार्जित करने में अपने आपको जोड़ दिया था। पर लोगों ने देखा, जब वे मरने लगे तो अशान्ति, दुःख, क्लेश और क्रन्दन के साथ मरे; क्योंकि संग्रह और शोषण में शान्ति का बीज नहीं है। जब तक मानव अपने आपको संयम की ओर नहीं मोड़ेगा, पिशाचिनी की तरह मुँह बाए दौड़ी आ रही विषम समस्याएँ उसका पीछा नहीं छोड़ेंगी।

संयम का अर्थ है अपने आप पर नियंत्रण, अपनी इच्छाओं पर अपना नियंत्रण यद्यपि यह नियंत्रण है पर सही मानेमें सच्ची स्वतन्त्रता भी यही है कि संयम के लिए अपने आप में दृढ़ता और आत्म-बल पैदा करना होगा। यह साधारण कार्य नहीं है पर आत्म-बल को जगाने वाले के लिए असाधारण भी क्या है? सामने अनगिनत भोग्य पदार्थ पड़े हैं, जिह्वा पर वश रखनेवाला उनकी सुलभता के बावजूद भी अपने को संयत रखता है। संसार के भोगोपभोग सामने हाथ बाँधे उपस्थित हैं पर संयम के आनन्द में उल्लसित बना मानव उनसे आकर्षित नहीं होता। अभाववश बचे रहना और इन्द्रिय-नियंत्रण पूर्वक बचे रहना—दोनों में यही तो फर्क है। जिन्हें भोग उपलब्ध नहीं हैं, यदि मिल जायें तो वे भूखे भेड़िए की तरह टूट पड़े, इस प्रकार अभाव और अवशतावश भोग से बचनेवाला कोई त्यागी थोड़े ही कहा जा सकता है? भर्तृहरि ने कहा है—"**भोगाः न भुक्ताः वयमेव भुक्ताः**" अर्थात् भोगों को हमने नहीं भोगा, भोगों ने हमको भोग लिया, हमें निःसार बनाकर छोड़ दिया। इस तरह के व्यक्ति जिनकी सामर्थ्य मिट गयी है, जिनमें भोगोपभोग की शक्ति ही नहीं रही है अथवा जैसा कि मैंने कहा जिनको प्राप्त नहीं है उनका विषय-विकारों से बचे रहना कोई उत्कृष्ट त्याग नहीं है। उत्कृष्ट त्याग उनका है जो सब प्रकार की सुविधाओं व अनुकूलताओं के बावजूद भी अपने-आपको आत्म-साधना में जुटाते हुए स्वेच्छापूर्वक भोगोपभोगों को तिलाञ्जलि दे देते हैं। अतः मेरा सभी को यह सन्देश है कि अपने जीवन में अधिक से अधिक संयत बनाने का प्रयास करें। संयम वह बहुमूल्य रत्न है, जिसकी तुलना संसार का बड़ा से बड़ा रत्न भी नहीं कर सकता।

बोराबड़
२२ मार्च '५६

४२ : धर्म के दो मार्ग

शास्त्रों में धर्म के दो मार्ग बतलाये गये हैं—महाव्रत और अणुव्रत। महाव्रत का अर्थ है जीवन भर के लिए अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को स्वीकार करना, इनकी साधना में प्राणपण से संलग्न रहना। यह जीवन-विकास का उत्कृष्ट मार्ग है। महाव्रतों की आंशिक साधना करना अणुव्रत है। यदि व्यक्ति जीवन में सम्पूर्ण रूप से अहिंसा, सत्य आदि का पालन करने में अपने को असमर्थ पाता है तो वह जहाँ तक बन सके हिंसा से, असत्य से बचने का प्रयास करे। अनावश्यक हिंसा तो वह न करे, क्रूर हिंसा तो वह न करे, ऐसा असत्य तो न बोले जो अनर्थ पैदा करनेवाला हो। दूसरे के तिनके को भी बिना पूछे लेना चोरी है इससे बचना अचौर्य का उच्चतम आदर्श है। यहाँ तक यदि व्यक्ति नहीं पहुँच सकता तो वह कम से कम राज दण्डनीय और लोक निन्दनीय चोरी तो न करे। अणुव्रतों का मूल स्वरूप यह है। वे जीवन को विरति अर्थात् बुराइयों के परित्याग की ओर ले जाते हैं जिससे वह इस पवित्र मार्ग पर आगे बढ़ता-बढ़ता और भी विकास एवं उन्नति कर सके। अणुव्रत कोई नया नहीं। कोई पूछे सत्य और अहिंसा कब से चले तो क्या बताया जाए? ये तो अनादिकालीन तत्त्व हैं। वही बात अणुव्रतों के लिए हैं। वे आज के लोक-जीवन में शुद्धि ला सकें, उसमें प्रविष्ट की हुई बुराइयों पर चोट कर सकें इसलिए उनके अन्तर्गत जीवन शुद्धि मूलक जैसे समयानुकूल नियमों का निर्माण कर एक आन्दोलन का रूप दिया गया है, जो अणुव्रत-आन्दोलन के नाम से सुविदित है। यदि संक्षेप में कहें तो यह अणुव्रतों का सार्वजनिक रूप से आज के युग के अनुरूप चारित्र्य शुद्धिमूलक संस्करण है।

अणुव्रत-आन्दोलन किसी कौम, जाति या सम्प्रदाय का आन्दोलन नहीं है। यह मानवता का आन्दोलन है, जीवन-शुद्धि का आन्दोलन है। व्यक्ति चाहे किसी भी जाति का हो, किसी भी सम्प्रदाय का हो, उसके जीवन में सच्चाई की मांग है, ईमानदारी की मांग है, समता की मांग है, क्योंकि ये वे गुण हैं जो मानव को सही माने में मानवता देते हैं। अणुव्रत-आन्दोलन ऐसा ही करना चाहता है। वह कहता है—कूट माप-तोल न करो, धोखा मत दो, असत्य आचरण से बचो, रिश्वत मत लो, शोषण मत करो। जरा सोचें क्या ये विचार किसी सम्प्रदाय विशेष के हैं? ये तो सभी के हित के हैं। मैं उम्मीद करता हूँ कि आप इस ओर बढ़ेंगे।

बोरावड़
२३ मार्च '५६

४३ : अध्यापकों से

विद्यार्थियों का जीवन कोमल है, मृदु है, सरल है। जैसे भाव उसमें अंकित किये जाते है, वही उसमें जम जाते हैं। यदि बुरे संस्कारों में से विद्यार्थियों को गुजरना पड़ता है तो वे सहसा बुरे बन जाते हैं और यदि अच्छे संस्कार उन्हें मिलते हैं तो वे उनमें ढल जाते हैं। इसलिए मैं पहले अध्यापकों से कहूँगा कि विद्यार्थियों के जीवन को बनाने की बहुत बड़ी जिम्मेवारी उन पर है। इस जिम्मेवारी को वे उन्हें किताबों के पाठ रटा कर या उनके बीच मीठे-मीठे और ऊँचे-ऊँचे उपदेश की बातें कह कर ही पूरा नहीं कर सकते। उन्हें अपना जीवन स्वयं ऊँचा बनाना होगा। वे यह न भूल जाएं कि उनके जीवन के कामों की परख छोटे-छोटे बालक बड़ी बारीकी से करते हैं। वे यह नही देखते कि अध्यापक या अभिभावक क्या कहते हैं, वे देखते यह हैं कि ये क्या करते हैं और उसकी नकल भी करते हैं। इसलिए अभिभावक तथा अध्यापक अपने जीवन को सादा तथा हल्का बनाएं ताकि वे विद्यार्थियों के सामने जीता-जागता उपदेश साबित हो सकें। ऐसा करने से ही वे अपनी जिम्मेवारी को भी पूरा कर सकेंगे।

विद्यार्थी विनीत बनें, सदाचारी बनें, सरल बनें, सादगी को अपनाएं, किसी के साथ बुरा व्यवहार न करें। जीवन में सच्चाई, अहिंसा, समता आदि ऊँचे आदर्शों को विकसित करें क्योंकि विद्यार्थी जीवन सद्गुणों के अर्जन का समय है।

बोरावड़
२३ मार्च '५६

४४ : सबसे बड़ा बाधक तत्त्व स्वार्थ

भारतीय दर्शन में त्याग की एक लम्बी परम्परा रही है। यहाँ वस्तु पाने की अपेक्षा वस्तु का त्याग अधिक महत्त्वशाली रहा है। अपार भौतिक सामग्रियों के स्वामी भी अकिंचन ऋषि-महर्षियों की चरण-धूलि के लिए तरसते हैं उस असीम-अनन्त आनन्द को प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं। पदार्थ-निरपेक्ष-आनन्द की वह परम्परा एक स्वानुभूत सत्य है जो साधना-लब्ध है। खाना सहज है पर उपवास सहज नहीं। सहजता सुविधावाद है पर सुविधावाद स्थायी सुख का सर्जन नहीं करता। उपवास शारीरिक सुख नहीं देता किन्तु उपवास में जो आनन्द आता है वह आनन्द खाने में नहीं आता। इसकी अनुभूति के लिए एक लम्बी साधना की आवश्यकता है।

वह आनन्द अन्तर से उपजता है। आनन्द का असीम और अटूट खजाना अन्तरात्मा में भरा पड़ा है। उसको विकसित करने की अपेक्षा है।

शान्ति का सबसे बड़ा बाधक तत्त्व स्वार्थ है। स्वार्थवृत्ति छोड़े बिना व्यक्ति सुखी नहीं बनता। उसकी विषमता में जहाँ मनुष्य का व्यक्तिगत जीवन दूभर बनता है, वहाँ समाज और राष्ट्र की स्थितियाँ भी विषम बनती है। स्वार्थवृत्ति के परिणाम-स्वरूप भाई-भाई का दुश्मन बनता है। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के प्रति विद्रोह कर मानव-समुदाय को युद्ध की भयावह ज्वालाओं में झुलसा डालता है। स्वार्थ वृत्ति से पैदा हुई भीषण परिस्थितियां अभी-अभी हमारे सामने से गुजरी हैं। राष्ट्र के सामने प्रान्तों के सीमा निर्धारण का प्रश्न आया। उस छोटे से प्रश्न ने कितना बीभत्स दृश्य हमारे सामने प्रस्तुत किया उसको यादकर आज भी लोगों का हृदय कांप उठता है। स्वार्थवाद में अन्धे बने व्यक्ति ने राष्ट्र को बड़ा से बड़ा नुकसान पहुँचाया। जातिवाद, भाषावाद और प्रदेशवाद का यह भयानक पिशाच आज भी राष्ट्र के नागरिकों को इस बात पर विचार करने के लिए प्रेरित कर रहा है कि वे इतने संकुचित क्यों बनते जा रहे हैं? जहाँ मानव-मानव में समता की भावना को बल मिलना चाहिए वहां ये संकुचित वृत्तियां राष्ट्र के नागरिकों के लिए खतरनाक होंगी। स्वार्थ वृत्ति का यह खुला प्रयोग मानव समुदाय के लिए विध्वंस का संकेत है। इस वृत्ति पर नियंत्रण किये बिना शान्ति व सुख के समग्र प्रयत्न सफल नहीं हो सकते।

बोराबड़

२३ मार्च '५६

४५ : मन और आत्मा की सफाई करें

आपने साधुओं के आने पर अपने ग्राम की, गली की, और मण्डप आदि की सफाई की और दरवाजे भी बनवाये। पर मैं आप सबसे कहूँगा इन सबकी सफाई करवाने की आपको जरूरत नहीं है। इनकी सफाई तो म्युनिसिपलिटी अपने आप करवायेगी। पर आपको चाहिए कि साधुओं के आने पर अपने मन की, और अपनी आत्मा की सफाई करें। इन बाहरी सफाइयों में कुछ भी नहीं रखी है। अगर अपनी भीतरी सफाई कर ली तो मैं आपका स्वागत आप करेंगे तो समझ लूंगा। और बाहर के लोग भी इतने आते हैं वे भी यह नहीं देखते कि आपके यहाँ पण्डाल कैसा बना है, आपके यहाँ सफाई कैसी है, वे तो यह देखते हैं कि यहाँ के लोग कितने नीतिमान् हैं, चरित्रशील हैं, इनका दैनिक व्यवहार कैसा है।

आपके दिल में यह शंका कभी भी नहीं होनी चाहिए कि महाराज को पण्डाल पसन्द आयेगा या नहीं, महाराज को मकान और गांव पसन्द आयेगा या नहीं। अगर महाराज ऐसा सोचने लग गये तो महाराज न जाने कितने गांवों में और कितने घरों में रहते हैं रोजाना नाराज होते रहेंगे। महाराज नाराज तो तभी होंगे अगर आपने महाराज के बताए गृहस्थ मार्ग का अवलम्बन न किया। उनको जीवन में नहीं उतारा। और जीवन को उसके अनुसार सादा नहीं बनाया। नहीं तो चाहे कितने ही गुणगान करते रहिए आपके जीवन पर उसका कोई प्रभाव पड़नेवाला नहीं है।

सब लोगों को चाहिए कि धर्म के नाम पर आडम्बरों को प्रोत्साहन न दें। नवयुवकों में धर्म के प्रति अरुचि पैदा होने का एक मुख्य कारण यह भी है कि लोगों ने वास्तविक धर्म को तो पहिचाना नहीं और आडम्बरों में ही सब कुछ समझने लग गए। देखते हैं धर्म का तो नाम होता और उसके नाम पर न जाने कितना रुपया बाहरी आडम्बरों में बरबाद हो जाता है। लोग तो यहाँ तक समझने लग गए हैं कि गरीब को धर्म का अधिकार ही नहीं है। क्यों क्या धनिकों ने धर्म का पट्टा करवा रखा है? पर आप लोगों से मैं यही कहूँगा कि आडम्बरों को प्रोत्साहन न देकर धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझें।

छोटी खाटू
२५ मार्च '५६

४६ : साधु की पहिचान

लोग कहते हैं हमें आज साधुओं की आवश्यकता नहीं है। परन्तु वे प्रवाह में आकर ऐसा कह देते हैं। साधुओं की आवश्यकता रही है और रहेगी। अगर व्यक्ति को साधना करनी है, सत्य और अहिंसा के राजमार्ग पर चलना है तो साधुओं की आवश्यकता जरूर पड़ेगी। हाँ, यह हो सकता है कि आज साधु भी बहुत तरह के हो गये हैं। बहुत सारे नामधारी साधु भी हैं। कुछ अपनी साधना करनेवाले भी हैं। लोग उन तक पहुँच नहीं पाते और ऊपर ही ऊपर रह जाते हैं। जिस प्रकार समुद्र में कोई मोती ढूंढ़े और ऊपर ही ऊपर देखता रहे तो उसे मोती मिलना बहुत दुर्लभ है। मोती तो जब गहरी डुबकी लगाई जाएगी तभी प्राप्य हो सकते हैं। उसी प्रकार साधना करनेवाले साधु भी बहुत मुश्किल से प्राप्य होते हैं।

तेरापन्थ का मतलब कोई सम्प्रदाय विशेष से नहीं है। इसका मतलब

बिल्कुल सीधा है। हे प्रभो! यह तेरापंथ हमारा नहीं, यह तो आपका पथ है। हम तो उस पर चलने वाले हैं, हमारा कोई पंथ नहीं है।

शुद्ध साधु पंच महाव्रत, पंच समिति तथा तीन गुप्ति का पालन करने वाला होता है। उसकी चाल, उसकी वाणी एक नये ही ढंग की होगी, जिसका कि गृहस्थों में अभाव पाया जाता है। साधु अपने लिये बनाया हुआ भोजन, मकान, पानी आदि का उपयोग नहीं करते। वह बिल्कुल शान्त प्रकृति का, निराभिमानी और धैर्यवान होगा। वह किसी भी नशीली वस्तु या बुरे कार्यों की तरफ मुंह भी नहीं करेगा।

छोटी खाटू,
२६ मार्च '५६

४७ : जीवन-विकास की सर्वोच्च साधना

सहज प्रश्न होता है कि आत्म-विकास की साधना क्या है? मैं आपको संक्षेप में बताना चाहूँगा—अपनी दुष्प्रवृत्तियों का निरोध कर जीवन में सद्-प्रवृत्तियों का समावेश करना ही जीवन-विकास की सर्वोच्च साधना है। समूचे संसार को सुधारने की डींग भरने वाले मनुष्य, समूचे संसार को देखने वाले मनुष्य जब तक अपने को नहीं सुधारेंगे, अपने जीवन की ओर नहीं देखेंगे, जीवन में प्रविष्ट दुष्प्रवृत्तियों का निरोध नहीं करेंगे तब तक विकास की सब कल्पनाएँ मानव मस्तिष्क की थोथी कल्पनाएँ होंगी। जीवन-विकास का तत्त्व वहाँ नहीं है। अतः आज की सबसे पहली आवश्यकता है कि व्यक्ति स्वदोष-दर्शन का अभ्यासी बन अपनी प्रवृत्तियों का शुद्धिकरण करे, बहिर्मुख प्रवृत्तियों को अन्तर्मुखी बनाये।

(मकराना में दिये गये प्रवचन से)

४८ : जीवन और लक्ष्य

आज मानव में यदि सबसे बड़ी कमी आयी है तो वह यह है कि वह लक्ष्यहीन बनता जा रहा है। जीवन का वास्तविक लक्ष्य क्या होना चाहिए—इसे भूलकर वह अलक्ष्य को लक्ष्य मानने लगा है। जैसा कि अधिकांश मनुष्यों के जीवन को देखते हैं—जिस किसी तरह पैसा इकट्ठा कर लेना ही वे अपनी जिन्दगी का सबसे बड़ा कर्तव्य समझते हैं। उसे ही अपना चरम लक्ष्य मान बैठे हैं कि येन-केन-प्रकारेण धन से अपनी तिजोरियाँ भर ली जायं। आदमी जैसा मन में मान बैठता है, स्थिर कर लेता

है उसके जीवन की गतिविधि, क्रिया-प्रक्रिया वैसी ही बन जाती है। जब आदमी ने धन को जीवन का लक्ष्य माना तब वह उचित-अनुचित, न्याय-अन्याय, जायज-नाजायज सभी तरह से इस ओर मुड़ा। फलत: शोषण-वृत्ति जागी, विषमता बढ़ी, सामाजिक जीवन में वैमनस्य और शत्रुभाव पनपे। यह सब इसलिए हुआ कि मनुष्य ने अपने अलक्ष्य को लक्ष्य के आसन पर बिठा दिया। यदि इन विषम समस्याओं और क्लेश-परम्पराओं से व्यक्ति बचना चाहता है तो वह अलक्ष्य को छोड़ लक्ष्य की ओर बढ़े। जीवन का सही लक्ष्य है—चारित्रिक शुद्धि, वृत्तियों का परिष्कार, नैतिक-विकास। इन्हें पाने के लिए इन्सान को जी-जान से कोशिश करनी चाहिए। ईमानदारी, सच्चाई, नीति, सद्भावना, विनय, सदाचरण और मैत्री ये सब सच्चे लक्ष्य की ओर दौड़ने वाले को सहज ही मिल जाते हैं। आज के संत्रस्त और क्लेशपूर्ण जन-जीवन में यदि शान्ति और सुख लाया जा सकता है तो इन्हीं के सहारे संभव हो।

हृदय की सरलता, निष्कपटता, विचारों की सादगी, शुद्धता—जीवन-व्यवहार में सहज रूप से सात्त्विकता का समावेश करनेवाले सद्गुण हैं। पर यदि इनके साथ अहंकार का मेल हो जाए तो ये सब लुप्त हो जाते हैं। इसलिए दूसरी विशेष बात मैं आपको यही कहूँगा कि आप अपने अहं को संयत बनाइए। अहंकार आत्म-गौरव नहीं है, आत्म-पतन है। इन्हीं शाश्वत तत्त्वों को आपलोग जीवन में उतारने की कोशिश करें तो आपको एक नई प्रेरणा, नया बल, और नई स्फूर्ति मिलेगी।

डीडवाना

२६ मार्च '५६

४६ : अणुव्रत-क्रान्ति क्या है ?

आज दुनिया में विनाश का ताण्डव मच रहा है। एक आदमी दूसरे आदमी को, एक समाज दूसरे समाज को, एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को चबा जाना चाहता है। अणुबम जैसे विध्वंसकारी और भयावह अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण क्या यह साबित नहीं करता ? घटना ज्यादा पुरानी नहीं हुई है। जापान पर अणुबम गिरा। मानवता थर्रा उठी। कीड़ों-मकोड़ों की तरह लाखों प्राणी देखते-देखते मृत, अर्द्धमृत, मूर्च्छित और संज्ञा-शून्य-से हो गये। आज भी उसे स्मरण करते मनुष्य का कलेजा काँप उठता है। मानव ऐसा दानव क्यों बन जाता है ! क्या वह धन, सत्ता और वैभव मरते वक्त अपनी छाती पर ले जायगा ? इतिहास बताता है न कभी ऐसा हुआ और न आगे

ऐसा होने की सम्भावना है। फिर भी मानव गुमराह बन रहा है। क्योंकि उसका विवेक सोया है। अभी तो ऐसा होना है : आज उसे अपना विवेक जाग्रत करना है। अपने आपकी ओर मुड़ना है। विध्वंस और विनाश की नानारंगी आँधियों को नवनिर्माण एवं नवसृजन के मलयानिल में बदलना है। वह भौतिक वस्तुओं का नहीं होगा, वह होगा—आत्मा का, अपने आपका। अपने आपको सत्य, अहिंसा और अपरिग्रह के साँचे में ढालना होगा। अणुव्रत-आन्दोलन मानव के सुषुप्त विवेक को जाग्रत करने का आन्दोलन है। अहिंसा और सत्य पर आधारित जीवन-शुद्धि-मूलक प्रवृत्तियों को व्यापक बनाने का आन्दोलन है ताकि विषम समस्याओं के भारी आघातों से क्षत-विक्षत मानव सुख और शान्ति की साँस ले सके।

यदि राज्य कर्मचारी रिश्वत लेना छोड़ दें, यदि व्यापारी कम तोल-माप तथा नकली को असली कहकर विक्रय करना छोड़ दें, यदि नागरिक असत्य साक्षी व असत्य मुकदमा जैसी बुरी वृत्तियों को छोड़ दें तो कितना काया-पलट हो जाय कुछ कहने की बात नहीं। अणुव्रत-आन्दोलन यही करना चाहता है। यह एक ऐसे नये समाज को देखना चाहता है जो वैमनस्य के बदले संतोष, संघर्ष के बदले सत्य-अवैर, अहिंसा और छल के बदले विश्वास और लोलुपता के बदले संयतता से सजा हो।

डीडवाना
२६ मार्च '५६

५० : भगवान् महावीर का जीवन सन्देश

आज भगवान् महावीर का जन्म-दिन है। आज के दिन लोग नाना प्रकार के कार्य-क्रम रखते हैं, उत्सव मनाते हैं पर अपने यहाँ तो परिपाटी है कि उनके जीवन के सम्बन्ध में कुछ कहा जाए, लोगों को उनके जीवन से प्रेरणा लेते हुए आत्म-शुद्धि की ओर आगे बढ़ने की स्फुरणा दी जाय।

भगवान् महावीर के बहुत से अनुयायी स्यात् उनके इतिवृत्त और मन्तव्यों को नहीं जानते होंगे। यदि जानते हैं तो गहराई से सोचते नहीं होंगे। यदि सोचते हैं तो उन पर आचरण नहीं करते होंगे। वास्तव में भगवान् महावीर के अनुयायियों की यह एक बहुत बड़ी कमी है।

भगवान् महावीर विश्व की एक महान् विभूति थे। उनका जीवन अध्यात्म-साधना की उच्चतम पराकाष्ठा पर पहुँचा था। जगत् के लिए वे प्रेरणास्रोत थे। अब तक अतीत में जितने तीर्थंकर हुए हैं और आगे होंगे, उन सबके उपदेशों का एक ही तत्त्व है—संसार के सब भूत, सब सत्त्व,

सब प्राणी, सब जीव—इन को मत मारो, उत्पीड़ित मत करो, दुःख मत उपजाओ। भगवान् महावीर ने इसी हिंसा-पराङ्मुखता और समता के सन्देश को जगत् में फैलाया।

अहिंसा और अनेकान्तवाद के रूप में भगवान् महावीर ने विश्व को अनुपम देन दी। यदि हम तत्कालीन परिस्थिति की ओर दृष्टि दौड़ाएं तो पता चलेगा कि उस समय हिंसा का बोलबाला था, जातिगत उच्चता-नीचता की भूलभुलैया में लोग बुरी तरह फँसे थे। मतवाद के व्यर्थ के झगड़ों में लोगों का जीवन उलझा था। ऐसे समय में भगवान् महावीर ने जो सन्देश दिया, वह मानव समाज में एक नया जीवन, नई चेतना का संचार करनेवाला था।

उन्होंने बताया—जन्म से कोई ऊँचा नहीं और नीचा नहीं होता। ऊँचापन और नीचापन तो अपने-अपने कर्मों पर है। जो सत्कर्म करता है, अपने को पापों से, बुराइयों से बचाये रखता है, वह वास्तव में ऊंचा है। जो हिंसा, असत्य आदि असत् कर्मों में लिप्त रहता है, ऊँचे कुल में पैदा होने पर भी उसमें ऊँचापन कहाँ ?

उन्होंने बताया—हिंसा से प्रतिहिंसा की भावना बढ़ती है, वैर बढ़ता है। वैर से कभी शान्ति हो सकती है क्या ? शान्ति का साधन अहिंसा है। जीवन में जितनी अधिक अहिंसा की परिव्याप्ति होगी, जीवन उतना ही शान्ति की ओर अग्रसर होगा।

किसी सिद्धान्त के एक पहलू को दुराग्रहपूर्वक पकड़कर लोग आपस में न झगड़ें, इसके लिए भगवान् महावीर ने अनेकान्तवाद का अमोघ साधन दिया। उन्होंने कहा—अपेक्षा भेद से तत्त्व का अनेक प्रकार से निरूपण किया जा सकता है। एक ही चीज में अनेक बातें मिल सकती हैं, जो परस्पर विपरीत-सी लगती हैं। भिन्न-भिन्न पहलुओं से सोचने पर यह विपरीतता अपेक्षा-भेद-सी लगती है, इसलिए किसी तत्त्व को दुराग्रह के साथ पकड़कर नहीं बैठ जाना चाहिए। दूसरी अपेक्षाओं से भी इस पर विचार करना चाहिए। समन्वय बुद्धि से उस पर सोचना चाहिए। अनेकान्तवाद समन्वय और सामंजस्य का बीज है।

भगवान् महावीर का जीवन त्याग-तपस्या, एवं संयम का साकार निदर्शन था। अपने मुनि जीवन में कितने घोर तप उन्होंने किये। आत्मतत्त्व की खोज में उन्होंने सर्वतोभावेन अपने को जोड़ दिया और अन्ततः सफल हुए। हम सबको उनसे प्रेरणा लेनी है। जीवन-शुद्धि के मार्ग पर आगे बढ़ना है। आज के दिन मेरा आप लोगों से यही सन्देश है, यही कहना है।

५१ : अपरिग्रह की साधना, सुख की साधना

सुख की ओर मनुष्य की सहज गति है। मनुष्य की क्या, जगत् का प्रत्येक प्राणी वर्ग सुख का आकांक्षी है। दुःख अनायास होता है। सुख के लिए प्रयास करना पड़ता है। व्यक्ति दुष्प्रवृत्ति की ओर प्रवृत्त होता है। परिणाम में वह दुःखों से घिरा मिलता है। दुष्प्रवृत्तियाँ दुःख की जननी हैं। सुख प्रयास-साध्य है। उसके लिए साधना चाहिये, साधन चाहिए और आत्मबल भी। तीनों की अनुस्यूति से सुख का स्रोत प्रस्फुटित होता है।

अहिंसा और अपरिग्रह की साधना ही सुख की साधना है। लोग अहिंसा और अपरिग्रह की बातें अधिक करते हैं पर उन्हें जहाँ जीवन में उतारने का सवाल आता है वहाँ पीछे खिसक जाते हैं। यह पलायनवादिता साधना का अवरोधक पक्ष है। यह नहीं होना चाहिए। जो हों उनका जीवन में प्रयोग हो। अहिंसा की उपयोगिता सामाजिक, राजनीतिक और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी हो सकती है, इसे लोग नहीं समझते थे। हिन्दुस्तान में अहिंसा के बल पर स्वराज्य आया। लोगों ने राजनीतिक क्षेत्र में भी अहिंसा की उपादेयता आँकी। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में किये गये अहिंसा के प्रयोग भी प्रसन्नतासूचक हैं। इन प्रयोगों से अहिंसा का क्षेत्र व्यापक बना है। प्रत्येक कदम में सक्रियता होनी चाहिए तभी उस सिद्धान्त का रूप निखर पाता है। अतः अहिंसा के सक्रिय प्रयोगों की आवश्यकता है। मुझे विश्वास है कि अहिंसा से विश्व के सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय तनाव बहुत हद तक दूर हो सकते हैं। हमें इस ओर आगे बढ़ने की आवश्यकता है।

पूँजी की आकर्षण-शक्ति ने विश्व में तहलका मचा रखा है। पूँजी के सामने बड़ा से बड़ा भी झुक जाता है फिर तो पूँजी की प्रतिष्ठा स्वाभाविक है। अन्य महापुरुषों की अपेक्षा शायद भगवान् महावीर ने अपरिग्रह का अधिकाधिक उपदेश दिया पर उनके अनुयायी कहलानेवाले जैन लोग शायद धन-संग्रह की साधना में सबसे आगे हैं। यह सिद्धान्तों की अवहेलना ही तो है। धर्म सिद्धान्तों में अधिक आता है, जीवन में कम। यह धर्म की विडम्बना नहीं तो क्या है? शोषण और अन्याय द्वारा बहुत सारा धन-संग्रह कर थोड़ा-सा उसका वितरण कर देना, और दानवीर की उपाधि पा लेना आज की एक आम मनोवृत्ति हो गई है। बड़ा सस्ता सौदा है। लोग दान की ओट में धनपति बनते चले जाते हैं और दुनिया की सारी वाहवाही इकट्ठी कर लेते हैं। धर्म पुस्तकीय और सैद्धान्तिक बन रहा है,

लोग धर्माचरण की साधना से घबराते हैं। आत्म-बल शिथिल होता जा रहा है। यह एक बुरी स्थिति है। जब तक व्यक्ति धन-संग्रह की भावना को नहीं छोड़ेगा तब तक उसमें धार्मिकता आना सम्भव नहीं। धन की जगह हमें त्याग और संयम को ऊँचा स्थान देना है। जीवन की उच्चता और नीचता की तौल त्याग के आधार पर करनी है। यह जब होगा तभी व्यक्ति अपने जीवन में सुख का अनुभव कर सकेगा।

लाडनूं
२ अप्रैल '५६

५२ : आलोचना की सार्थकता

युवक शक्ति और प्रगति के स्रोत हुआ करते हैं पर आज का युवक वर्ग निरन्तर अकर्मण्यता की ओर बढ़ता जा रहा है। जीवन की अनिश्चित दिशा ही उनकी अकर्मण्यता का मूल हेतु है। बुजुर्गों में युवकों के प्रति जो अविश्वास की भावना है उसका आधार यह अकर्मण्य वृत्ति ही है। युवक प्रगति और विकास की बातें करते हैं पर स्वयं उसकी ओर अग्रसर नहीं होते। उनमें उत्साह है पर लक्ष्य में दृढ़ता नहीं है। डाँवाडोल स्थिति में विकास के मार्ग पर चरण बढ़ते-बढ़ते रुक जाते हैं। अतः विकास के पहले लक्ष्य की स्थिरता होनी चाहिए। दिशा की स्पष्टता पर प्रत्येक चरण गतिमान होता चला जाता है। इसीलिए मैं प्रगति और नवयुग का सृजन करने के हामी भरने वाले नौजवानों से यह कहना चाहूँगा कि उनमें तत्त्व-ज्ञान की बहुत कमी है। आध्यात्मिक ज्ञान के क्षेत्र में उनकी योग्यता नहीं के बराबर है। मैं चाहता हूँ कि वे भारतीय तत्त्वज्ञान के व्यापक और विस्तीर्ण क्षेत्र में प्रवेश करें। अध्ययन और जीवन-मन्थन की उस स्थिति में युवकों को एकाग्रता की साधना करनी होगी। एकाग्रता गम्भीर अध्ययन के लिए पहली अपेक्षा है। उनके जीवन का यह उदयकाल अध्ययनकाल बनकर उन्हें बहुत आगे बढ़ा सकता है। साधना से सब कुछ प्रतिफलित होता है। युवक अपना आत्म-बल बटोरकर इस क्षेत्र में प्रवेश करेंगे तो वे गम्भीर विचारक और विद्वान् बन सकेंगे। तत्त्व-ज्ञान और दर्शन क्षेत्र के नीरस लगने वाले विषयों के अध्ययन में उन्हें रुचि पैदा करनी चाहिए। कम कहने और ज्यादा करने के तत्त्व को वे अपना जीवन-सिद्धान्त बनाएं।

आज के युवक फैशन के शिकार हैं। विलासिता बढ़ती जा रही है, आमोद-प्रमोद जीवन का सर्वोपरि एवं आवश्यक अंग बनता जा रहा है। घर

की आर्थिक स्थिति नाजुक है फिर भी वे फैशन को छोड़ना जीवन से हाथ धोना मानते हैं। अधिकांश की यही स्थिति है। युवक अपने मन और इन्द्रियों के आगे विवश हैं। सामाजिक प्रतिष्ठा के स्तर को ऊँचा रखने के लिए ऋण लेकर भी फैशन की वृत्ति का निर्वाह किया जाता है, शान-शौकत और राजसी ठाठ से शादी होती है। सादगी से नफरत होने लगी है। विलास ही जीवन का साध्य बनता जा रहा है और उसके लिए निरन्तर धन-संग्रह की धुन में रहना होता है। साधन उचित हो या अनुचित, धन-संग्रह की साधना में उनका औचित्य-अनौचित्य नहीं दीखता। राष्ट्र का नैतिक स्तर गिरता जा रहा है। इसी संग्रह और विलास वृत्ति के कारण, युवकों ने यह गलत लक्ष्य पकड़ा है। उस ओर से अब उन्हें मुड़ना है। जीवन में सादगी, सदाचार, और संयम को स्थान देना है। ये ही वे गुण हैं जिनकी उन्हें साधना करनी है।

मैं युवकों में आई हुई एक बुरी मनोवृत्ति की ओर भी उनका ध्यान आकृष्ट करना चाहूँगा। उनमें हर एक की आलोचना करने की मनोवृत्ति पाई जाती है। आलोचना अगर दोष की विशुद्धि के लिए हो तो अच्छी है। छिन्द्रान्वेषण या थोथी आलोचना की वृत्तियाँ उनमें नहीं होनी चाहिये। उससे किसी दूसरे का नुकसान तो होगा या नहीं किन्तु आलोचक अपनी आत्मा का नुकसान तो कर ही लेगा। समय का निकम्मापन ही इसका मूल कारण होता है। इसलिये इस ओर सावधानी की आवश्यकता है। वे आलोचना के आदी हैं, साधुओं की आलोचना करते हैं, शौक से करें। साधुओं को फायदा है। गृहस्थों की आलोचना करते हैं, उनकी अपनी इच्छा है पर उनसे मैं यही कहूँगा कि थोड़ा वे अपनी आलोचना की वृत्ति का भी स्वाद लें। क्या आन्तरिक आनन्द उसमें आता है, थोड़ा अनुभव करें। अपनी बुराइयों को निकालने का प्रयास करें तो आलोचना की सार्थकता हो सकती है।

लाडनूं
(युवक सम्मेलन)
२ अप्रैल '५६

५३ : शान्ति का पथ

आज का लोक-जीवन अशान्ति और विद्वेष के बीच से गुजर रहा है। संयम और सदाचार का अभाव ही इसका मूल हेतु है। लोग भौतिक सुख-सुविधाओं की ओर अधिक दौड़ते हैं, संयम का पक्ष कमजोर पड़ता जा

रहा है। आवश्यकताएँ दिन पर दिन बढ़ रही हैं फिर अशान्ति हो भी क्यों नहीं? जो कार्य अशान्ति के हैं उनसे वह बढ़ेगी ही। शान्ति का पथ इच्छाओं पर नियंत्रण है, लालसाओं का नियमन है, आवश्यकताओं का सीमाकरण है। वह जब तक नहीं हो जाता लोक-जीवन शान्ति नही पा सकता।

आवश्यकताओं की पूर्ति करके शान्ति पाने का जो दृष्टिकोण बनता जा रहा है वह एक भ्रामक दृष्टिकोण है, जो जगत् पर अशान्ति की चिनगारियां उछाल रहा है। संयम की साधना ही शान्ति की साधना है, जिस पर आज के मानव को अग्रसर होकर वास्तविक सुख और शान्ति को प्राप्त करना है।

लाडनूं
४ अप्रैल '५६

५४ : महिलाओं से

आज चारों ओर अधिकारों की मांग गूंज रही है। सब कहते हैं—हमारे अधिकार हमें सौंपे जायें। महिलाएँ भी इस माँग के लिए उत्सुक हैं। वे भी चाहती हैं उन्हें पुरुष के समान दर्जा मिले। इस सम्बन्ध में मेरा यह कहना है कि जीवन-विकास के क्षेत्र में रंग, लिंग, जाति, वर्ग आदि का कोई भेद है ही नहीं। वहाँ तो वही जीवन-विकास का सच्चा अधिकारी है, जो उसमें अपने को लगाता है। बहनों से मैं खास तौर से कहना चाहूँगा—पहले पहल वे दूसरी मांगों को छोड़ें, अपने जीवन को सच्चे विकास के मार्ग पर ले जाने का प्रयत्न करें। केवल देखादेखी या बराबरी की बातों से क्या बनेगा? यदि सच्ची उन्नति के लिए उनमें तड़प होगी तो उनकी प्रगति रोके न रुक सकेगी। उनमें उत्साह और साहस होना चाहिए। ऐसा होने से उनके सारे कष्ट सरल बन जाते हैं।

महिलाएँ बनाव-शृङ्गार की दुष्प्रवृत्ति का निरन्तर अधिकतम शिकार बनती जा रही हैं। मुझे नहीं मालूम, क्या वे अपने को सिर्फ भोग सामग्री की वस्तु ही समझ रही हैं? यदि उनमें ऐसी भावना घर कर गई है तो मैं उनसे पुरजोर शब्दों में कहना चाहूँगा कि वे इस भावना को अपने हृदय से निकाल दें। जीवन का सही साध्य जो स्थूल शरीर से मुक्ति पा अपने आत्म-स्वरूप में स्थित होना है, वे उसे भूलें नहीं। महिलाएँ वीराङ्गनाएँ होती हैं। वे अपनी आत्म-शक्ति को क्यों भूल जाती हैं? अपनी लोक-लाज की रक्षा के लिए जहाँ उन्होंने हँस-हँस कर अपने प्राणों की आहुतियां दे दी हैं वहाँ क्या वे अपने जीवन-विकास के लिए इन

आभूषणों और कीमती वस्त्रों का त्याग नहीं कर सकतीं ? वे अपने जीवन को विलास और ऐश्वर्य से मोड़ कर त्याग और संयम की साधना में लगायें।

महिलाओं में धर्म के प्रति हार्दिक श्रद्धा है, मैं इसे भूल नहीं रहा हूँ। पर तो भी मैं यह महसूस कर रहा हूँ कि उनमें वह श्रद्धा कुछ कमजोर बनती जा रही है। आदिकाल से धार्मिक क्षेत्र में महिलाओं का एक गौरवपूर्ण स्थान रहा है। यदि वे उस क्षेत्र में अपना स्थान रखना चाहती हैं, पुरुष-समाज को अपने जीवन से प्रेरणा देना चाहती हैं तो उसे धर्म के प्रति अपनी श्रद्धा को प्रबलतम बनाना होगा। मैं यह भी नहीं चाहूँगा कि उनमें अन्धश्रद्धा ही रहे। वे ज्ञान के क्षेत्र में उन्नति करती हुई श्रद्धा को मजबूत बनायें। जीवन में तत्त्व-ज्ञान और तत्त्व चिन्तन की प्रकाश-रश्मियों को स्थान दें। समाज और राष्ट्र को उन्होंने बहुत कुछ दिया है और वे अब भी महिलाओं से आशा रखते हैं। मुझे विश्वास है कि महिलाएँ अपने आध्यात्मिक जीवन को उठाती हुई समाज, राष्ट्र और विश्व के सच्चे कल्याण की ओर अग्रसर होंगी।

लाडनूं
५ अप्रैल '५६

५५ : शुद्ध जीवन-चर्या

भोगवाद और सुविधावाद आज लोगों के जीवन पर हावी हो रहे हैं। भोगोपभोग की प्रचुर सामग्री और सुविधा पाने के लिए व्यक्ति संग्रह और शोषण की ओर बढ़ता है। साथ ही साथ जहाँ भोग, वासना जीवन का लक्ष्य मान लिया जाता है, वहाँ व्यक्ति सदाचार, सच्चाई और ईमानदारी का उल्लंघन करते जरा भी नहीं हिचकिचाता, क्योंकि उसका मन वास्तविकता सदाचार आदि सद्गुणों में नहीं लगता। उसे वास्तविकता विषय-वासना में मिलती है। यह मानव का बहुत बड़ा मानसिक अथवा वैचारिक पतन है। बुराइयों की ओर बिना रुके लुढ़कने की यह वह फिसलन है जो व्यक्ति को अवनति के रसातल तक ले जाये बिना नहीं छोड़ती। भोगवाद और सुविधावाद ही अनैतिकता के पनपने का मुख्य आधार है। मैं कहना चाहूँगा कि व्यक्ति अपने मन में विषय-वासना और भोग लोलुपता की दुष्प्रवृत्तियों को निकाल फेंके। ये जीवन को डँसनेवाली वे सर्पिणियाँ हैं, जिनका जहर मनुष्य को समाप्त किये बिना नहीं रहता। भोग और सुविधा में जो सुख की परिकल्पना करते हैं, वह मिथ्या है, कल्पित है। जो सुख, अहिंसा,

सत्य, शील, सदाचार जैसे गुणों की उपासना में है, वह भोगोपभोग में कहाँ ? इसलिए सबसे पहले मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी मनोवृत्ति को सुधारे, मान्यता को ठीक करे। बाह्य सुख-सुविधा और भोग-वासना के बदले आत्म-शुद्धि, शालीनता और शुद्ध जीवन-चर्या को वह अपना साध्य माने। ऐसा करने से नैतिकता स्वयं जीवन में प्रस्फुटित होगी। अनैतिक आचरण पर सहज रोक लगेगी।

यदि इस ओर मानव अग्रसर हुआ तो मुझे विश्वास है कि उसका जीवन वास्तव में सुखी और शान्तिपूर्ण बनेगा।

लाडनूं
५ अप्रैल '५६

५६ : कथनी और करनी में एकता लाएँ

आज धार्मिक क्षेत्र में साम्प्रदायिक तनाव कुछ कम हो रहा है, यह प्रसन्नता की बात है। साम्प्रदायिक आग्रह जहाँ पलता है वहाँ तत्त्व-चिन्तन की दिशा नहीं बनती। तत्त्व-चिन्तन की दिशा बने बिना मूल्यांकन की दिशा सही नहीं बनती। भेद-अभेदमूलक तत्त्वों को अनाग्रह बुद्धि से या निष्पक्ष बुद्धि से देखा जाए तो हम से एक दूसरे के व्यापक प्रसार की बहुत बड़ी अपेक्षा है।

आज हरएक वर्ग के व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि उसके जीवन में नैतिकता आये। नैतिकता की आवाजें आज बहुत लगती हैं पर उनका आचरण कम होता है। कथनी और करनी की इस विषमता को आज पाटने की आवश्यकता है। कहने के पीछे हृदय की निष्ठा होनी चाहिए। वह निष्ठा कहने के पूर्व स्वयं जीवन में उतारने से आती है। इसलिए कहने के पूर्व आचरण-भूमिका का निर्वाह होना चाहिए। आचरित धर्म का उपदेश दूसरों के लिए प्रेरणादायी होता है। अतः आज कहने के बजाय करने का समय है। अणुव्रत-आन्दोलन जीवन-धर्म का आन्दोलन है। उसका व्रत प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में आना चाहिए। नैतिक क्रान्ति की सही दिशा में यह एक आवश्यक कदम है। इसलिए सबको इसकी ओर अग्रसर होना चाहिये।

सुजानगढ़
६ अप्रैल '५६

५७ : कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव

जैन-दर्शन के अनुसार जीवन का चरम लक्ष्य मुक्ति है। भारत के अन्यान्य दर्शन भी प्रायः ऐसा ही मानते हैं। जैन-दृष्टि से मुक्ति का अर्थ है—आत्मा का कर्म-बन्धनों से सर्वथा छूट जाना—अपने शुद्ध स्वरूप में अधिष्ठित होना। ऐसा होने पर आत्मा को फिर जन्म-मरण, आवागमन के चक्कर में नहीं पड़ना होता है क्योंकि ये सब कर्म-जन्य हैं। इनका बीज कर्म है। आत्मा के साथ जब कर्मों का कोई लगाव ही नहीं रहा तो उनका प्रतिफल उस पर क्यों घटे?

क्रोध, मान, माया और लोभ—ये मुक्ति के बाधक तत्त्व हैं, कर्म-बन्धन के चक्कर में प्राणी को भटकानेवाले हैं। इसके साथ ही साथ वर्तमान जीवन को भी ये अशान्त, क्लेशपूर्ण और विषम बनानेवाले हैं। इन्हें कषाय कहा जाता है। यदि हम गहराई से सोचें तो यह प्रतीत होगा कि मनुष्य क्रोध आदि में जितना अधिक ग्रसित होता है, उसका जीवन उतना ही अस्त-व्यस्त, असन्तुलित और भारी बनता जाता है।

क्रोधी व्यक्ति में स्थिरता नहीं पनपती। वह बात-बात में आग-बबूला होकर अपना धीरज खो बैठता है। वह शान्ति से किसी भी बात को सोच तक नहीं सकता। वह हर विषय का तत्काल निर्णय कर लेता है। इसका परिणाम अच्छा नहीं होता। वह अपने पारिवारिकों, मित्रों और साथियों का स्नेह और विश्वास नहीं पा सकता। उसके मनोभाव उज्ज्वल नहीं होते। उसमें उग्रता, तीव्रता और कलुषितता रहती है। इससे वह कठोर बन्धनों का बन्धन करता रहता है।

मान का अर्थ है अपने को बड़ा मानना; विद्या, बुद्धि, वैभव आदि में अपने समक्ष औरों को तुच्छ गिनना। मान मानव की सरलता, विनयभावना आदि को क्षीण करता है। इससे अहं, दंभ और अहंपोषण की वृत्ति बढ़ती है। गुण-ग्राहकता की भावना कम होती है। विद्या, बुद्धि आदि की प्रचुरता हो, फिर भी अभिमान नहीं करना चाहिए। अभिमान इसके विकास को रोकता है। आत्मा की परिशुद्धि और उन्नति में बाधा डालता है।

माया का अर्थ है—दम्भचर्या, छल और कपट। इससे आत्मा में कुटिलता आती है। भावना मलिन होती है। चिन्तन अशुभ रहता है। मायावी व्यक्ति का लोग भरोसा नहीं करते। उसका सामाजिक जीवन भी अशान्त, अविश्वस्त, और असम्मानपूर्ण रहता है। हर व्यक्ति उससे नेपथ्य को बचाये रखने का प्रयास करता है। उसका जीवन लांछित और प्रताड़ित रहता है।

लोभ सब बुराइयों का मूल है। कौन नहीं जानता—लोभ में फँसा व्यक्ति कैसा-कैसा दुष्कर्म कर डालता है। हिंसा, चोरी, धोखा, अप्रामाणिकता इन सब दूषित वृत्तियों का कारण लोभ ही तो है। यह आत्मा को गिरानेवाला है।

जबतक इन चारों कषायों से व्यक्ति अपने को नहीं छुड़ा सकता, वह मुक्ति की ओर आगे बढ़ नहीं सकता। एक पूर्वतन आचार्य ने कहा है—**"कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव।"** अर्थात् कषायों से मुक्त होना ही मुक्ति है।

सुजानगढ़
१० अप्रैल '५६

५८ : आन्तरिक सौन्दर्य

महिलाएँ बाह्य सौन्दर्य, सुसज्जा और प्रसाधन को जीवन का मुख्य ध्येय मान आन्तरिक सौन्दर्य-अर्जन को न भूलें। उनके जीवन-व्यवहार में सुन्दरता आनी चाहिए। अन्तर्वृत्तियों में सुन्दरता आनी चाहिये। उनका कोई कार्य ऐसा न हो, जो असुन्दर हो। अर्थात् उनमें हिंसक-भाव, दम्भचर्या, प्रताड़ना और कालुष्य न हो। उनकी वृत्तियाँ निर्मल और निष्पाप हों। वे किसी के प्रति असद्-व्यवहार न करें, किसी का जी न दुखाएँ। व्यवहार व भाषा में कटुता न बरतें। दूसरों को हीन व तुच्छ न समझें। घर के बड़े-बूढ़ों के प्रति अविनय-भाव न रखें। उनका जीवन सादा और विचार ऊँचे हों। इसीका नाम आन्तरिक सौन्दर्य है, जो आत्म-शुद्धि का हेतु है।

सुजानगढ़
१० अप्रैल '५६

५६ : उत्तम, मंगल और शरण

जैन-दर्शन कर्मवादी दर्शन है। पुरुषार्थ का वहाँ बहुत बड़ा स्थान है। अपना उत्थान-विकास मानव के कर्त्तव्य से बनता है। इसके लिए वह स्वयं उत्तरदायी है, दूसरा कोई नहीं। तभी तो भगवान् ने कहा है—**"आत्मा ही सुख-दुःख का कर्त्ता-विकर्त्ता है। वह अपना मित्र है, यदि वह**

सत्प्रयुक्त है। वह अपना शत्रु है, यदि वह दुष्प्रयुक्त है। वह स्वयं अपना तारक है, अपना उद्धारक है। दूसरा कोई नहीं।"

व्यवहार की भाषा में गुरु आदि पूज्य जनों के प्रति जो कहा जाता है, आप हमें तारनेवाले हैं, हमारा उद्धार करनेवाले हैं, वह हृदय की भक्ति और विनय का परिचायक है। वस्तुतः तारना—जीवन को ऊँचा उठाना, गिराना, विकारों में पड़ना यह तो मानव की अपनी जिम्मेवारी है। जैसा वह करेगा, पायेगा। गुरु-मार्ग दर्शक है। वह सच्ची उन्नति का मार्ग बताता है। व्यक्ति यदि उस मार्ग पर आत्मबल और उत्साह के साथ आगे बढ़ता है तो अपने जीवन-विकास के लक्ष्य में सफलता पाता है।

भगवद्वाणी में ज्ञान के अमूल्य रत्न भरे पड़े हैं। एक-एक पद श्रेयस् का वह सन्देश देता है, जिसके सहारे जीवन बहुत विकसित हो सकता है। मांगलिक पाठ आप अनेक बार सुनते हैं। वहाँ कितना उच्च आशय है। संसार के भौतिक सुख-सम्पदाओं को आज का मानव मंगल मानने लगा है। वह वास्तविक मंगल नहीं है। तत्त्वतः वह अमंगल है। अकल्याण है। वास्तविक मंगल की कैसी सरस छटा है:

चत्तारि मंगलं, अरिहंता मंगलं।
सिद्धा मंगलं, साहू मंगलं।
केवलीपन्नत्तो धम्मो मंगलं।

अर्थात् जिन्होंने राग-द्वेष आदि आत्म-विघातक शत्रुओं का हनन, उच्छेद कर डाला—वे अर्हत् मंगल हैं। उन्होंने विश्व को मंगल की ओर जाने का मार्ग-दर्शन दिया है। समस्त कर्म-बन्धनों को तोड़, विजातीय तत्त्वों से सर्वथा परे हो जिन्होंने सिद्धि, चरम सफलता पा ली, वे सिद्ध मंगल हैं। विश्व के लिए वे आदर्श हैं, प्रेरणापुंज हैं, सांसारिक सुख-सुविधाओं और प्रलोभनों को छोड़ जिन्होंने अपना जीवन-सत्य-अहिंसा, आदि महाव्रतों की साधना में सम्पूर्णतः लगा दिया—वे साधु मंगल हैं। साधना के पथ पर अविरल और अविश्रान्त गति से आगे बढ़ते हुए जन-समाज में वे स्फुरणा का संचार करते हैं। आत्मशुद्धि, और आत्म-सम्मार्जन का जो साधन है, पथभूले राही को जो जीवन का सही पथ बतलाता है—वह धर्म मंगल है।

इनसे बढ़कर और क्या मंगल होगा? लोग इस पवित्र वाणी का तत्त्व हृदयंगम करें। इन्हीं मांगलिक प्रश्रयों का सहारा लेने से मानव अपने जीवन में सच्चा आनन्द और शान्ति पायेगा, ऐसा मेरा सहज विश्वास है।

भगवान् ने इन्हीं की शरण को सच्चा सहारा कहा है:

चत्तारि सरणं पवज्जामि।
अरिहंता सरणं पवज्जामि।
सिद्धा सरणं पवज्जामि।
साहू सरणं पवज्जामि।
केवलीपन्नतं धम्मं सरणं पवज्जामि।

जीवन की दृष्टि अन्तर्मुखी बनेगी तभी व्यक्ति अध्यात्मवाद का उपासक बन सकेगा। आज व्यक्ति सुबह उठकर अखबार पढ़ना चाहेगा, गीता, धम्मपद और जैनसूत्रों के पाठों के स्मरण में उसकी रुचि नहीं रही है, फिर आत्म-विकास का प्रश्न ही नहीं उठता यह सब भौतिक दृष्टिकोण की प्रबलता का परिणाम है। अध्यात्म-दृष्टि का आज अभाव होता जा रहा है। यह खेद का विषय है। मैं चाहूँगा कि आप प्रवृत्ति-शोधन और अध्यात्म-दृष्टि के विकास की ओर अग्रसर हों और अपने को सफल और सार्थक बनायें।

सुजानगढ़
१२ अप्रैल '५६

६० : पेटू साधु, साधु नहीं

जैनधर्म में संयम का सबसे ऊँचा स्थान है। संन्यस्त जीवन या साधु-अवस्था संयम का सक्रिय प्रतीक है। साधु जीवन भर के लिए संयम पालन का दृढ़ संकल्प लेकर विचरता है। जहाँ एक ओर वह प्राणपण से अध्यात्म-साधना या संयताचरण में अपने आपको लगाए चलता है वहाँ दूसरी ओर वह जन-साधारण में संयम और त्याग की भावना का संचार करने के लिए प्रयत्नशील रहता है। लोगों से वह इसका बदला नहीं चाहता। लोक-जागरण भी उसकी साधना का एक अंग है। जीवन चलाने के लिए उसको भोजन चाहिए। तन ढँकने के लिए वस्त्र चाहिए। पर इस अल्पतम आवश्यकता–पूर्ति के लिए भी वह समाज पर भार नहीं बनता। साधु आचार-परम्परा की मर्यादा ही ऐसी है।

एक गृहस्थ अपने लिए भोजन बनाता है। संयोग से साधु उसके यहाँ भिक्षा के लिये आ जाये तो वह अपने खाने में संकोच करके कुछ देना चाहेगा तभी साधु स्वीकार करेगा। साधु को जितना दे देगा वह गृहस्थ पुनः पका कर उसकी पूर्ति नहीं कर सकेगा। उस बचे हुए भोजन से ही उसे काम चलाना होगा। इसका तात्पर्य यह है कि वह साधु के निमित्त

कुछ भी तैयार नहीं कर सकता। ऐसा करना जैन-शास्त्रों में दोष माना गया है।

साधु जब भिक्षा के लिए जाता है तो वह देनेवाले से पूछता है-उसने कहीं साधु के निमित्त तो भोजन तैयार नहीं किया? पूरी जांच के बाद साधु भोजन का अल्पांश ग्रहण करता है। भिक्षा-ग्रहण का दूसरा नाम गोचरी भी है। जिसका अर्थ है—जैसे गाय किसी एक ही स्थान पर पेट भर नहीं चरती। थोड़ा-थोड़ा चरती जाती है और आगे बढ़ती जाती है, इसी प्रकार साधु एक ही घर से अपनी पूर्ति नहीं कर लेते। वे थोड़ा-थोड़ा कई घरों से लेते हैं, जिससे देनेवालों पर भार न पड़े।

जैन-शास्त्रों में साधु को आहार-ग्रहण में ४२ दोषों को टालने का निर्देश किया गया है। जैसे—साधु के निमित्त जो भोजन पकाया गया हो, उसे आधाकर्मी दोष कहा जाता है। ऐसा भोजन साधु के लिए अग्राह्य है। किसी गृहस्थ के यहाँ दूसरे मेहमान आनेवाले हैं। वह भोजन तैयार करवाता है। साथ-साथ में ऐसा भी सोच लेना है कि साधु भी आनेवाले हैं, उनके लिए भी भोजन तैयार होना चाहिए। जहाँ भोजन पकाने में यह दृष्टि रहती है। आनेवाले मेहमानों के साथ-साथ साधुओं के लिए भी उसका उद्देश्य है। ऐसा भोजन औद्देशिक दोषपूर्ण है। उसे साधु नहीं ले जा सकता। इसी प्रकार और भी दोष हैं।

साधु को इन दोषों के परिहार के लिए प्रतिक्षण जागरूक रहना पड़ता है; क्योंकि उसके जीवन का लक्ष्य अच्छा खाना-पीना और मौज-मजा करना नहीं है। उसका लक्ष्य है आत्म-शुद्धि, जन-जीवन की शुद्धि। इस लक्ष्य से परे होकर साधु, साधु नहीं रह जाता। वह साधु के वेष में असाधु है, पेटू है।

लाडनूं
१४ अप्रैल '५६

६१ : पूज्यश्री कालुगणी की स्मरण-तिथि पर

आज छठ है। परम श्रद्धेय पूज्य कालुगणी का छठ के दिन ही स्वर्गवास हुआ था। यह उनकी स्मरण-तिथि है। श्री कालुगणी महान् पुण्यवान् पुरुष थे। उनका जीवन अत्यन्त ओज, आत्मबल और साहस का जीवन था। उनके जीवन में अनेकों संघर्ष आये पर उनके अपरिमित आत्मबल के समक्ष वे टिक नहीं सके। स्वतः समाप्त हो गये। ओसवाल जाति में

देशी-विलायती का भयानक संघर्ष उनके समय में आया, जिसने ओसवाल जाति की मर्यादा, एकता और संगठन पर एक गहरी चोट की। लोग साधुओं को भी उससे जोड़ने लगे। कितनी बड़ी भूल की वह बात थी। साधुओं को ऐसे संघर्षों से क्या? पर जो लोग गहराई से नहीं सोचते, वे असलियत को नहीं पकड़ सकते। वे गलत भ्रम में पड़ जाते हैं। आचार्य श्री कालुगणी ने उस समय जिस दूरदर्शिता, आत्मदृढ़ता एवं निपुणता से काम लिया, वह सर्वविदित है।

संघर्ष से भागना या अनावश्यक संघर्ष मोल लेना दोनों ही अनुचित है। यदि जीवन में संघर्ष आता है, विवेक के साथ उसका सामना किया जाता है तो वह एक अभिनव ज्योति देता है पर यदि अविवेक से यों ही संघर्ष खड़ा किया जाता है तो उससे शक्ति का दुरुपयोग होता है। पूज्यपाद कालुगणी सदा इस ओर जागरूक थे।

उन्होंने अपने जीवन-काल में दो विशेष यात्राएँ कीं—मारवाड़ की तथा मालवा की। बड़ी सुन्दर व अध्यात्म प्रेरणादायी वे यात्राएँ थीं। मुझे इन यात्राओं में उनके साथ रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। मालव यात्रा के पश्चात् गंगापुर में उनका स्वर्गवास हुआ। उनके अन्तिम समय के संस्मरण मुझे आज भी एक सजीव प्रेरणा देते हैं। शासन के उत्तरदायित्व को मैं सफलता के साथ सम्भाल सकूं, इसके लिए उन्होंने मुझे जो सत् शिक्षायें दीं, उन्हें याद करते आज भी मेरा हृदय गद्गद् हो उठता है। श्री कालुयशोविलास में मैंने उनका यथास्थान उल्लेख किया है। वे कहने लगे :

श्रमण श्रमणी सहु ए थारे शरणे रे
तू रहिजे सदा एहने उद्धरणे रे
मुनिप महामना !

अर्थात् संघ के समग्र साधु-साध्वी तुम्हारी शरण में हैं। तू सदा इनके उद्धार—विकास के लिए सतत जागरूक रह। संघ में बालक भी हैं, वृद्ध भी हैं, बीमार भी हैं, सबकी देख-भाल यथावत् होनी चाहिए। किसी के मन में यह न आने पाए कि हम यहाँ निराश्रय हैं।

आगे उन्होंने मुझे स्फुरणा देते हुए फरमाया, "तुम्हें एक बृहत् साधु संघ का परिचालन करना है। जिसका कार्य शाबासी देने योग्य हो, उसे शाबासी देना, उसका उत्साह बढ़ाना; जिसका कार्य उपालम्भ देने योग्य हो, उसको उपालम्भ देना। संघ के ऐक्य, अनुशासन व संगठन को विकसित करने के लिए यह आवश्यक है। गण की एक-एक मर्यादा कायम रहे, उन्हें सब जीवन-प्राण समझें, ऐसा करना। इतने बड़े भार को देख घबराने

की आवश्यकता नहीं है। मजबूती और आत्म-बल से आगे बढ़ते रहना।"

अपने प्रातः स्मरणीय गुरुवर्य के ये स्फूर्तिप्रद उद्गार क्या कभी भूले जा सकते हैं? उनसे मुझे बड़ा बल मिलता है।

श्री कालुगणी एक सहज संस्कारी और ओजस्वी महापुरुष थे। यह तभी से विदित था जब पूज्यपाद सप्तमाचार्य श्री डालगणी पट्टासीन हुए।

श्री डालगणी का निर्वाचन पूर्वतन आचार्य द्वारा नहीं हुआ था, क्योंकि षष्ठाचार्य श्री श्रीमाणकगणी उत्तराधिकारी का बिना निर्णय किये ही दिवंगत हो गये थे। श्री डालगणी का निर्वाचन उनकी अनुपस्थिति में साधु-संघ द्वारा हुआ था।

श्री डालगणी पधारे। मुनिश्री मगनलाल जी से पूछने लगे—आपलोगों ने मेरा निर्वाचन किया है। मुझे पूछना तो था। मुनिश्री मगनलाल जी कहने लगे—इसमें पूछना क्या था? आप सर्वथा योग्य हैं। हमने आपको चुन लिया। श्री डालगणी बोले—यदि मैं नहीं स्वीकार करता तो? मुनि श्री मगनलालजी ने कहा—स्वीकार कैसे नहीं करते? हम आपके पैरों पड़ते, आपको मनाते, राजी करते। श्री डालगणी ने फरमाया—मान लीजिये मैं फिर भी नहीं मानता तो आपने किसको सोच रखा था? मुनिश्री मगनलाल जी बोले—हमलोग विनती करते, नम्रता दिखाते, आखिर हमारी बात मानते ही आप। श्री डालगणी ने फिर फरमाया—मान लें, फिर भी मैं नहीं मानता, मेरा अधिकार तो मुझपर है, वैसी हालत में आप किसको चुनते। तब मुनिश्री मगनलाल जी ने कहा—हम अपनी ओर से पूरी चेष्टा करते, उसपर भी आप यदि स्वीकार नहीं करते तो हमारा ध्यान श्री कालुजी के लिए था। तब, श्री डालगणी बोले—मेहनत मैंने भी बहुत की पर यहाँ तक मेरी दृष्टि नहीं पहुँची।

तभी से श्री डालगणी की दृष्टि उन पर लग गई। श्री डालगणी के उपरान्त श्री कालुगणी पर संघ का भार आया, जिसे उन्होंने अपने पूर्वतन आचार्यों की तरह अत्यन्त योग्यता के साथ निभाया। वे प्रभावशाली पुरुष थे। मारवाड़, मेवाड़ तथा मालवा-यात्रा के अतिरिक्त ढूंढाड़, हरियाणा प्रभृति अन्यान्य प्रदेशों की भी उन्होंने महत्त्वपूर्ण यात्राएँ कीं। थली-प्रदेश को आपने अपने उपदेशामृत से चिरकाल तक सींचा। शासन का उन्होंने सर्वतोमुखी विकास किया। तप, त्याग, विद्या, साहित्य आदि का उनके प्रयास व निर्देशन में साधु-संघ में अत्यधिक प्रसार हुआ।

यह पूज्यपाद श्री कालुगणी का ही प्रताप है कि आज अपना धर्म-शासन दिन पर दिन विकासोन्मुख होती हुई जनता को अध्यात्म की महत्त्व-पूर्ण देन दे रहा है। शासन के प्रत्येक साधु-साध्वी श्रावक एवं श्राविका का

कर्त्तव्य है कि वे शासन की मर्यादाओं में रहते हुए अपने जीवन और तपस्या को त्याग की ओर बढ़ाएँ। जहाँ शासन में अनेकानेक तपस्वी, वैरागी साधु, साध्वी हुए, वहाँ श्रावक-श्राविकाओं में भी धर्म के प्रति अटल रहने वाले, अपने को कठिन तपस्या एवं साधना में लगानेवाले अनेकों हुए हैं। इससे सब प्रेरणा लें।

लाडनूं
१५ अप्रैल, '५६

६२ : आत्म-पवित्रता का साधन

धर्म आत्म-पवित्रता का साधन है। आत्मा पर आई मलीनता को दूर करने के लिए, आत्मा की पवित्रता लिए या आत्मा को अपनी वास्तविक स्थिति में लाने के लिए धर्म की आवश्यकता और उपयोगिता है। हिंसा से आत्मा अपवित्र बनती है इसलिये हिंसा का निषेध किया गया। जो बड़े हैं उन्हें सुख की अधिक जरूरत है, छोटों को सुख की जरूरत नहीं या उन्हें जीने का अधिकार नहीं, जहाँ यह भावना बन जाती है वहाँ आत्मा का अस्तित्व भुला दिया जाता है। आत्मा-आत्मा में समानता है—यह भावना बने बिना जीवन में अहिंसा नहीं टिक सकती। जैनधर्म या आत्मधर्म सब प्राणियों के प्रति समानता की भावना देता है। जहाँ जीवन के आदि छोर में व्यक्ति जीने की वांछा करता है वहाँ जीवन के अन्तिम क्षण में भी वह जीने की वांछा रखता है। सब जीने की वांछा रखते हैं तब किसी को मारने का किसे अधिकार हो सकता है? सबके प्रति समभाव, शत्रु के प्रति भी प्रेम का व्यवहार, यही वास्तविक अहिंसा है जिसकी ओर सबको आगे बढ़ना है।

आत्म-शान्ति अन्तरात्मा से उद्भूत होती है। बाह्य शान्ति वास्तविक शान्ति नहीं है। बाहरी शान्ति को ही वास्तविक शान्ति माननेवाला भौतिक पदार्थों की खोज में भटकता रहता है, उलझता रहता है और उसी में निरंतर रमा रहता है। फिर भी उसे शान्ति नहीं मिलती। कारण स्पष्ट है—ज्यों-ज्यों वह पदार्थों के माध्यम से तृप्ति की ओर बढ़ना चाहता है, अतृप्ति की परम्परा और लम्बी बनती चलती है। अतृप्ति मिट नहीं रही है। फलस्वरूप शान्ति दूर बहुत दूर चली जा रही है। अशान्ति की जलती चिनगारियां मानव को सुख की साँस नहीं लेने देतीं। वह शान्ति की खोज में है और नाना प्रकार की प्रक्रियाओं की ओर गति कर रहा है। ध्यान रहे, शान्ति का एक ही मार्ग है और वह है—आत्मशुद्धि—आत्मपरिष्कार।

यदि लोग इस ओर अग्रसर हुए तो इसमें सन्देह नहीं कि उनका जीवन शान्ति को अवश्य आत्मसात् करेगा।

हर व्यक्ति विकास करना चाहता है, अपने जीवन को उन्नत देखना चाहता है। सही भी है—विकास होना भी चाहिए। वह क्या जीवन को जीवन की पुरानी स्थिति में ही चलाता रहे, विकास की ओर प्रगति न करे। अतः यह सही है कि विकास जीवन के लिए इष्ट है और उसके लिए व्यक्ति को सदैव सजग और सचेष्ट रहना चाहिए। विकास के भी अनेक रूप हैं। कोई परिग्रह की वृद्धि को कोई साम्राज्य की वृद्धि को और कोई नाना सुखोपभोगों की वृद्धि को ही विकास मानता है, किन्तु यह वास्तव में जीवन का विकास नहीं है। भारतीय-दर्शन आत्मवादी दर्शन है। उसके दृष्टिकोण से आत्मा का विकास ही सर्वोपरि श्रेष्ठ विकास है। दैहिक विकास की अपेक्षा यहाँ आत्मा के विकास की महत्ता रही है और आध्यात्मिक दर्शन-क्षेत्र के समग्र प्रयत्न आत्मा के विकास की ओर अग्रसर हुए हैं। आत्मा परम तत्त्व है। व्यक्ति आत्मा से परमात्मा बनने की ओर निरन्तर उन्मुख होता रहे—यही जीवन-विकास की सही दिशा है, जिसकी ओर सबको प्रयाण करना है।

सहज प्रश्न होता है कि आत्मा-विकास की साधना क्या है? मैं आपको संक्षेप में बताना चाहूँगा—अपनी दुष्प्रवृत्तियों का निरोध कर जीवन में सद्-प्रवृत्तियों का समावेश करना ही जीवन-विकास की सर्वोपरि साधना है। समूचे संसार को सुधारने की डींग भरनेवाले मनुष्य—समूचे संसार को देखने-वाले मनुष्य जब तक अपने को नहीं सुधारेंगे, अपने जीवन की ओर नहीं देखेंगे, जीवन में घुसी हुई दुष्प्रवृत्तियों का निरोध नहीं करेंगे तब तक विकास की सब कल्पनाएँ मानव-मस्तिष्क की थोथी कल्पनाएँ होंगी। जीवन-विकास का तत्व वहाँ नहीं है। अतः आज की सबसे पहली आवश्यकता यह है कि व्यक्ति स्वदोष-दर्शन का अभ्यासी होकर अपनी आन्तरिक प्रवृत्तियों का शुद्धिकरण करे, और बहिर्मुख प्रवृत्तियों को अन्तर्मुखी बनाये।

६३ : युवकों में विचार स्थैर्य हो

मैं चाहता हूँ, युवक अधिक से अधिक संयम तथा त्याग की ओर मुड़ें। जीवन में घुसी हुई बुरी प्रवृत्तियों को छोड़ स्वयं को सत्-प्रवृत्तियों में लगाएँ। हिंसा, असत्य जैसे आत्म-पतनकारी दुर्गुणों से मुँह मोड़ें। इससे वे जीवन में शान्ति और सुख का अनुभव करेंगे। मैं तो इसे ही अपना स्वागत या अभिनन्दन मानता हूँ।

युवकों में मैं जो उत्साह देख रहा हूँ, इससे लगता है कि धर्म के प्रति उनके मन में रुचि है, लगन है। युवक दिखावे या बाह्याडम्बर को पसन्द नहीं करते। वे तो वास्तविकता में विश्वास करते हैं। उनके यहाँ ऐसा मिलता है तब रुचि और निष्ठा क्यों न हो! युवकों में जोश है, साहस है, स्फूर्ति है, काम करने की अभिरुचि है। यह मैं जानता हूँ पर वे इन बहुमूल्य शक्तियों का उपयोग निर्माण में करें, विध्वंस में नहीं।

युवकों से मैं कहना चाहूँगा कि वे कम से कम तीन बातों को विशेष रूप से स्वीकार करें—ज्ञान-विकास, आचार-शुद्धि, विचार-स्थैर्य। ज्ञान जीवन का महत्त्वपूर्ण पहलू है। उसके बिना उन्नति की केवल रट लगाई जा सकती है, वास्तविक उन्नति नहीं हो सकती। नौजवानों को अपना अधिक से अधिक समय ज्ञानार्जन, अध्ययन, चिन्तन व मनन में लगाना चाहिए। वे अपने आचरण को सात्त्विक और उज्ज्वल बनाएँ। उनका आचरण ऐसा हो कि दूसरों के सामने वह एक आदर्श के रूप में रखा जा सके। तीसरी बात विचारों की स्थिरता की है। आज कुछ सोचा, कल कुछ सोचा, इस तरह की वैचारिक अस्थिरता और चंचलता उचित नहीं। यह जीवनस्तर को छिछला और निस्तेज बनाती है। आशा है, युवक इन तीन बातों पर ध्यान देते हुए जीवन को तदनुरूप बनाने का प्रयास करेंगे।

पड़िहारा,
२६ मई '५६

६४ : त्याग और सदाचार की महत्ता

प्रत्येक श्रावक में आत्म-दृढ़ता और सत्य-निष्ठा होनी चाहिए। उनमें निर्भीकता होनी चाहिए। वे विचारों में उलझे हुए न हों, स्पष्ट हों। वे दुधमुँहे न बनें। सामने कुछ कहा और परोक्ष में कुछ। यह आत्म-दुर्बलता का सूचक है। मैं उनमें ऐसी कमजोरी देखना नहीं चाहता। शासन के सूत्रों को वे दृढ़ता के साथ पालें। यदि उनके मन में किसी विषय को लेकर कुछ विचार आ जाए तो उन्हें मेरे समक्ष रखने की पूरी छूट है। मैं तो सत्य का पक्षपाती हूँ, जो भी सत्य है, वह मेरा है। असत्य का समर्थक मैं नहीं।

मैं कहा करता हूँ कि धर्म व्यक्ति के व्यावहारिक जीवन में स्थान पाये। उसमें सात्त्विकता एवं उज्ज्वलता पैदा करे। इसमें उसकी बहुत बड़ी सार्थकता है। मैं चाहता हूँ, श्रावक समाज अनैतिक वृत्तियों से मुँह मोड़े। पैसे

को ही जीवन का लक्ष्य न मान त्याग और सदाचार की महत्ता का मूल्य आंकें। अणुव्रत-आन्दोलन मानव-मानव को इस ओर ले जाने का एक साधन है। श्रावकों को हिचकिचाहट और झिझक छोड़ स्वयं को इससे सम्बद्ध करना है।

पड़िहारा,
२८ मई '५६

६५ : अन्तिम साध्य

आज के मानव का जीवन यदि हम देखें तो यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि लोभ की, अर्थ-लिप्सा की भयावह अग्नि के शोलों में वह झुलसा जा रहा है। इससे वह अशान्त है, सुखी नहीं है, पर इस आग को वह शान्त करने का भी तो प्रयास नहीं करता। इसे शान्त करने का एक ही मार्ग है—सन्तोष, अपरिग्रह, अर्थ-लालसा का अभाव।

लोभ का साम्राज्य इतना विस्तार पाये हुए है कि जहाँ इसने अमीरों को जकड़ रखा है, वहाँ गरीब भी इससे बच नहीं पाए हैं। वे भी इससे बुरी तरह ग्रस्त हैं। जिसके पास धन के ढेर हैं, वे उन्हें पर्वत बनाना चाहते हैं, जो अभावग्रस्त हैं, कामना उनकी भी यही है कि वे भी धनराशि से वंचित क्यों रहें? इस भ्रमपूर्ण विचार-धारा ने लोगों का जीवन अव्यवस्थित और अस्त-व्यस्त बना रखा है। लोग इसके चंगुल से अपने को छुड़ाएं। अर्थ को जीवन की आवश्यकता कहा जा सकता है पर साध्य नहीं। आज इसे साध्य माना जा रहा है, यही तो सबसे बड़ी भूल है, जिसने जीवन को अशान्ति का अड्डा बना रखा है।

व्यक्ति-व्यक्ति संयम और त्याग को जीवन का अन्तिम साध्य माने। व्यक्ति के मूल्यांकन का आधार संयम और त्यागपूर्ण जीवन हो, न कि अर्थ-बहुल जीवन। वैसा न होने से अर्थ का पहलू जो आज जीवन का सर्वस्व और प्रधान बन बैठा है, गौण हो जायगा और तब सात्त्विक और सदाचरणमय जीवन प्रधान बन जायेगा। फलतः आपसी झगड़े, संघर्ष और टक्करें मिटेंगी, वातावरण में मैत्री और बन्धुत्व की मधुर सुरभि फूट पड़ेगी।

पड़िहारा,
२९ मई '५६

६६ : बहनों से

अभय—निर्भीकता जीवन का आवश्यक पहलू है। अभीत या निर्भीक व्यक्ति जीवन का सन्तुलन बिगड़ने नहीं देता। वह अपने में स्थिरता रख सकता है। जीवन-विकास के लिए अभय की बहुत बड़ी उपयोगिता है। धर्म भी तो यही प्रेरणा देता है—भय मत करो, कठिनाइयों से डरो नहीं। साहस और निर्भय भाव से सन्मार्ग पर आगे बढ़ते रहो। बहनों में मैं कुछ अभय की कमी पाता हूँ। मैं चाहूँगा, वे अपने जीवन में अभय को स्थान दें। धर्माराधना और जीवन-शुद्धि के पथ पर अग्रसर होने में वे संकोच और भय को अपने पास न फटकने दें।

महिलाएँ अपने मन में हीन-भाव न लाएँ। वे यह क्यों सोचें कि पुरुषों से वे हीन हैं? वे भी मानव हैं, आत्मवान् हैं। जीवन को विकसित बनाने की उनमें भी क्षमता है, अपने में हीनता का अनुभव वे क्यों करें? उनमें आत्म-ओज की अनुभूति रहनी चाहिए। यह अनुभूति आगे बढ़ने की स्फूर्ति देती है। हीन-भाव के न रहने का अर्थ उद्दण्ड और उच्छृङ्खल बनना नहीं है। उद्दण्डता और उच्छृङ्खलता तो स्वयं एक भारी दोष है, जो आत्मा को गिराता है। हीनता-अनुभूति का आशय है—अपनी अमित आत्म-शक्ति को विस्मृत बनाना, उसकी अनुभूति लिये स्फूर्त न रहना।

बहनों को तत्त्वज्ञान सीखने में प्रगति करनी चाहिए। तत्त्व-ज्ञानार्जन जीवन को उन्नत बनाने का महत्त्वपूर्ण साधन है, बहनें अपने जीवन को सात्त्विक, सादा और संस्कारी बनाने के लिए सदा प्रयत्नशील रहें ताकि उनका अपना जीवन तो ऊँचा उठे ही, आनेवाली पीढ़ी भी उनसे सहजतया इन सद्गुणों को ले सके।

पड़िहारा,
२९ मई '५६

६७ : जीवन के दो तत्त्व

आप सब जानते हैं—हम भवनों का उद्घाटन नहीं करते, लौकिक समारोहों का उद्घाटन नहीं करते पर 'अनेकान्त अध्ययन मंडल' जैसे कार्यक्रम का, जो ज्ञान-विकास का कार्यक्रम है, उद्घाटन प्रारम्भ करने में हमें सचमुच बड़ा हर्ष है। यह तो वह कार्य है, जिसके लिए हम सदा प्रेरणा देते रहते हैं। जिसे प्रारम्भ करने के लिए, चालू रखने के लिए, हम सदा कहते रहते हैं।

आप को समझना है—जीवन के दो ही तत्त्व हैं, आचार और विचार। विचार के बिना आचार पूरा फलता नहीं। उसमें वह ओज और वैशिष्ट्य नहीं आता जो विचार-पूरित आचार में आता है। आचार के बिना केवल विचार कोई सार नहीं रखता। वह निस्तथ्य और निस्तेज जैसा होता है। आचार का साहचर्य पाकर विचार अमित शक्ति से उद्वेलित हो उठता है। उसमें सक्रियता आती है। ठोसपन आता है। तभी तो आचार और विचार दोनों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। अन्धे और पंगु जैसी इनकी जोड़ी है। विचार के बिना आचार अन्धा है, आचार के बिना विचार पंगु है। दोनों का सम्मिलन पंगुता और अंधता दोनों दोषों का निवारण करता है वहां अन्धता के स्थान पर चक्षुष्मता, ज्योतिर्मयता और पंगुता के स्थान पर अस्खलित गति पैदा हो जाती है। अत. ज्ञानार्जन या विचार-जागरण के क्षेत्र मे नौजवानों ने जो यह निश्चय किया है, सचमुच यह उनको जीवन-विकास मे सहारा देगा, एक प्रकाश देगा। जो उत्साह, उत्कंठा और लगन आज उनमें दीखती है, मैं चाहूँगा, वह उत्तरोत्तर बढ़े, मिटे नहीं।

आजकल आचार और विचार दोनों क्षेत्रों में व्यक्ति पीछे हटा है, आगे नहीं बढ़ा है। उन्नत कहे जानेवाले जमाने की यह स्पष्ट अवनति है। इसने जो विषमता और दुर्व्यवस्था पैदा की है, वह आज किससे छिपी है?

मानव इससे छुटकारा पा सके, इसके लिए आचार-शुद्धि के क्षेत्र में अणुव्रत-आन्दोलन काम कर ही रहा है। मानव-समाज मे उसने एक नैतिक उत्क्रान्ति का सूत्रपात किया है, विचार-क्षेत्र में भी एक उत्क्रान्ति आए, इसके लिए भी प्रयास चलता रहता है। मैं एक व्यवस्थित कार्यक्रम इसके लिए सोच रहा था। पड़िहारा के युवकों का यह प्रयास एक प्रकार से उसी कोटि की वस्तु है।

अध्ययन-क्रम की एक व्यवस्थित रूप-रेखा, परिचालन, परीक्षण आदि सभी पहलुओं पर सोचना होगा। एक सुन्दर एवं विकासकारी गठन हो सके, इस ओर सबका प्रयास रहेगा ही।

पड़िहारा,
२९ मई '५६

९८ : शासन समुद्र है

आत्मभीरु के लिए, धर्माराधक के लिए, अरिहन्त, सिद्ध, साधु और केवली प्ररूपित धर्म, ये चार शरण हैं। इनसे जीवन में विश्राम मिलता है, शान्ति की अनुभूति होती है।

अरिहन्त हमारे परम उपकारी हैं। आसन्न उपकर्ता हैं, उन्होंने धर्मतीर्थ की स्थापना की। जीवन-शुद्धि का मार्ग बताया।

समस्त कर्मों को क्षीण कर जिन्होंने मोक्ष प्राप्त किया, जो ज्योतिर्मय हैं, चिन्मय हैं, वे सिद्ध हमारे लिए, जीवन के लिए, उच्चतम आदर्श हैं, प्रेरणास्रोत हैं।

वर्तमान में अरिहन्त और सिद्ध हमारे प्रत्यक्ष नहीं हैं। उनके बताये पथ पर सर्वात्म भाव से चलनेवाले साधु हीं प्राणी वर्ग को मोक्ष-बन्धन से मुक्ति का मार्ग बताते रहे हैं।

केवलियों—सर्वज्ञों, सर्व-द्रष्टाओं ने जिस धर्म की प्ररूपणा की, वह धर्म जीवन-शुद्धि का अन्यतम साधन है।

वास्तव में चार सत्य शरण हैं, इनकी शरण लेने का अर्थ है अहिंसा, शान्ति, आर्जव, मार्दव, अकांचिन्य, विनय आदि सद्गुणों के प्रति अपने आप का समर्पण। इससे व्यक्ति ऊँचा उठता है। पर ध्यान रहे, केवल लोक-दिखावे के लिए शरण लेने का स्वांग न रचा जाए। आन्तरिक शुद्धि के लिए शरण ली जाए। यही वह हेतु है जो जीवन को कल्याणोन्मुख बनाता है।

उत्थान, बल अनुष्ठान-पराक्रम, पुरुषार्थ—ये एक अपेक्षा से व्यक्ति पर निर्भर हैं जितनी शुद्धि और गति के साथ व्यक्ति इनमें लगेगा वैसा फल वह पायेगा। अच्छे का फल अच्छा और बुरे का बुरा। यह सहज सिद्ध है। व्यक्ति बुरे कार्य से बुरे रास्ते से सदा बचे। जिन्होंने बुरा रास्ता ले रखा है, जो दूसरों की बुराई पर उतरे हुए हैं, यदि सम्भव हो तो, उन्हें सन्मार्ग पर लाने की कोशिश करें। अन्यथा उपेक्षा।

कभी-कभी ऐसा होता है बुराई और अन्याय पर उतरे हुए लोग सीमा पार कर जाते हैं। सहनशीलता की भी एक हद होती है। अन्याय को निरन्तर सहते रहने से अन्यायी के सींग बढ़ जाते हैं। वहाँ उसका अहिंसात्मक प्रतिकार आवश्यक हो जाता है।

यदि हिंसा का प्रतिकार न किया जाए तो वह हिंसा सब ओर छा जाए। हिंसा की कमर टूटे, उसका बल मिटे, उसका लोप हो—यह जरूरी है पर ध्यान रहे, हिंसा को मिटानी है, हिंसक को नहीं। हिंसक को मिटाना तो स्वयं हिंसा है।

कुछ लोग बिना समझे, बिना मतलब ही दुविधा मोल लेने लगते हैं। अमुक संघ से निकल गये, यह कैसा हुआ आदि-आदि उनको समझाना चाहिए—चौदह वर्ष पूर्व और चार ज्ञान के धनी केवली की तरह शिक्षा देनेवाले भी अपने कर्म-योग से नरक-निगोद तक में पहुँच जाते हैं, फिर औरों की तो बात ही क्या! वे गहराई से सोचें-समझें। दिल व दिमाग में दुविधा और उलझन न लाएँ।

शासन समुद्र है. उसमें ज्वार आता है ; हिलोरें उठती हैं, भाटे आते हैं. शासन-समुद्र में रहनेवाले कच्छ-मच्छ समझें कि ज्वार-भाटे के साथ हम भी बाहर निकल जाएं तो क्या परिणाम होना है, किसी से छिपा नहीं है। बाहर के पंछी अपनी तेज चोंचों से उन्हे बुरी तरह कुरेद डालते हैं।

इसलिए शासन-समुद्र मे प्रावास करनेवालों को गहराई से सोचना चाहिए। उठती हुई तरंगों और हिलोरों से घबरा कर उन्हें अपना स्थान नही छोडना चाहिए। इसीमे उनका श्रेयस् है।

रतनगढ़,
३१ मई '५६

६९ : यथार्थ की ओर

सत्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदम्।
क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्॥
माध्यस्थ भावं विपरीत वृत्तौ।
सदा ममात्मा विदधातु देव॥

आराध्यदेव की स्मृति करते हुए आचार्य ने कितने ऊँचे उद्गार रखे है। आराध्यदेव! हमारे मन में आप के प्रति भक्ति है, श्रद्धा है। हम आपसे क्या मांगे? हां, हमारी पहली मांग है : प्राणी मात्र के प्रति हम मैत्री रखें, किसी के प्रति भी द्वेष—शत्रुभाव न रखें। हमारी दूसरी मांग है—संसार में जो भी गुणी एवं महान् पुरुष है, हम उनकी गुणवत्ता और महानता को जानकर हर्षित हों, हमारे मन मे प्रमोद का स्रोत बह चले। हम उनसे ईर्ष्या न करें, मत्सर न करें। तीसरी मांग है : संसार में अनेक प्राणी दुःख से आक्रान्त है, उनके प्रति हम दया की भावना रखें, उनको आन्तरिक शान्ति मिल सके, ऐसा प्रयास हम करें। चौथी माग है : जो लोग न उपदेश सुनते हैं और न जिन पर कोई उपदेश का असर होता है, इतना ही नहीं जो उत्पथगामी है, विपरीत पथगामी हैं उन पर भी हमारा रोष क्यों हो? यह कभी सम्भव नहीं कि समूचा संसार किसी एक के पथ पर चले। अतः विपरीत पथ पर जाते को देख रोष करने की आवश्यकता ही क्या है? ऐसे लोग भी होते है, जो सत्पथ छोड़ कुपथ में जाते हैं। हम इस तरह के लोगों के प्रति तटस्थ भाव, उदासीन वृत्ति, उपेक्षा भावना रखें।

मेरे सरदार शहर आने के दो प्रमुख कारण हैं—पहला मन्त्री मुनि से मिलन, दूसरा लोगों में प्रवचन-प्रसारण भी। मैंने बहुत लम्बी यात्रा की। यदि दूसरी अपेक्षा से देखूं तो बहुत लम्बी यात्रा तो यह नहीं है। वैसी तो

तब होती जब मद्रास तक पहुँच पाता पर नहीं पहुँच पाया। मन्त्री मुनि के स्वास्थ्य के सम्बन्ध में मैं सुनता रहा। खासकर पं० रघुनन्दन जी के जो चार पत्र मुझे देखने को मिले, उनमें मन्त्री मुनि के स्वास्थ्य का साकार चित्रण था। पंडित जी एक दृष्टि से हमारे जीवन के साथी हैं। इनके साहचर्य्य में हमने बहुत कुछ सोचा है, समझा है, पाया है। अस्तु। मन्त्री मुनि के मिलन का जो हमने इरादा किया आज वह सम्पूर्ण हुआ। जितना जल्दी पहुँचना चाहते थे उतनी जल्दी हम नहीं पहुँच पाये, आवश्यक कारणवश रुकना पड़ा। गत्यवरोध हुआ। आज मैं मन्त्री मुनि को देख रहा हूँ। शरीर से उन्हें कमजोर पाता हूँ, पर उनमें कितनी हिम्मत और मनोबल है। सरदार शहर के इस धार्मिक बगीचे को देख रहा हूँ। सरदार शहर के कण-कण में, बच्चे-बच्चे में शासन एवं धर्म के प्रति जो उत्साह का उद्वेलन देखता हूँ, इससे मैं हर्षित हूँ।

हमने इस लम्बी यात्रा में जनता, शासन एवं प्राणि मात्र के हित के लिए जो नीति बनाई, हमें खुशी है कि वह कामयाब रही। स्यात् कोई पूछे कि कितने को आपने तेरापंथी बनाया? मैं कहूँगा मुझे इसका कोई पता नहीं। कहाँ क्या हुआ, कैसा हुआ, यह सब देखने की तथा अनुभव करने की बातें थीं। देश के लिए, संघ के लिए, प्राणिमात्र के लिए हमारा यह उपक्रम हितकर सिद्ध हुआ, इतना मैं जानता हूँ। अपने मौलिक तत्त्वों को सुरक्षित रखते हुए हमने उसे विकसित किया है।

नई वस्तु को देख उलझें नहीं। गहराई से सोचें। उलझनें पैदा होती हैं, कुछ पैदा की जाती हैं। विवेकशील व्यक्ति अपने को उसमें उलझाएँ नहीं। शासन में भूचाल आए, अनगिनत भूचाल आए, आएंगे। शासन इन्हें सहन करेगा। इनसे घबराने की आवश्यकता नहीं है। आप अपने को टटोल कर रखें, मजबूत रखें। भूचाल चिरस्थायी नहीं होते। उनसे घबरा कर जो अपनी स्थिति को खो देते हैं, वे भूल करते हैं।

जैसा कि मैंने कुछ समय पूर्व कहा था और पुनः दुहराता हूँ—अनुशासन-हीनता कतई बर्दास्त नहीं की जा सकेगी। सैद्धान्तिक तत्त्वों में जिन तत्त्वों को हमने स्वीकार किया है, उनमें कमजोरी के लिए कतई स्थान नहीं है। उनका दृढ़ता से पालन होना चाहिए। ऐसा न होने से कभी संघ चल सकता है क्या? मान लें खड़े हुए चार व्यक्तियों में से एक ने कहा यह दिशा मुझे नहीं जँची, दूसरे ने दूसरी के लिए कहा, मुझे यह ठीक नहीं लगती। तीसरे ने तीसरी के लिए कहा, यह विपरीत है, चौथे ने चौथी के लिए कहा—"इससे मेरी सहमति नहीं।" चारों ने चारों को बेठीक माना। अब किधर चला जाये? क्या किया जाये। यह कोई तत्त्व है? यथार्थता है? वास्तव

में जो अच्छी चीजें हैं, उन्हें बिना किसी शर्त के अपनाया जाय, वहाँ झिझक या हिचकिचाहट कैसी ?

व्यवहार में पुरुषार्थ

हमें दुनिया को खुश करने के लिए नहीं चलना है। दुनिया राजी रहे या नाराज रहे, हमें इससे रंचमात्र मतलब नहीं। हमें तो अपने को मॅजते हुए "तिन्नाणं-तारयाणं" अर्थात् स्वयं तरना तथा औरों को तरने की प्रेरणा देना—इस आदर्श को आगे रखते हुए चलना है।

संघीय जीवन में और वैयक्तिक जीवन में अन्तर है। व्यक्ति के लिए अनेक मार्ग हैं। वह अरण्यवासी बन सकता है, पादपोपगमन संथारा कर सकता है। पर संघ में लाखों व्यक्तियों के जीवन को देखा जाता है, हमें समष्टि रूप में सोचना हो जाता है। अतएव प्रत्येक व्यक्ति के लिए संघीय अनुशासन में चलना आवश्यक होता है।

आचार्य भिक्षु ने जो तत्त्व दिये, मुझे खुशी है कि अपनी पिछली यात्रा के बीच उन तत्त्वों को मैंने व्यापक रूप में फैलाया। बम्बई जैसी महान् नगरी, पूना जैसे सांस्कृतिक केन्द्र और प्रान्तीय असेम्बली जैसे लोक-संगठनों के बीच उन्हें प्रसारित किया। लोगों ने, विचारकों ने इसकी कद्र की, मुझे ताकत मिली, पर खेद एक ही बात का है कि जिसके लिए मैंने खून और पसीना एक किया, बाहर के लोगों ने जिसकी कीमत आंकी, घरवालों ने उसे नहीं समझा. आशा है, वे समझने का प्रयास करेंगे।

मुझे गुरुदेव से जो तत्त्व मिला, वायु के झोंकों से वह डगमगानेवाला नहीं है, टूटनेवाला नहीं है। वायु के झोंकों से टूटकर गिरनेवाला फूल पैरों से रौंदा जाता है, कुचला जाता है, जो पेड़ पर टिका रहता है, वह देवता की पूजा में चढ़ता है, सम्मान पाता है।

मौलिक तत्त्वों का अनुसरण कर चलते हुए हमें संख्या से कोई मतलब नहीं है। शासन-निष्ठा को लेकर कवि-हृदय से निकले ये भाव कि 'जगत् रूठे तो रूठन दो, स्वर्ग तूठे तो तूठन दो'—मुझे तो शासन से काम है, संघ से मतलब है। सचमुच वे विचार एक सजीव प्रेरणा और सजग चेतना का संचार करनेवाले हैं, सब शासन की गतिविधि को समझें, और अपने को एकत्र कर रखें।

मन्त्री मुनि के पास सरदार शहर आकर मुझे ऐसा लगता है कि मैं कुछ हलका हुआ हूँ। जब भी मैं इनके पास आता हूँ, मुझे अनुभव होता है कि मेरा कुछ भार हलका बना है। चातुर्मास जैसी क्षेत्र-स्पर्शना होगी। होगा, आज मैंने निर्णय नहीं दिया है। चाहे यहाँ हो, इर्द-गिर्द हो,

दूर का हो, मुझे यहाँ इसका निर्णय करना है। निश्चय में तो 'यद् भाव्यं तद् भाव्य'—जहाँ होना है, वहाँ होगा। व्यवहार में हम पुरुषार्थ करेंगे।

आज काफी लम्बा-चौड़ा कार्यक्रम चला, फिर भी जनता स्थिर बनी बैठी है, इसका नाम श्रद्धा है। धर्मस्थान, धर्म-प्रवचन तो श्रद्धा के केन्द्र होते हैं। वहाँ ही श्रद्धा न रहे तो फिर रहे कहाँ? वहाँ लोग गर्मी, खानपान सब भूल जाते है। यहाँ मैं ऐसा ही देख रहा हूँ। बहनें धूप में बैठी हैं, फिर भी वे तन्मयता पूर्वक सुन रही है। यह उनके हृदय की श्रद्धा का परिचय है। अस्तु। आज मैं अधिक न कहकर इतना ही कहूँगा, जो कुछ मैंने कहा, उस पर लोग गौर करेंगे, जीवन में लाने के लिए चेष्टाशील होंगे।

सरदार शहर
१२ जून '५६

७० : नैतिक शुद्धिमूलक भावना

मैं अक्सर कहा करता हूँ, युवकपन केवल अवस्था सापेक्ष नहीं है। वह उत्साह, लगन और साहस सापेक्ष है, जो युवापन की सच्ची निशानी है। इसलिए मैं जो कुछ कहूँगा, उन सबके प्रति कहूँगा, जो उक्त अपेक्षा से अपने को युवक मानते हैं। 'हमने ठाना—धर्म का व्यापक प्रसार होना चाहिये। वह जाति, वर्ग, कौम तथा वर्ग-भेद से अछूता रह, व्यक्ति-व्यक्ति तक पहुँचे। व्यक्ति-व्यक्ति उसका सन्देश या जीवन में एक नई प्रेरणा संचित कर सके। हमने इस पथ पर अपना कदम आगे बढ़ाया। धर्म से जीवन-शुद्धि की वृत्ति जन-जन तक पहुँचाने का प्रयास किया। लोगों में एक स्फुरण जगी, उन्होंने करवट बदली, इस ओर उन्मुख हुए। सामूहिक रूप में महसूस किया जाने लगा, धर्म-जागृति, चरित्र-उत्थान का यह लाभ-दायी उपक्रम चल रहा है। पर साथ ही साथ खेद इस बात का है कि हमारे ही निकट के कुछ लोगों ने इसे यथावत् समझने का प्रयास नहीं किया। इतना ही नहीं, यह सब रुक जाए, ऐसा भी उनका रुख रहा। हमने अपने आपको टटोला, अन्तरतम को परखा, हमें लगा—जो हम कर रहे हैं, ठीक कर रहे हैं। जीवन के मौलिक सिद्धान्त जिनको हमने स्वीकार किया है, प्राणपण से जिनका हम परिपालन करते हैं—यह ठीक उनके अनुरूप है। हमारे निश्चय को बल मिला। किसी भी अहिंसक साधक का यह पहला कर्त्तव्य होता है कि सबसे पहले वह अपने आपको टटोले, अपना अन्तरतम टटोले। उसकी कार्य-विधि की यह पहली कसौटी है।

अस्तु। हमने कोई कमजोरी महसूस नहीं की, न हम करते हैं। मौलिक सिद्धान्तों को यथावत् अनुसरण करते हुए अध्यात्म-जागृति के इस अभियान पर आगे बढ़ना है, प्रबल आत्म-बल और अकुंठित साहस के साथ।

आज एक भूचाल जैसा हम देखते हैं। गाँव-गाँव में, घर-घर में, उसकी प्रतिक्रिया चक्कर काट रही है। स्थान-स्थान पर यही बात, यही चर्चा। प्रयोजनवश बात की जाए तो ठीक, मगर बिना मतलब के चर्चा करना समय के दुरुपयोग के अलावा और क्या है? सामाजिक लोगों के सामने विलासिता, फिजूलखर्ची आदि अनेक विषम समस्याएँ पड़ी हैं जिनके निवारण के सम्बन्ध में वे कुछ बोलते तक नहीं, सोचते तक नहीं। और वे इन विषयों में इतना गहरा रस लेते हैं। ऐसा करनेवाले कभी-कभी जलती आग में पुलाव झोंकने का काम भी कर डालते हैं जो अनुचित है।

मुझे नौजवानों से कहना है, वे विवेकशील हैं, बुद्धिशील हैं, वे विवेक, सहिष्णुता और स्थिरता से काम लें। आग की इन लपटों में भूलवश कहीं अपने कपड़े न जला लें।

आजकल हरिजनों में उपदेश किया जाता है, जाट-गंवारों में प्रवचन होते हैं। इस तरह के वे विषय हैं जिनको लेकर कुछ लोग बेतुकी बातें करने लगते हैं। वे क्यों भूल जाते हैं कि जैन-दर्शन कितना गहरा और विशाल दर्शन है। वह किसी जाति व वर्ग का दर्शन नहीं। वह तो प्राणी-मात्र के विकास और शुद्धि का दर्शन है। उसे संकीर्ण बनाकर क्या हम उसकी अवहेलना नहीं करते? अपने मौलिक तत्त्वों पर सुदृढ़ रहते हुए हमें उत्तरोत्तर आगे बढ़ना है—प्रत्येक नौजवान को यही सोचना है।

मैं नौजवानों को आह्वान करूँगा कि वे जीवन-शुद्धि के मार्ग पर जी-जान से बढ़ें। अणुव्रत-आन्दोलन की नैतिक शुद्धिमूलक—भावना को समझें। जीवन को उस ओर ढालने के लिए यत्नशील हों।

सरदार शहर,
१२ जून '५६

७१ : शिक्षा का आदर्श

विद्यार्थी-वर्ग को लेकर देश के बड़े-बड़े विचारक और जन-नेता आज चिन्तित हैं। विद्यार्थियों की दिन पर दिन बढ़ती हुई उच्छृङ्खलता और अनुशासनहीनता ने एक सिर-दर्द पैदा कर दिया है। विद्यार्थी वर्ग, जिस

पर समाज और राष्ट्र का भविष्य निर्भर है, इस तरह अनुशासनहीन और उच्छृङ्खल बन जाए, यह कहाँ तक शोभनीय है?

ऐसा कर विद्यार्थी स्वयं अपना अहित करते हैं। विद्यार्थी-जीवन, जो गुणार्जन और चरित्र-विकास की बेला है, उसका इस तरह अनुचित कार्यों में उपयोग क्या वस्तुतः दुरुपयोग नहीं है?

भारत के विद्यार्थियों के समक्ष तो अपने अतीत की संस्कृति का एक बहुत बड़ा आदर्श है। जिसे लेकर वे आगे बढ़ें तो जीवन को सच्चे विकास के सुगठित साँचे में ढाल सकते हैं। जरा सोचें तो सही, भारतीय विद्यार्थी कितने सरल, सीधे, संयत, शिष्ट, सौम्य और विनीत होते थे।

इसका मुख्य कारण था—यहाँ की आदर्श शिक्षण-प्रणाली, जहाँ बचपन से ही विद्यार्थियों को केवल अक्षर-ज्ञान ही नहीं, वरन् सच्चरित्रता, सत्य-वादिता, शालीनता और विनम्रता की सत् शिक्षाएँ दी जाती थीं। विद्यार्थी अध्यापक के यहाँ रहते, अध्ययन, अनुशीलन करते, केवल पुस्तकीय ही नहीं, वे सक्रिय ज्ञान पाते।

एक पुरानी कहानी है। एक राजा ने अपने राजकुमार को अध्यापक के यहाँ पढ़ने को भेजा। राजकुमार अध्यापक के यहीं रहता, वहीं खाना-पीना, पढ़ना-लिखना, उस समय की यही प्रणाली थी। राजकुमार को अध्यापक-गृह में वास करते हुए १२ वर्ष हो गए। इस दीर्घ अवधि के बीच अध्यापक ने उसे समाज-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र, राजनीति, दर्शन, गणित, इतिहास आदि अनेक विषयों का गहरा अध्ययन करा दिया।

राजकुमार की परीक्षा का दिन था। अध्यापक को राजकुमार के साथ राज-सभा में उपस्थित होना था। महाराज स्वयं प्रश्न करनेवाले थे। अध्यापक गहराई से सोचने लगा—राजकुमार को मैंने जीवन के लिए आवश्यक और उपयोगी सभी विषय पढ़ा दिया। सहसा उसके दिमाग में आया, एक कमी रही। तत्काल राजकुमार को लेकर अध्यापक बाजार गया। २० सेर अनाज खरीदा। गठरी बाँधी और गठरी राजकुमार के सिर पर रखते हुए कहा—मेरे पीछे-पीछे चले आओ। इसे घर ले चलना है।

राजकुमार बड़ा बेचैन था। फूल-सा कोमल शरीर और यह बीस सेर का भार, उसके लिए दो मन जैसा था। जैसे-तैसे अपना बल बटोर कर वह अध्यापक के पीछे-पीछे चलने लगा। करता क्या। मन ही मन बड़ा खिन्न और रुष्ट था। सोचता—अभी तो अध्यापक जैसा चाहें कर लें पर परीक्षा के समय महाराज के समक्ष उनकी शिकायत किये बिना नहीं रहूँगा। थकता-हाँफता, पसीने से तरबतर वह गठरी सिर पर उठाए अध्यापक के साथ बड़ी कठिनाई से उसके घर पहुँचा।

राजसभा लगी हुई थी। अध्यापक राजकुमार के साथ उपस्थित था। महाराज ने स्वयं राजकुमार से अनेक विषयों के प्रश्न पूछे, जिनका राजकुमार ने तत्काल उत्तर दिया। महाराज अत्यन्त सन्तुष्ट थे। बाद में वे राजकुमार से पूछने लगे—तुम्हें बारह वर्ष गुरु-गृह-प्रवास में कुछ कष्ट तो नहीं हुआ? राजकुमार ने कहा—गुरुजी ने मुझे सब तरह का आराम दिया, अपने पुत्र की तरह मुझे रखा। पर आज अन्तिम दिन उन्होंने मेरे साथ बड़ा क्रूर व्यवहार किया।

महाराज के मुख पर क्रोध की एक हल्की-सी रेखा खिंच गई। वे कहने लगे—"क्रूर व्यवहार! बतलाओ क्या क्रूर व्यवहार किया?"

राजकुमार बोला—"आज अनाज का एक भारी गट्ठर मेरे सिर पर रख कर बाजार से अपने घर तक गुरु जी मुझे ले गये। मेरी गर्दन मानो टूटने लगी। शरीर तमतमा उठा, पसीने से मैं नहा गया।"

महाराज ने अध्यापक की ओर देखा। अध्यापक ने कहा—"महाराज, मैंने ऐसा किया और यह सोच-समझ कर किया कि राजकुमार को मैंने अभी अधूरी शिक्षा दी है। एक अति आवश्यक शिक्षा तो छूट ही गई है। राजकुमार ने विभिन्न शास्त्र पढ़े, विभिन्न विषयों का गहरा अनुशीलन किया पर श्रम और कष्ट क्या होता है, उसे इसकी अनुभूति नहीं थी। उसे इसकी अनुभूति होनी चाहिए। क्योंकि इस विशाल साम्राज्य की बागडोर तो किसी समय उसी के हाथों में आने वाली है। जिसको, चाहे जो कष्ट दे डालेंगे—थोड़ी-सी बात आई कि रख दो मन भर की शिला इसके सिर पर। इसलिए मैंने सोचा—राजकुमार को स्वयं कष्ट की साक्षात् अनुभूति होनी चाहिये ताकि वह कभी भी विवेक को न भूल औचित्य के साथ अपने कार्य करे। यही कारण था—मैंने अनाज की गठरी उसके सिर पर रखी।"

महाराज बड़े सन्तुष्ट हुए। राजकुमार का भी क्षोभ जाता रहा। उसने गुरु से क्षमा माँगी।

यह था—आदर्शों से जीवन का साक्षात् परिचय। तभी तो अतीत के विद्यार्थी-जीवन को आज भी आदर के साथ स्मरण किया जाता है।

सरदार शहर,
१ जुलाई '५६

७२ : सच्ची मानवता

आज के मानव में आत्म-चिन्तन की सबसे बड़ी कमी है। वह बहुत कुछ सोचता है, बहुत चिन्ताएँ करता है, पर जरा अपने-आपको मनन कर

देखे तो सही कि क्या कभी अपनी आत्मा का भी चिन्तन उसने किया है? अपने आपको भी सोचा है? जीवन क्या है वह कहाँ जाने को है, जिन्हें वह चिरस्नेही मानता है, वे कब तक उसका साथ देनेवाले हैं—क्या इन छोटे, पर बहुत महत्त्वशील पहलुओं पर भी उसने विचार किया है? शायद नहीं। क्योंकि ये तो बहुत छोटे पहलू ठहरे न। पर नहीं। वह भूलता है, गलती करता है, यदि अपने जीवन को नहीं टटोलता, आत्मा का चिन्तन नहीं करता, गवेषणा नहीं करता, अपने आपको नहीं सोचता, तो कुछ भी नहीं सोचता है।

हम देखते हैं, आप सब देखते हैं—व्यक्ति आता है, कुछ समय बाद उसकी स्मृति भी शायद नहीं बच पाती। व्यक्ति जिस पर इतराता है, पीढ़ियों की आशा बाँधता है, जिसके सुख की कल्पना में धन का अम्बार खड़ा करना चाहता है, वह भूल क्यों जाता है कि क्या पता वह शरीर कब साथ छोड़ चिता का आश्रय ले ले।

उपाध्याय विनय विजय एक गहरे चिन्तक थे, कवि थे। कितना सुन्दर उन्होंने लिखा है:

> एक उत्पद्यते तनूमान् एक एव विपद्यते।
> एक एवहि कर्म चिनुते, सैकंकः फल मश्नुते ।।

अर्थात् व्यक्ति अकेला पैदा होता है, आता है, अकेला ही चला जाता है। अकेला ही कर्म करता है। वह अकेला ही फल भोगता है। तत्त्वतः कौन किसका साथ दे सकता है? यह जैन-दर्शन की एकत्व-भावना है।

असलियत यह है, जीवन का यथार्थ स्वरूप यह है, पर संसार की सुख-सुविधा और विजय-वासना की भूल-भुलैया में पड़ा व्यक्ति ऐसा कब सोचता है? वह अपने स्वरूप को भूल जाता है, आत्म-विस्मृत हो जाता है। वह नहीं सोचता—तू शरीर नहीं है, आत्मा है, नीरूज है, निरंजन है। तेरे जीवन का चरम लक्ष्य भोग नहीं है, साधना है, मुक्ति है, तू केवल आत्मा ही नहीं, परमात्मा है। यदि अपने स्वरूप को समझ ले, जीवन-विकास को रोकनेवाले कर्म-बन्धनों को तोड़ दे, अपने को निबन्ध बना ले।

आज मनुष्य का जीवन कृत्रिमता से लदा है। अपने सहज रूप को, सहज वृत्ति को वह भूल-सा गया है। ज्यों-ज्यों जीवन में कृत्रिमता आई, वैषयिकता आई, त्यों-त्यों मानव दम्भी बना, छली बना, उसने धोखा देना सीखा। इस कृत्रिमता के भार से आज वह दबा-सा है। निश्छलता, निर्दम्भता, निष्कपटता मानव की सहज वृत्ति है, उसका सहज स्वभाव है। आज पुनः उसे सहज रूप में आना है। ऐसा कर वह अपने जीवन में स्फूर्ति पायेगा। हल्कापन महसूस करेगा, शान्ति की मधुर अनुभूति उसे होगी।

मनुष्य तपस्या में जीवन लगाए, साधना में अपने को जोड़े, यह वास्तव में बहुत ऊँचा कार्य है। पर यदि वह इतना न कर सके तो कम-से-कम जीवन-व्यवहार को मांजे, बेईमानी, कलह और अनैतिक वृत्तियों को तो छोड़े। यही मानवता है। नहीं तो केवल कहने का मानव है। सच्चा मानवत्व उसे छू तक नहीं गया है।

७३ : आत्म-कर्तृत्ववादी दर्शन

जैन-दर्शन पुरुषार्थवादी दर्शन है। व्यक्ति ऋद्धि, समृद्धि, वैभव, सौभाग्य सुख जो कुछ पाता है, अपने पुरुषार्थ और कर्मों से पाता है। यह ईश्वर-वादी दर्शन नहीं है। ईश्वर ही सब कुछ देता है, उसी की कृपा और अनुग्रह से सब मिलता है, वही सुख-दुख का कर्ता है, यह ऐसा नहीं मानता। ईश्वरवादी दर्शन न होने का मतलब यह नहीं कि जैन-दर्शन ईश्वर को मानता ही नहीं। ईश्वर, परमात्मा, आत्मा, पुनर्जन्म में यह विश्वास करता है। जहां और दर्शन ईश्वर-प्राप्ति की बात करते हैं, वहां जैन-दर्शन मानव को, प्राणी को, आत्मा को स्वयं परमात्मा बन जाने तक का अधिकारी मानता है। पर यह सब अपने पुरुषार्थ से होता है, अपने उद्यम से। परमात्मा क्या है? कर्म-बन्धनों से सर्वथा मुक्त छूटी हुई आत्मा ही तो परमात्मा है। कर्मों के बन्धन टूटे, आवरण मिटे, आत्मा का शुद्ध स्वरूप प्रकट हुआ, यही तो परमात्मा है।

हम आये दिन देखते हैं कि लोग परमात्मा को कोसते रहते हैं—"हाय राम! हाय परमात्मा! तुमने कितना बुरा किया। राम तू हमारा सुख देख नहीं सका"—इस क्रन्दन का अर्थ यह हुआ—परमात्मा ने उसका सुख लूटा, परमात्मा ने उसे दुःख में झोंका, परमात्मा से उसका सुख सहन नहीं हुआ। कितनी विपरीत बात है यह। सत्-चिद्-आनन्द परमात्मा, राग-द्वेष जैसे बन्धनों से विमुक्त परमात्मा किसी को दुःखी बनाएंगे, क्या किसी का सुख लूटेंगे? वे किसी को सुखी-दुःखी नहीं बनाते। व्यक्ति स्वयं अपने कर्मों से सुखी-दुःखी बनता है। वे आदर्श हैं, अनुकरणीय हैं। उनके गुणों का प्राणी अनुसरण करे, जीवन को परमात्म-पथ की ओर आगे बढ़ाए।

भगवान् की भक्ति और उनके प्रति आत्म-समर्पण करने का एकमात्र यही आशय है कि परमात्म-पद की ओर अभिरुचि बढ़े, जीवन में परमात्मोचित सद्गुणों के विकास होने की भूमिका बनाई जाय।

परमात्मा की भक्ति कर कोई प्रतिदान मांगे ही क्यों? बदला चाहे

ही क्यों? क्या प्रतिदान के लिए भक्ति की जाती है? क्या भक्ति इतनी सस्ती है? भक्ति का लक्ष्य जीवन-शुद्धि है, आत्म-उल्लास है, बन्धन-मुक्ति है।

जैन-दर्शन की विशेषता यही है कि जहाँ संसार के प्रायः सारे दर्शन ईश्वर कर्तृत्ववादी हैं, अपने भविष्य और क्षण-क्षण के जीवन का स्रष्टा ईश्वर को मानते हैं, वहाँ जैन-दर्शन आत्म-कर्तृत्ववादी है। बौद्ध-दर्शन और वैदिक दर्शनों में सांख्य-दर्शन भी ईश्वर का कर्तृत्व स्वीकार नहीं करते। सम्भवतः और सब दर्शन ईश्वर का कर्तृत्व स्वीकार करते हैं।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाए तो जब मनुष्य यह समझ लेता है कि अपने जीवन का, भविष्य का, भाग्य का वह स्रष्टा स्वयं है, जैसे कर्म उसने अर्जित किये, वैसा पाया, जैसे अर्जित करेगा, वैसा पायेगा तो उस पर एक सहज उत्तरदायित्व आ जाता है, यदि सच्चे मन से ऐसा मान ले तो उसमें जागरूकता का भाव पनपता है। वह सत्कर्मों की ओर आकृष्ट होता है।

जैन-दर्शन का चरम लक्ष्य मोक्ष है। इसके लिए अन्तरतम के परिमार्जन की आवश्यकता है। वह बाहरी सुसज्जा, बनाव और दिखावे पर जोर नहीं देता। वह नहीं चाहता व्यक्ति केवल बाहर की सफाई, शृङ्गार और शुचिता को ही जीवन का लक्ष्य मान उसमें उलझा रहे। तभी तो द्वादश भावनाओं के बीच अशौच भावना के रूप में वहाँ जीवन की अस्थि, रक्त और मज्जामय बीभत्स स्वरूप का चिन्तन किया गया है। चमड़ी की सुन्दरता पर रीझनेवाले को सुझाया गया है कि यह तो केवल एक छिलका है, इसके बीच क्या है, वह जरा सोचे तो सही। जिनका नाम लेते ही वह घृणा से नाक-भौं सिकोड़ने लगता है, वही रक्त, चर्बी और हड्डियों का कंकाल ही तो है। इसीलिए मात्र बाहरी प्रदर्शन की भूल-भुलैया में व्यक्ति न भूले, अपने अन्तरतम को माँजे। उसमें लगी कर्म-मल की कालिख को तपस्या के जल से धो डाले, त्यागमय आचरण के सौरभ से उसे सुरभित बनाए। जीवन महक उठेगा, उज्ज्वलता फूट पड़ेगी। पर यह सब करना उसके हाथ है, दूसरा कोई क्या करे?

७४ : उपशम—रस का अनुशीलन

सब चाहते हैं, उन्हें जीवन में सुख मिले, शान्ति मिले, पर केवल चाहने से क्या होगा, यदि व्यक्ति सुख और शान्ति के सही मार्ग पर अपने को न ले जाए। सुख चाहनेवालों को मैं राय दूँगा, वे उपशम—रस का अनुशीलन

करें, क्रोध का शमन करें, मनोवृत्ति में प्रशान्तता, धीरता और सहिष्णुता लाएं। थोड़ा-सा विपरीत सुनकर वे आग बबूला न हो जाएं। प्रतिकूल बात को हजम करने की उनमें शक्ति होनी चाहिए।

क्रोध को जीतना सहसा कठिन लगेगा पर अभ्यास से यह संभव हो सकेगा, ऐसा मेरा विश्वास है। आत्मा अपरिमित शक्तियों का स्रोत है। वह क्या नहीं कर सकता? पर कब? जब कि आन्तरिक लगन और दृढ़ता के साथ जुट जाए।

आये दिन हम सुनते हैं लोग हिमालय की दुर्जेय चोटियों तक पहुँच जाते हैं। सहजतया यह अनुमान लगाया जा सकता है कि कितनी कठिनाइयों का सामना वे करते होंगे। यदि कठिनाइयों के सामने वे घुटने टेक दें तो? सफलता असाध्य रहे। पर ऐसा करते नहीं।

दृढ़ निश्चयी और लगनशील व्यक्ति यदि अपने निश्चय और लगन से काम ले तो यह कहना कठिन होगा कि वह अपनी जीवन-वृत्तियों को सात्त्विकता की ओर नहीं मोड़ सकता।

क्रोध का दुष्परिणाम किसी से छिपा नहीं है। आज घर-घर कलह और झगड़े के अखाड़े बने हैं। जहां पारिवारिक जनों में क्या, मानव-मानव में मैत्रीभाव होना चाहिये, वहां एक कुटुम्ब से व्यक्ति भी आज मैत्री और अशत्रु-भाव से बरतना नहीं जानते।

क्रोध में विवेक नहीं रहता, धीरज छूट जाता है, किसी बात पर व्यक्ति गहराई से सोच नहीं पाता। देखा जाता है—बहनों का गुस्सा तो किसी पर होता है, आकर निकालती है घर के बच्चों पर, उन्हें पीटती है, उन बेचारे भोले बालकों ने क्या बिगाड़ा पर क्रोध इतना सोचने का अवसर दे तब तो?

वैर होता है पड़ोसी से, उस पर वश नहीं चलता। उसके गाय, भैंस, ऊँट आदि पशुओं पर जोर चलाया जाता है। उन्हें पीटते हैं। उन निरीह और अबोल पशुओं का क्या अपराध? वे इतना क्यों सोचें?

क्रोध के वश बने व्यक्ति सचमुच दया के पात्र हैं। वे स्वयं अपने को पापों से बांधते है, आत्मा को भारी बनाते है, और जिसके प्रति क्रोध करते हैं उसे हल्का। क्योंकि समता से क्रोधी के क्रोध को पी जानेवाला व्यक्ति कर्म-निर्जरण करता है।

क्रोध और शान्ति का इच्छुक व्यक्ति क्रोध की तरह आर्त-रौद्र-भाव भी छोड़े।

मनोज्ञ—प्रिय—अनुकूल वस्तु का वियोग और अमनोज्ञ—अप्रिय—प्रतिकूल वस्तु का संयोग पा क्रन्दन करना, उसके लिए झूरना, आसक्ति से तड़पना आर्तभाव है।

अमुक को मार डालूं, अमुक को लूटूं, खसोटूं, उत्पीड़ित करूं—ये रौद्र-भाव हैं।

कर्म-बन्धन के ये खास कारण हैं, जीवन-सुख और आत्म-वैभव को लूटनेवाले ये दुर्द्धर्ष दस्यु हैं।

इनसे बचने का एक ही उपाय है—आत्म-नियंत्रण, आत्मवशता। जिसने अपने आप पर नियंत्रण किया, अपने आप को वश में किया, सचमुच उसने जीवन-शुद्धि के मार्ग में गतिशील कदम रखा है। आत्म-नियंत्रित व्यक्ति पर आर्त-रौद्र जैसे अशुभ भाव अधिकार नहीं पा सकते। उसका मन सत्-चिन्तन और धर्म-ध्यान में रहता है। आदमी यह सब सुनता है, समझता है फिर भी इधर मुड़ना नहीं चाहता, यह उसकी कितनी बड़ी भूल है।

एक प्राचीन कवि ने कहा है—शलभ में जागृत-विवेक नहीं है, वह नहीं जानता कि आग की लपटें मुझे झुलसा डालेंगी, भस्मसात् कर देंगी। वह उसमें गिर जाता है। मत्स्य भी अज्ञानी है, वह महसूस नहीं कर पाता कि अंकोड़े (कँटिया) के सिरे पर लगी मांस की बोटी के बीच एक तीखा काँटा भी है जो उसके तालु को बींध डालेगा। वह उसे खाने के लिये दौड़ता है। पर मानव में उद्बुद्ध-विवेक है, वह जानता है कि सांसारिक माया, मोह, भोग, लालसाएँ, अशुभ-भाव, अशुचि वृत्तियां आदि जीवन को पतन की ओर ले जाने वाली हैं, जीवन को दुःखों के गहरे गड्ढे में ढकेलने वाली हैं। पर इतना सब जानने के बावजूद भी उधर से वह मुँह नहीं मोड़ता। निविड़ मोह ने उसे कितना जकड़ रखा है।

व्यक्ति को इस मोह से मुक्त होना है। बंधन से उन्मुक्त-भाव की ओर जाना है। तभी उसके अन्तरतम में निहित सुखों का खजाना सहजतया खुल पड़ेगा।

७५ : पुरुषार्थवाद

विश्व में अनेकानेक दर्शन हैं—नियतिवाद, पुरुषार्थवाद, क्रियावाद, अक्रिया-वाद आदि अनेकों विचार हैं। व्यक्ति क्या सोचे, क्या करे, सहसा यह उलझन पैदा होती है। मनुष्य विवेकशील प्राणी है। वह सद्-असद् की पहचान कर सकता है। इसीलिए आप्त पुरुषों ने कहा है—**"जो तत्त्व ग्राह्य मालूम पड़े, जिसमें यथार्थता मिले, व्यक्ति उसे ग्रहण करे। वह कुल परम्परा सम्मत है या नहीं, अन्य बाह्य आधारों से समर्थित है या नहीं—इसका महत्त्व वहाँ नहीं रहता। महत्त्व है उसकी सत्यता का, वास्तविकता का।"**

विचार किसी पर बलात् मढ़े नहीं जा सकते। वे समझ कर, अनुशीलन कर, ग्रहण किए जाते हैं इसलिए धर्माचार्यों, विचार विशेष के परिचालकों का भी यही कर्त्तव्य होता है कि वे अपने-अपने विचार बनाएं। उनका सही स्वरूप लोगों के समक्ष रखें।

आज अपने को पुरुषार्थवाद पर विचार करना है। सामान्यतया यह कहा जाता है कि जैन-दर्शन पुरुषार्थवादी दर्शन है। यहाँ कुछ समझ का भेद है। जैन-दर्शन एकान्तवादी दर्शन नहीं है। वह अनेकान्तवादी दर्शन है—उसमें अनेक दृष्टियों का सामंजस्य है। बिना दूसरी अपेक्षाओं को सोचे एक ही बात पर अड़े रहने या दुराग्रह में बँध जाने का विचार वह नहीं देता। वह नहीं कहता कि उसने जो स्वीकार किया है, उसके अतिरिक्त कोई सही है ही नहीं। वह तो सही है ही, उसके सिवा और जो मानते हैं, किन्हीं अपेक्षाओं से वह भी सही हो सकता है।

अनेकान्तवाद उदार चिन्तन का अवकाश देता है। व्यापक तथा असंकीर्ण रूप में विचार करने की वहाँ गुंजाइश रहती है। एकान्तिक निरूपण सही हल की ओर नहीं ले जाता। उदाहरणार्थ—व्यवहार में भी हम देख सकते हैं—मिश्री मीठी भी लगती है और कड़वी भी। साधारण मनुष्य को मिश्री मीठी लगती है पर जिसे साँप ने काट खाया, हो उसे नीम मीठा लगता है, मिश्री कड़वी लगती है इसलिये एकान्ततः मिश्री मीठी ही है, ऐसा निरूपण ठीक नहीं बैठता। पुरुषार्थवाद पर अपने को अनैकान्तिक दृष्टिकोण से सोचना है।

जैन-दर्शन में पुरुषार्थ पर बहुत जोर दिया गया है पर जब हम तात्त्विक निरूपण में जाएंगे तो कहना होगा वह पुरुषार्थवादी है भी और नहीं भी।

तुलनात्मक दृष्टि से देखते हैं तो हम स्थान-स्थान पर ऐसी उक्तियाँ भी पाते हैं—**"यद्धात्रा निजभालपट्टलिखितं,...तन्मार्जितुं कः क्षमः"** —अर्थात् विधाता ने जो भाग्य में लिख दिया, उसे कौन मिटा सकता है। **"फलति कपालं न भूपालः"**—भाग्य ही फलता है, वही फल देता है, राजा नहीं।

एक छोटी सी कहानी है—एक गरीब ब्राह्मण राजसभा में आया। उसने राजा को आशीर्वाद दिया। अन्त में बोला—**"फलति कपालं न भूपालः"**। राजा नाराज हुआ। कहा—राजसभा में आए हो, कुछ लेने के भी इच्छुक हो। फिर कहते हो भाग्य फलता है, राजा नहीं। अच्छा, देखेंगे—तुम्हारा भाग्य कैसे फलेगा? ब्राह्मण बोला, फलेगा तो भाग्य ही राजन्! तभी कुछ मिलेगा। ब्राह्मण राजसभा से लौट आया। वह प्रतिदिन उसी प्रकार राजसभा में आता और अपना वही वाक्य बोल कर वापस लौट आता।

राजा प्रतिदिन किसी दूसरे ब्राह्मण से शास्त्र कथा सुना करता था।

कथाकार अक्सर कहता—"गुप्तदानं महाफलम्"—अर्थात् गुप्तदान का बहुत बड़ा फल है। कथा का काल पूरा हुआ। चढ़ावे का समय आया। कथा-वाचक ब्राह्मण बड़ी-बड़ी आशा लगाए था। राजा ने **"गुप्त दानं महाफलम्"** मंत्र को ध्यान में रखते हुए एक कुम्हड़ा लिया। उसे एक स्थान पर थोड़ा सा काट कर उसके भीतर का भाग गूदा निकलवा दिया और कुम्हड़े को हीरों-पन्नों से भरवा दिया तथा कटे हुए स्थान को फिर ज्यों का त्यों चिपका दिया।

कथा का अन्तिम दिन था। राजा ने कथा की परिसमाप्ति पर वह कुम्हड़ा चढ़ाया। अन्य लोगों ने जब राजा को कुम्हड़ा चढ़ाते देखा तो उन्होंने भी विविध प्रकार के फल, शाक आदि चढ़ाए, यह सोचकर कि राजा स्वयं जब फल चढ़ाते हैं तो अपने लोग और क्या चढ़ाएँ। पण्डित जी के पास शाक व फलों का ढेर लग गया। बेचारे मन ही मन बड़े उदास थे। सोचने लगे—चार महीने कथावाचन किया और चढ़ावे में ये फल मिले! चढ़ावा हुआ। सब लोग चले गए। बेचारे ब्राह्मण ने उन फलों की गठरी बांधी। सोचा इन्हें घर ले जाकर क्या करूँगा? बाजार में किसी माली के हाथ बेच दूं और ऐसा ही किया। उसने पाँच-सात रुपये में वे सारे के सारे फल बेच डाले। उधर से **"फलति कपालं न भूपाल:"** वाले पण्डित जी बाजार में शाक खरीदने आये। संयोगवश उसी माली के यहाँ पहुँचे। वही कुम्हड़ा छांटा, खरीदा, घर ले आये। घर लाकर उसे काटने लगे तो उनके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा, जब उन्होंने कुम्हड़े के अन्दर गूदे और बीजों के बदले जगमगाते हुए बहुमूल्य रत्नों को पाया। सोचते-सोचते उस ब्राह्मण के मन में यह बात आई—हो सकता है कि राजा ने गुप्त दान के रूप में यह किसी को दिया हो।

दूसरे दिन राजसभा लगी। सामन्त सरदार उपस्थित थे। कथावाचक पण्डित जी भी वहाँ थे। वह ब्राह्मण राजसभा में पुनः आया और **"फलति कपालं न भूपाल:"** वाले सम्पूर्ण श्लोक को बोल गया। निवेदन करने लगा—राजन्! मैं नित्यप्रति जो रट लगाता हूँ, वह फल गई है। मेरे कपाल ने फल दे दिया है। राजा को आश्चर्य हुआ। हल्का-सा अनुमान उसके दिमाग में आया, कहीं वह कुम्हड़ा तो इसके हाथ नहीं लग गया है। ब्राह्मण ने कहा, आप के कुम्हड़े को मेरा भाग्य मेरे पास ले आया।

कथावाचक पण्डित पास में ही बैठा था। राजा ने उससे पूछा, मैंने जो कुम्हड़ा चढ़ाया था, उसका आपने क्या किया? पण्डित ने कहा—मैंने चढ़ावे के सारे फल माली के हाथ बेच दिये। सोचा इतने फलों का क्या करूँगा। कुम्हड़ा भी उन्हीं के साथ बेच दिया गया। राजा बोला, बड़ी भारी भूल की आपने। आप ही सदा तो कहा करते थे, 'गुप्त दानं

महाफलम्'। मैंने आप को गुप्त-दान दिया था। किन्तु आपके भाग्य में वह नहीं था।

"**फलति कपालं न भूपालः**" वाला ब्राह्मण बोला—मैं बाजार शाक लेने आया। उसी माली के पास पहुंचा। संयोगवश मैंने वही कुम्हड़ा छांटा। मेरा भाग्य था, आप द्वारा दिये गये गुप्तदान की सारी सम्पत्ति मेरे पास पहुँची।

राजा ने कहा, आपका कथन वास्तव में सही है कि कपाल फलता है, भूपाल नहीं।

यह कहानी स्पष्ट करती है कि भाग्य ही सब कुछ है। पुरुषार्थ कुछ नहीं। पर वास्तव में तत्त्व ऐसा नहीं है। हाँ, माना भाग्य भी कोई वस्तु अवश्य है पर उसे बनाने वाला कौन है? पुरुषार्थ ही तो? पहले के किये अच्छे कर्म ही तो भाग्य-रूप में प्रगट होते हैं।

जैन-दर्शन काल, स्वभाव, नियति पुरुषार्थ, भाग्य इन सबको लेकर चलता है। इन पाँचों का समन्वय करना होगा। एकांगी दृष्टि या एकान्तिकता से काम नहीं चलेगा। जैसे भूमि अनुकूल है सिंचन भी करता है, फिर भी वृक्षों के फल बसन्त में ही आएँगे। कैर के वृक्ष के फल बसन्त में भी नहीं आएँगे। यहाँ काल, स्वभाव आदि संयोग कारण भूत हैं। किसान खेती करता है। भूमि, बीज, हल, कृषक वर्षा, भाग्य इन सबका असर उसकी खेती पर पड़ेगा और सब कुछ है पर यदि बीज नहीं है तो सब व्यर्थ जायगा और सब है वर्षा नहीं है तो खेती कहा से हो सकेगी। असलियत यह है कि इन सबकी अपेक्षा है। सब संयोग मिलने पर ही काम बनता है।

जैन-दर्शन में मुख्यता पुरुषार्थ की है। पुरुषार्थ-पराक्रम पर वहाँ बहुत जोर दिया गया है। जैसा कि पहले बताया गया—भाग्य का बीज तो पुरुषार्थ ही है। पूर्व समय में सत्-कर्म किये, वे ही तो भाग्य-रूप में फलते हैं। इसलिए सब जगह विशेष जोर देकर यह कहा जाता रहा है कि मानव सत्-कर्मात्मिक पुरुषार्थ करे।

जैन आगमों में सकडाल पुत्र का वृतान्त आता है। वह कुम्भकार था। उसे मिट्टी के बर्तनों का बहुत बड़ा व्यापार था। वह गोशालक का अनुयायी था। नियतिवादी था। जो कुछ होता है वह नियतिवश—होनहार वश होता है। मानव का वहाँ कैसा कृतित्व? ऐसी उसकी मान्यता थी।

एक बार भगवान् महावीर वहाँ आए। उसके यहाँ ठहरे। बातचीत चली। भगवान् महावीर पूछने लगे—"तुम्हारे यहाँ मिट्टी के पात्र बनाए जाते हैं, यह सब कौन करता है?" सकडाल पुत्र ने कहा—"नियतिवश ऐसा हो जाता है, संयोग मिल जाते हैं तब ऐसा बनता है।"

भगवान् महावीर ने कहा—"यदि तुम्हारे इन पके पकाए पात्रों को कोई पत्थर से फोड़ दे तो ?" सकडाल पुत्र कुछ चमका। "फोड़ क्यों दे, मेरा नुकसान जो होता है, कौन है मेरा नुकसान करने वाला ?" भगवान् महावीर ने कहा— 'होनहारवश ऐसा हो जाता है; इसमें नाराज होने की क्या बात ?" सद्दालपुत्र चुप रहा। उसके मन में उथल-पुथल मच गई।

भगवान महावीर ने फिर कहा—"यदि कोई अत्याचारी व्यक्ति तुम्हारी पत्नी पर बलात्कार करे तो ?" सकडाल पुत्र ने आवेश में आकर कहा—"कौन होता है मेरे रहते मेरी पत्नी पर बलात्कार करने वाला ? पूछ न लूँ उसको मैं ?" भगवान् महावीर ने कहा—"इसमें किसका क्या दोष, जो कुछ होना होता है वह हो जाता है। जैसी नियति होती है वैसा होता है।" सकडाल पुत्र की आँखें खुली। उसकी नियतिवादी मान्यता क्षण भर में दूर हो गई। उसने स्वीकार किया कि नियति या होनहार ठीक नहीं। जीवन में पुरुषार्थ का बहुत बड़ा स्थान है।

जैसा कि मैंने कहा था—भाग्य पुरुषार्थ के सिवा और है क्या ? पहले किया हुआ पुरुषार्थ ही तो भाग्य है। अतीत में पुण्यार्जन किया, उसका अनुकूल फल मिलता है। सुविधा मिलती है, उसी को तो लोग भाग्योदय कहते हैं। यह अपने ही किये का फल है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति सदा सत् पुरुषार्थ में ही अपने को लगाए रखे।

अतीत के कर्मों के परिणाम स्वरूप जो कुछ भाग्य बन गया वह कभी बदला नहीं जा सकता, ऐसी बात भी नहीं है। जैन-दर्शन में कर्म दो तरह के होते हैं। निकाचित और अनिकाचित। निकाचित कर्म वे होते हैं जिनको अनिवार्यतः भोगना ही होता है। भोगने से ही वे टूटते हैं। अनिकाचित कर्म पुरुषार्थ से, तपस्या से तोड़े भी जा सकते हैं। बिना भोग भी उन्हें मिटाया जा सकता है। इससे स्पष्ट है कि पुरुषार्थ में कितनी शक्ति है। एक अपेक्षा से वह भाग्य को पलट सकता है।

पुरुषार्थहीनता या अकर्मण्यता वास्तव में एक अभिशाप है। व्यक्ति को सदा पुरुषार्थ करते रहना चाहिए। अपने को सत्कर्मों में लगाए रखना चाहिए। यदि कहीं पर अपने पुरुषार्थ का साक्षात् फल न भी दिखे तो भी उसे अपुरुषार्थी या अकर्मण्य नहीं बनना चाहिए। पुरुषार्थ व्यक्त या अव्यक्त फल अवश्य देगा। पुरुषार्थ के साथ विवेक की भी आवश्यकता है। विवेक के बिना किया गया पुरुषार्थ लाभ के बदले अलाभ दे देता है। जैसे चूहे ने साँप के पिटारे को काटा। ज्यों ही पिटारे में छिद्र हुआ, साँप चूहे को निगल गया। चूहे ने पुरुषार्थ किया पर अविवेक से उसका फल मृत्यु हुआ।

जैसा मैंने प्रारम्भ में कहा था जैन-दर्शन अनेकान्तवादी दर्शन है। वहाँ आग्रहपूर्वक एक बात को पकड़ कर बैठा नहीं जाता। वहाँ तो विभिन्न अपेक्षाओं से विषय-निरूपण होता है। अस्तु। एकान्ततः भाग्य या पुरुषार्थ पर वह आग्रहारूढ़ नहीं होता है पर पुरुषार्थ या पराक्रम पर उसने बहुत जोर दिया है। लोग इसे समझते हुए अपने जीवन को अच्छे कर्मों में लगाएंगे। विवेक के साथ जीवन विकास मूलक पुरुषार्थ में अपने को जुटायेंगे, ऐसी आशा है।

सरदार शहर
१५ जुलाई, '५९

७९ : चातुर्मास की सार्थकता

भीलवाड़ा की बात है। सब लोग अपने-अपने स्थानों के लिए निवेदन कर रहे थे। मेवाड़ के लोगों की तीव्र आकांक्षा और उत्कण्ठा थी—हमारा रहना मेवाड़ में ही हो। मैंने उस समय कहा था—हमारा जो भी कार्यक्रम बनेगा, वह सबको प्रसन्न और सन्तुष्ट करनेवाला होगा। उस वक्त मैंने मन ही मन सोचा—सब को संतुष्ट करने वाला होगा, यह कैसे ? पर आज सब लोग देख रहे हैं, श्री मगनलालजी स्वामी को सेवा कराने के लिए जो सरदारशहर में चातुर्मास हो रहा है, उससे सब जगह के लोगों को हार्दिक सन्तोष है, प्रसन्नता है।

आज प्रवचन का विशेष समय नहीं है। मंगलाचरणात्मक उस प्राचीन गीतिका का मैं उच्चारण करता हूँ, जिसमें अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधुओं की मंगलमयता का विवेचन है। वास्तव में सच्चे मंगल ये ही हैं। संसार में लोग बाह्य वस्तु को मांगलिक मानते हैं, पर यदि बारीकी से देखें तो जीवन के लिए सच्चा मंगल वह है, जो उसे आत्म-शुद्धि की ओर ले जाए।

अब चातुर्मास प्रारम्भ होनेवाला है। सबको केवल खुशी में अपने आप को नहीं भुला देना है। चातुर्मास का सबको अधिकाधिक लाभ लेना है। इस अवसर पर साधु-साध्वियों से ज्ञान सीखें, तात्त्विक अनुशीलन करें, जीवन में तत्त्व-ज्ञान की बहुत बड़ी उपयोगिता है। जैन-दर्शन अत्यन्त गहरा दर्शन है। यह एक सुन्दर अवसर है—इतने साधु-साध्वियों का यहाँ रहना हो रहा है, उनसे आप सब लोग लाभ लें। जैन-दर्शन की बातें उनसे सीखें। जीवन को अध्यात्म-विकास में लगाएं। बाह्य आडम्बर की भूलभुलैया में न भूलें, त्याग-तपस्या एवं आत्म-शुद्धि-मूलक कार्यों में अपने को लगाएं।

आज श्री मगनलालजी स्वामी की खुशी का पारावार नहीं है। चातुर्मास और महोत्सव पर कल्पता चातुर्मास होना कोई साधारण बात नहीं है। सरदारशहर के लिए तो यह अप्रत्याशित और असम्भावित चातुर्मास है। श्री मंत्री मुनि के बदौलत यह पुण्यावसर मिला है। और-और प्रान्तों के लोग कितनी उत्सुकता से अपने यहाँ आगमन की, चातुर्मास की प्रतीक्षा कर रहे थे। सरदारशहर में यह तीन वर्षों के बाद चातुर्मास हो रहा है, वहाँ औरों को तीस-तीस बरस हो गए हैं। भला उन्हें प्रतीक्षा कैसे नहीं हो? जब यह प्रसंग चलता है तो उनकी आँखों में आँसू आ जाते हैं। ऐसा होने के बावजूद भी श्री मंत्री के कारण चातुर्मास सरदारशहर के लिए स्वीकार करना पड़ा। ऐसे महत्त्वपूर्ण अवसर से लोग लाभ न लें, यह कितनी प्रमादपूर्ण मनोवृत्ति है। मैं चाहूँगा—सभी लोग अपने को धर्मध्यान त्याग-तपस्या जैसे आत्म जागृतिमूलक कार्यों में अत्यन्त लगन के साथ लगाएँ और तभी चातुर्मास की सार्थकता है।

सरदार शहर
१६ जुलाई '५६

७७ : धर्म के आभूषण

सभी जानते हैं, आज से चातुर्मास प्रारम्भ है। चातुर्मास उपार्जन का समय है—कमाई का समय है। हम देखते हैं, पाट का व्यवसाय करने वाले धड़ाधड़ बंगाल जा रहे हैं क्योंकि यह पाट का सीजन है। किसान खेत जोतने में लगे हैं। जिस तरह धन-धान्य के उपार्जन का यह समय है, उसी तरह धर्मोपार्जन का भी यह समय है। संत जो अधिक से अधिक एक महीना से ज्यादा कहीं नहीं रहते, चातुर्मास में लगातार चार महीने तक एक ही जगह में रहते हैं जिससे लोगों को उनके सत्संग का सुन्दर अवसर मिलता है। आपलोगों से मैं कहना चाहूँगा कि आप इस चातुर्मास-काल में त्याग-तपस्या जैसे आत्म-शुद्धि के कार्यों में अत्यन्त उत्साह और लगन के साथ लगिए। तत्त्व-ज्ञान सीखने में भी आप पीछे न रहिए। ऐसे अवसर बारबार थोड़े ही मिलते हैं।

अनशन मूलक बाह्य तपस्या के साथ-साथ आप आन्तरिक तपस्या में भी अपने को लगाइए। आन्तरिक तपस्या का आशय है जीवन की अन्तर वृत्तियों का मार्जन। उनमें लगे कालुष्य का प्रक्षालन। शास्त्रकारों ने कहा है—कषाय जीवन को पतन की ओर ले जाने का मुख्य हेतु है,

उससे हर क्षण व्यक्ति बचा रहने का प्रयास करे। कषाय का अर्थ है—कष्ट अर्थात् कष्ट अथवा भवभ्रमण। उसका हेतु—क्रोध, मान, माया, लोभ। इस कषाय चतुष्टय से अन्धे व्यक्ति को विवेक कहाँ सूझ सकता है? वह सत् कार्यों में कैसे जुट सकता है? ये कषाय चतुष्टय जीवन-शुद्धि के कार्यों में जाते हुए मन को बरबस उधर से खींच लेते हैं। इसलिए इनसे छुटकारा पाना अत्यन्त आवश्यक है। जैनाचार्यों ने तो यहाँ तक कह दिया है कि "कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव।" अर्थात् कषाय मुक्ति ही वास्तव में मुक्ति है। जिसने कषायों को जीत लिया, उसने मानों पापों के द्वार को रोक लिया।

अपनी जीवन-वृत्तियों को सुधारने का व्यक्ति प्रयत्न करे। आज मैं देखता हूं कि लोगों में विनय की कितनी कमी होती जा रही है। विनय-शून्य व्यक्ति में और भी अनेक दुर्गुण आ जाते हैं। जैन-धर्म मूल विनय है। तभी तो "विनयं मूल" धर्म का विशेषण उसके साथ लगा है। विनय, सरलता, ऋजुता, सहनशीलता ये तो धर्म के आभूषण हैं। धार्मिक कहे जाने वाले व्यक्ति में यदि ये गुण नहीं हैं तो उसकी धार्मिकता शोभित नहीं होती। इसलिये सब लोग अपने में इन गुणों को ढालने का प्रयास करेंगे।

बहुत से लोग अपने समय को हंसी, मजाक आदि में व्यतीत करते रहते हैं। यह समय का सरासर दुरुपयोग है। शास्त्रविज्ञों ने कहा है कि अनुत्तर विमान के देवता ५ हजार वर्ष में जितने पुण्य क्षीण करते हैं, वाणव्यन्तर देवता १०० वर्ष में ही उतना क्षीण कर डालते हैं। क्या कारण है? वाणव्यन्तर देवता हंसी, मजाक, ठट्ठा, कौतूहल में लगे रहते हैं। जिससे ऐसा होता है। सब भाई-बहन अपना समय हँसी मजाक और कौतूहल में न बिता कर ज्ञानाराधना, और चरित्राराधना में लगाएं।

अधिकांश लोग ताश खेलने में अपना बहुमूल्य समय बिताते रहते हैं मेरी दृष्टि में यह बहुत अनुचित है। क्या जीवन इतने कम कीमत का है? क्या समय इतना व्यर्थ है कि उसे ताश खेलने में बिताया जाए? सचमुच यह बहुत बड़ी भूल है, बहुत बड़ी कमी है।

तत्त्व-ज्ञान और स्वाध्याय के लिये मैं खास तौर से कहना चाहूंगा कि लोग इस ओर ध्यान दें। स्वाध्याय और तत्त्वानुशीलन में अपने को लगाएं। ऐसे स्वर्णिम अवसर बार-बार नहीं आया करते। वे इसका सदुपयोग करें। साधु-साध्वीगण उन्हें तत्त्वाध्ययन में सहयोग करेंगे। इसके लिये व्यवस्थित कार्यक्रम चलेगा।

इस प्रकार ज्ञानानुशीलन, त्याग, तपस्या, साधु-सत्संग आदि पुनीत कार्यों

में अपने को लगा कर इस चातुर्मास-काल को अपने लिए अधिकाधिक सार्थक बनाएं, यही मेरा कहना है।

साधु-साध्वियों से भी मैं कहना चाहूँगा कि अपने संयम और साधना में अडिग रहते हुए लोक-जीवन को संयमोन्मुख बनाने का वे सतत् प्रयास करते रहें। वे सोचें—लाखों व्यक्ति उनके चरण छूते हैं, लाखों को उनके प्रति श्रद्धा है। वे श्रद्धेय तो हैं ही ऐसा सोचने से उनमें जागरूकता रहेगी। वे अपने महान् ध्येय की ओर प्राणपण से बढ़ते रहने के लिए अधिक स्फूर्ति पाएंगे।

मुझे आशा है, मैंने जो कुछ कहा, उस पर लोग सक्रिय रूप से ध्यान देंगे।

सरदार शहर
२१ जुलाई '५६

७८ : सत्य की सार्थकता

कहने को कहा जाता है कि आज मानव ने बड़ा विकास किया है, वह बहुत आगे बढ़ा है पर जरा बारीकी से देखिये, क्या वास्तव में ऐसा हुआ है? क्या उसने अपने जीवन में सुख और शान्ति पाई है? स्पष्ट दिखेगा—ऐसा नहीं हुआ है। उसका जीवन आज बुरी तरह प्रताड़ित और पीड़ित है। बहुत कुछ पाने पर भी वह खोया-खोया-सा है। यही कारण है कि वह आज स्वयं महसूस करने लगा है कि उसे इस तथाकथित उत्थान से मुँह मोड़ना चाहिये। बाहरी जीवन को सजाने में, बढ़ाने में, जहां उसने दिन रात एक कर दिये हैं, वहां आज उसे अपने अन्तर-जीवन को सजाना होगा। इसके लिये उसे करना क्या है, यह मैं बताना चाहूँगा। आप यह मत सोचिये कि मैं आप से कोई अभूतपूर्व बात कहूँगा। मैं तो शाश्वत काल से भारत के ऋषि-महर्षियों द्वारा कहे गये तत्त्व की बात ही कहूँगा, जो प्राचीन होते हुए जीवन में अभिनव शक्तियों का संचार करने के कारण भी नवीन हैं। भगवान् महावीर ने बताया—"**सत्य की खोज करो, उसका विश्लेषण करो, जीवन को तदनुकूल ढांचे में ढालो। दूसरों को कष्ट मत दो, शोषण मत करो।**" कितना अच्छा हो, इन आदर्शों पर आज का मानव चलने लगे। यदि ऐसा हुआ तो जीवन को जर्जरित बनाने वाली समस्याएं स्वतः निर्मूल हो जाएँगी।

भारत के दार्शनिकों और विचारकों ने अपने सतत् अनुशीलन और चिन्तन के फलस्वरूप ज्ञान, भक्ति और कर्म जैसे तत्त्वों पर अनूठी सूझ दी।

भगवान् महावीर ने बताया—"**ज्ञान और कर्म का समन्वय करो, सत्य को जानो और उसे कर्म में अनुप्राणित करो**"—यह लक्ष्य है जिसे अपनाकर व्यक्ति जीवन का सच्चा विकास कर सकता है। कर्म में आने से ही सत्य की सार्थकता है, नही तो ऊंचे सिद्धान्तों से क्या बनेगा, यदि वे लम्बी-लम्बी बातों तक ही परिसीमित रह जाएँगे। अणुव्रत-आन्दोलन की इसलिये प्रतिष्ठापना की गई कि व्यक्ति सत्य को व्यवहार में संजोए, उसकी जीवन-वृत्तियों पर अहिंसा और संयम का आदर्श छाएं।

जीवन-शक्ति प्रकृति की देन होती है। वह मानव में भी होती है और अन्य प्राणियों में भी। जीवन-शक्ति दोनों में होते हुए भी मानव और पशु मे जो विवेक-शक्ति का अन्तर होता है उसी कारण मानव को विवेकशील या विकासशील प्राणी माना गया है। मानव विवेकी प्राणी ठहरा, वह उस विवेक का क्या उपयोग करे? शास्त्रज्ञों ने बताया—वह विवेक के सहारे अपने जीवन को जगाए। जीवन-शुद्धि की ओर प्रतिपल अग्रसर होता रहे—यही विवेक की उपयोगिता और सफलता है। जीवन में नीतिमत्ता, प्रामाणिकता और सत्यनिष्ठा की सर्वाधिक आवश्यकता है। इनसे जीवन सही माने में ओज, शक्ति और विकास पाता है। यह तथ्य सभी स्वीकार करते है पर खेद इस बात का है कि आज इसके प्रति सच्ची निष्ठा मानव में नहीं रह गई है। उसके मस्तिष्क में यह जंच नहीं पाता कि आज के युग में क्या सच्चाई और ईमानदारी से भी काम चलाया जा सकता है? उसका सोचना यह है कि आज का वातावरण ही कुछ ऐसा बन गया है कि उसके अणु-अणु में असदाचार, बेईमानी और अनैतिकता के भाव बुरी तरह भरे पड़े हैं। तब भला कैसे संभव माना जाए कि एक व्यक्ति भलाई और सच्चाई बरतता हुआ अपना जीवनयापन कर सकता है। पर यदि गहराई से सोचा जाए तो बात ऐसी नहीं है। सच्चाई और ईमानदारी का प्रयोग जीवन में सचमुच शान्ति का संचार कर सकता है। हो सकता है प्रथमतः कुछ कठिनाई प्रतीत हो पर दृढ़ता के साथ इनपर डटे रहने से जीवन व्यवहार में प्रविष्ट अनेक उलझनें सुलझ जाती हैं। जीवन सफल और सात्त्विक बनता है। खेद का विषय है कि आज मानव का जीवन-मूल्य एक ऐसे हीन प्रवाह में से गुजर रहा है कि यदि गम्भीर और सूक्ष्म-दृष्टि से पर्यवेक्षण करते हुए कहा जाए तो कहना होगा—इस अवमूल्यन ने उसे मानव नहीं रहने दिया है। वह केवल हाड़-मांस का पुतला जैसा रह गया है। आकार में कहने भर को वह मानव है पर उसके मानवीय गुण उत्तरोत्तर मिटते जा रहे हैं। जहाँ पैसे के लिये वह अपना मान बेचते नहीं सकुचाता, प्रामाणिकता को तिलांजलि देते जरा भी नहीं हिचकिचाता,

समझ नही पड़ता की उसमें मानवता कहाँ रह गई है? आज मानव को अपने जीवन के मूल्य बदलने हैं। पैसा, परिग्रह व स्वार्थ के बदले उसे त्याग, संयम और सदाचार को महत्त्व देना है। जीवन को अधिकाधिक सरल, सादा और सात्त्विक बनाना है। अणुव्रत-आन्दोलन इसी भावना को लेकर चलता है। उसका स्वर है जन-जीवन में नैतिकता व्याप्त हो, सदाचरण प्रसार पाये, जीवन-व्यवहार संयम से पूर्ण हो। यही वह मार्ग है, जो आज के अलसाए लोक जीवन में एक प्रेरणा फूंक सकता है। यह जीवन मूल्यों के अहिंसा व अपरिग्रह-परक परिवर्तन का एक नया मोड़ है। सत्य, सदाचार और शील किसी की बपौती नहीं। वह तो उसीका है जो उस का परिपालन करे।

धर्म-धनी और गरीब, मालिक और मजदूर, साम्राज्यवादी और साम्यवादी इन सबके लिये कल्याण का प्रशस्त पथ है। सब धार्मिक बनें, पौद्गलिक सुखों में अति आसक्त न बनें, यह जीवन का सबसे बड़ा गूढ़ रहस्य है।

सरदार शहर
२२ जुलाई '५६

७६ : जैन-दर्शन

जैन-दर्शन विश्व के समग्र दर्शनों में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। यह एक व्यापक तथा उदार दर्शन है। अहिंसा और अनेकान्त दृष्टि इसके मुख्य पहलू है। यह विश्व के विभिन्न दर्शनों, विचारधाराओं और वादों को ठुकराता नहीं, उनमें परस्पर समन्वय तथा सामंजस्य पैदा करता है।

पदार्थ को यह एकान्तिक अपेक्षा से निरूपित नहीं करता। अपेक्षा-भेद से उसका प्रतिपादन करता है। यही तो स्याद्वाद है या अनेकान्त वाद का बीज है।

यदि हम विविधता की दृष्टि से देखें तो व्यक्ति-व्यक्ति का अपना दर्शन है, अपने विचार हैं। जितने मस्तिष्क उतने ही चिन्तन। जैन-दर्शन अपेक्षा का माध्यम ले उन सबका संकलन करता है, उनमें सामंजस्य खोजता है, समन्वय देखता है।

मैं ठीक कहता हूँ, यदि इस विश्वजनीन और व्यापक विचार का अनुसरण संसार के लोग करें तो वे सारी समस्याएँ और उलझनें, जिसमे मानव-जीवन आज तबाह हो रहा है, खुद-ब-खुद मिट जाएं, समाहित हो जाएं।

उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक चिन्तन को लेकर यह आगे बढ़ता है। सभी वाद, नय इसमें समन्वित हो जाते हैं। अद्वैत वेदान्त की मान्यता है

कि सारे संसार में एक आत्मा है। जैन-दर्शन अनेकात्मवादी है। सहज ही दोनों में विपरीतता—असमानता लगती है। पर जैन-दर्शन इसमें भी समन्वय खोजता है। जैन-दर्शन के अनुसार प्रत्येक आत्मा का अपना पृथक्-पृथक् अस्तित्व है। पर समग्र आत्माओं के शुद्ध गुणों में अन्तर नहीं है। तभी तो जब समस्त कर्म-बन्धनों से उन्मुक्त हो जाते हैं तो गुणों की अपेक्षा आत्माओं में विभिन्नता नहीं रहती। अतः शुद्ध स्वरूप या गुणों की अपेक्षा समग्र आत्माएँ एक हैं। गुणों की अपेक्षा अद्वैत वेदान्त के एकात्मवाद के साथ हमारा समन्वय बैठ सकता है। अर्थात् व्यक्तिशः अनेकता के बावजूद भी शुद्ध स्वरूपतः उनमें ऐक्य है।

बौद्ध-दर्शन पदार्थों को क्षणिक मानता है। एक क्षण बीता पदार्थ का वह रूप मिटा, नया पैदा हुआ। पिछले क्षण जो स्वरूप उसका था, वह अवशेष नहीं रहा। मौजूद जो है, वह नया है। बौद्ध-दर्शन के क्षणिक-वाद का स्वरूप यह है। इसके साथ भी हम अपेक्षा भेद से सामंजस्य स्थापित कर सकते हैं। जैन-दर्शन सत् की परिभाषा करता है—उत्पाद, व्यय, और ध्रौव्ययुक्त सत् अर्थात् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य—ध्रुवता—शाश्वतता जिसमें हो वह सत् है—अस्तित्वशील है—पदार्थ है। बीज के पर्याय हर समय बदलते रहते हैं। पहला मिटा, दूसरा पैदा हुआ। इसी तरह उसका निरन्तर चक्कर चलता रहता है। पर्याय की अपेक्षा वस्तु में स्थायित्व नहीं है, स्थैर्य नहीं है। उसमें हम क्षणिकता मान सकते हैं। पर ध्यान रहे, यह ऐकान्तिक क्षणिकता नहीं है। यदि ध्रुवता का साथ में मेल न रहे तो नया उत्पाद कहाँ से हो। अतः पर्याय की अपेक्षा हम बौद्ध-दर्शन के क्षणिकवाद को मान्य कर सकते हैं।

न्याय और वैशेषिक दर्शन में आत्मा को नित्य, कूटस्थ माना गया है। ध्रौव्य की अपेक्षा इसके साथ जैन-दर्शन का समन्वय है ही।

जैन-दर्शन की अनेकान्त दृष्टि की यह विशेषता है कि वह जैन-दर्शन सब के साथ मैत्री का हाथ बढ़ा सकता है।

यदि अपने व्यावहारिक जीवन में व्यक्ति अनेकान्त दृष्टि का अनुसरण करे तो क्लेश, कदाग्रह और वैमनस्य जैसे आत्म-पतनकारी दुर्गुणों से वह बहुत कुछ बच सकता है।

प्रत्येक जैन का ही नहीं बल्कि तत्त्व-जिज्ञासुओं का यह कर्तव्य है कि वे जैन-दर्शन का अनुशीलन करें। इसमें प्राप्य ज्ञान-रत्न की गवेषणा करें। जीवन में मार्ग-दर्शन देने वाले महत्त्वपूर्ण तत्त्व उसे मिलेंगे।

सरदार शहर

८० : भारतीय विद्या का आदर्श

विद्यार्थी बीज है। वट के विशाल वृक्ष का मूल बीज होता है उसी तरह इस जीवन का मूल विद्यार्थी-जीवन है। आवश्यकता है—मूल का सुधार और निर्माण हो। बुराई आए और उसे यदि उसी समय परास्त कर दिया जाये तो वह घर नहीं बनाती। लोग नदी के प्रवाह को देखते हैं—प्रवाह की उद्दामता जब आती है तब वह गांव तक को भी बहा कर ले जाती है। बाढ़ आते ही उसके प्रवाह को रोक दिया जाए तो सम्भव है वह उतना नुकसान न करे। इसी तरह व्यक्ति के जीवन में बुराइयों का प्रवाह आने लगे और उसे आते ही रोक दिया जाय तो आगे चल कर वह व्यक्ति सही रास्ता अपना लेगा। आरम्भ का सुधार सहज होता है। बुराई संस्कार बन जाये या जड़ जमा ले तो फिर उसका सुधार कठिन हो जाता है। अतः बालजीवन निर्माण का जीवन है। बाल सहज चांचल्य से हमें घबराने की जरूरत नहीं है, देखना यह है कि उनमें चञ्चलता के साथ सद्ग्राहकता कितनी है। वे क्या बनना चाहते हैं और हमें क्या बनना है?

बालक भविष्य का निर्माता होता है। वही घर, जाति, प्रान्त और राष्ट्र का कर्णधार होता है। आज यदि हम उनके साथ सावधानी नहीं बरतते हैं तो सम्भव है कि कल वे तूफानी, उद्दण्ड और उच्छृंखल बन जाएं। जन्मना बच्चा न उद्दण्ड होता है और न उच्छृंखल। जैसे संस्कार उसे मिलते हैं, जैसे वातावरण में वह पलता है, अभिभावक और अध्यापकों का जैसा स्वभाव होता है, बालक के जीवन में उसी प्रकार के संस्कार ढलने लगते हैं। अभिभावक और अध्यापक यदि सुसंस्कारी और चरित्रशील हैं तो बहुत सम्भव है कि बालक भी वैसे ही बनें। अतः विद्यार्थियों के जीवन-सुधार के लिए अभिभावकों और अध्यापकों का सुधरना भी अनिवार्य है।

एक तत्त्वद्रष्टा महर्षि ने कहा है : "तमसो मा ज्योतिर्गमय"—मुझे अँधेरे से प्रकाश की ओर ले चलो। आखिर अँधेरा क्या है? अँधेरा अज्ञान है। उस अज्ञान रूपी अंधकार से निकाल मुझे ज्ञान रूपी प्रकाश की ओर ले चलो। अन्तरात्मा में ज्ञान की ज्योति जलेगी, तब अँधेरे का विनाश हो जायेगा और सर्वत्र प्रकाश ही प्रकाश नजर आयेगा। सही ज्ञान जीवन-विकास ही है। भारतीय परम्परा में पुस्तकीय ज्ञान को वास्तविक ज्ञान नहीं माना गया। वास्तविक ज्ञान तो वह है—जिससे आत्मा का चैतन्य प्रकाश में आए, मोहावृत आत्मा शुद्ध बने। ज्ञान से जीवन-विकास नहीं हुआ तो वह ज्ञान सिर्फ भार बन कर रह जाएगा। गधे पर चन्दन का भार भी जैसे भार ही है वैसे ही उस मात्र पुस्तकीय ज्ञान से कुछ बनने का नहीं, उसकी कुछ भी उपयोगिता नहीं।

महाभारत में वर्णन आता है—धर्मराज युधिष्ठिर को एक पाठ पढ़ाया जा रहा था। क्रोध मत करो! धर्मराज के सब सहपाठियों ने उस पाठ को पढ़ लिया पर धर्मराज युधिष्ठिर एक लम्बे समय तक उस पाठ को पढ़ने में असमर्थ रहे। अध्यापक उन पर नाराज हुआ। डाँटा तब भी उनको पूरा पाठ याद नहीं हुआ। तब अध्यापक ने उन्हें पीटा। मार पड़ने पर धर्मराज को क्रोध नहीं आया। तब वे अध्यापक से कहने लगे—अब मैंने पाठ पढ़ लिया है। इसका मतलब क्या हुआ? धर्मराज क्रोध-विजय की साधना कर रहे थे। उनकी दृष्टि में पाठ को कंठस्थ करना मात्र ही पाठ को पढ़ना नहीं था, बल्कि जीवन में उस आचरण का सीखना सही माने में पढ़ना था। और तब तक उन्होंने पाठ को पढ़ा नहीं माना जब तक कि क्रोध-विजय की साधना में उत्तीर्ण नहीं हुए। यह भारतीय विद्या का आदर्श है जो केवल अक्षर पढ़ना नहीं, उसका आचरण करना सीखना है और वही वास्तविक अध्ययन है।

विद्यार्थियों के लिए उच्छृङ्खलता लज्जा का विषय है। उन्हें आदर्श शिक्षा-पद्धति अपनानी है। बातबात में अध्यापकों के प्रति अविनयपूर्ण बर्ताव करना, यहाँ तक कि उनका सामना कर लेना और उद्दण्डता बरतना उन्हें शोभा नहीं देता। राजनीतिक प्रपंचों में पड़ कर अपने अध्ययन कार्य से परे होना हितकर नहीं है। अतः इस पवित्रतम जीवन में वे उधर न जायें। सही रूप में अपने जीवन को निर्माण और विकास की ओर लगायें। इसी में उनके जीवन की सफलता है।

८१ : संस्कार ही मूल बात

संसार में रहने वाला व्यक्ति बहुकर्मी होता है। वह जहाँ राजनीतिक दलबन्दियों में पड़ता है वहाँ सामाजिक और धार्मिक पहलुओं को भी छूता है। छूने की अपनी अलग-अलग पद्धति होती है। कोई किसी विचार को आगे किए चलता है और कोई किसी विचार को। आखिर गन्तव्य स्थल एक है—सुख और शान्ति की प्राप्ति। वह सबको अभीष्ट है और उसे पाने के लिए लोग अनेक तरह की प्रवृत्तियों का संचालन करते हैं। हमें न राजनीतिक क्षेत्र को छूना है, न आर्थिक क्षेत्र को। हमारा चुना हुआ क्षेत्र आध्यात्मिक, नैतिक या चारित्रिक है। गिरते हुए को उठाएं, उठाने में प्रेरक बनें, मानव-मात्र के जीवन को ऊँचा उठाने के लिए कोई व्यवस्थित रूपरेखा सामने रखें—इसी भावना का मूर्त रूप अणुव्रत आन्दोलन है।

जीवन की दो धाराएँ हैं : आस्तिकवाद और नास्तिकवाद। जो नास्तिक

हैं, चक्षु-प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं, उन लोगों के लिए कुछ सोचने जैसा है तो वह वर्तमान और प्रत्यक्ष ही है। पर जिनमें विवेक का जागरण है, कर्तव्याकर्तव्य का विचार है, मैं आत्मा हूँ, अजर-अमर हूँ के विचार की प्रतीति है उनके लिए आत्मा ही परम तत्त्व है। इस चिन्तन के फलस्वरूप तीन बातें बनती हैं :—

(१) आत्मनिरीक्षण (२) आत्मपरीक्षण (३) आत्मनियमन।

ये तीन विचार जहाँ नहीं आए हैं वहाँ मनुष्य अपने आपको नहीं पहचानता। समाज-सुधार के और राष्ट्र सुधार के कानून बनते हैं पर अपनी आत्मा को समझे बिना उनसे बनने का क्या है? मैंने बम्बई प्रान्त में देखा—वहाँ मद्य-निषेध का कानून है पर फिर भी वहाँ लोग खुलेआम शराब पीते हैं। कारण यही कि कानून बुराई छोड़ने के लिए जोर डालता है किन्तु बुराई के प्रति घृणा पैदा नहीं करता। बुराई के प्रति घृणा का संस्कार बन जाए तो वह बुराई टिक नहीं सकती। वह आज खत्म होगी या कल खत्म होगी, आखिर खत्म होकर रहेगी। अतः बुराइयों को मिटाने के लिए संस्कार-परिवर्तन या हृदय-परिवर्तन का प्रयास हो तो वह बुराई जड़-मूल से मिट सकती है। अपने आप को समझने और पहचानने का प्रयास होगा तभी कुछ बनने का है।

युग प्रगति का है। लोग एक साथ सारी दुनिया को सुधार डालना चाहते हैं। उनके हृदय में मंगलकामना है पर सुधार का सही माध्यम व्यक्ति-सुधार ही है। अणुव्रत-आन्दोलन व्यक्ति-सुधार को प्रमुखता देकर चलने वाला एक चरित्र शुद्धिमूलक रचनात्मक आन्दोलन है। उदाहरण के रूप में एक कहानी है एक अध्यापक ने विद्यार्थियों को एक नक्शे के कई विभक्त खण्ड, जिसके एक ओर दुनिया तथा दूसरी ओर मनुष्य शरीर की आकृति अंकित थी, दिया और कहा कि इसे अव्यवस्थित कर फिर से व्यवस्थित बनाओ। विद्यार्थी उसे जोड़ने के लिए दुनिया के नक्शे को ठीक करने लगे। वे दुनिया से अपरिचित ठहरे—अफ्रीका को ठीक बैठाया तो अमेरिका अव्यवस्थित हो गया और अमेरिका को ठीक किया तो एशिया अस्तव्यस्त हो गया। अध्यापक ने सबको समझाते हुए कहा कि पहले आदमी को बनाओ, दुनिया का नक्शा स्वतः बन जाएगा। विद्यार्थी आदमी के शरीर के सारे अवयवों से परिचित तो थे ही, मानव-शरीर को व्यवस्थित किया, कागज के पीछे की दुनिया का नक्शा स्वतः ठीक बन गया। इस तरह विश्व के निर्माण से पहले मानव का निर्माण होगा तभी हमारा कार्य ठोस और क्रियाशील बन सकेगा। अतः अणुव्रत-आन्दोलन की गति व्यक्ति-सुधार के माध्यम से आगे बढ़ने की है तथा उसी दिशा में वह आगे बढ़ रहा है।

भारत स्वतन्त्र हुआ है। शिक्षा, कला और विज्ञान के क्षेत्र में आशातीत विकास हो रहा है। इन क्षेत्रों में विकास हो रहा है तो क्या आत्मा और चरित्र के क्षेत्र में उन्नति की आवश्यकता नहीं है? आत्मा के सुधार का या अपने आप के सुधार का जहां प्रश्न आता है वहां व्यक्ति पीछे खिसक जाता है। यह बुरी स्थिति है। आत्म-नियमन की आज अत्यधिक आवश्यकता है। उसके साधन व्रत हैं। व्रत महान् शक्ति है। उनका विकास हुए बिना सुख और शान्ति का मार्ग प्रशस्त नहीं हो सकता। क्या मैं आशा करूं कि लोग भारतीय परम्परा के अनुसार व्रत-शक्ति को बढ़ाएंगे और अपने जीवन को विकास की ओर ले जाएंगे?

सरदार शहर
१९ अगस्त '५६

८२ : स्वतन्त्रता में अशान्ति क्यों ?

स्वतन्त्रता का मूल्य स्वयं सत्य है। नींद की बात छोड़िए। जागरण के बाद कोई भी परतन्त्र रहना नहीं चाहता। इसीलिए ऋषि, जो द्रष्टा होते हैं, कहते आए हैं—स्वतन्त्रता सुख है और परवशता दुःख।

स्वतन्त्रता का स्वर आज विश्वव्यापी है। इस नव-जागरण के युग में कोई भी देश ऐसा नहीं जो परतन्त्रता का समर्थन कर सके। जो पराधीन हैं वे स्वतन्त्रता के लिए लड़ रहे हैं। इन थोड़े वर्षों में अनेकों राष्ट्र स्वतन्त्र हो गए हैं, हो रहे हैं। संभव है थोड़े वर्षों के बाद परतन्त्र राष्ट्र जैसा प्रयोग न मिले। मालूम होता है लोगों ने तथ्य को आंका है। विजातीय अधिकार के खतरे को समझा है। उसके परे होते ही अपना कर्तृत्व चमक उठता है। जैसा कि भारत में हुआ है। स्वतन्त्रता के बाद भारत का गौरव बढ़ा है। आगे बढ़िए—स्वतन्त्र वातावरण में सांस लेने वाले पूर्ण सुखी हैं—ऐसा तो नहीं है। कहीं अभाव सता रहा है, कहीं भय और कहीं लालसाएं। सब उद्विग्न, अशान्त और प्रलय की आशंका से चिन्तित लगते हैं। यह क्यों? स्वतन्त्रता में अशान्ति क्यों? इस मोड़ पर रुकना पड़ता है। सच तो यह है कि लोगों ने नग्न सत्य को परखा नहीं। भौगोलिक और जातीय भिन्नता में खतरे की कल्पना है। वह वहां नहीं जहां वास्तविक खतरा है। व्यक्ति-व्यक्ति पर वासनाओं का साम्राज्य छाया हुआ है—क्रोध, अहंकार, लालच और भय निरन्तर घेरा डाले बैठे हैं। इन्हीं की सत्ता के नीचे व्यक्ति मारा-मारा फिरता है, लड़ता है, झगड़ता है, मारकाट करता है, संग्रह करता है, शोषण और अत्याचार करता है।

परिणाम में मिलता है—दुःख और अशान्ति। अपने राष्ट्र पर छाई हुई विदेशी सत्ता को तोड़ फेंकने के लिए जो तत्परता है वह अपने पर छाई हुई बुराइयों की सत्ता के प्रति नहीं। स्वतन्त्र राष्ट्र रोटी, कपड़े और मकान के अभाव को मिटा सकता है, भोगोपभोग के साधन वहां सुलभ हो सकते हैं, किन्तु शारीरिक सुविधाओं के उपरान्त भी मानसिक शान्ति, जो कि व्यक्ति की अपनी स्वतन्त्र निधि है, नहीं होती, उसका दूसरा कौन क्या करे ? स्वतन्त्रता की पहली मंजिल पार की है। उन्हें आगे की मंजिल भी पार करनी है, पर उसकी चेतना जागे बिना वह हो कैसे ? मनुष्य अभी भी नहीं जान पाया है कि उसकी अशान्ति का मूल स्वयं वही है, उसकी वृत्तियां और प्रवृत्तियां उसका जीवन जटिल बनाती जाती हैं। यदि इसे जान पाया है तो भी हृदयंगम नहीं कर पाया है। कोई सन्देह नहीं, इस क्षेत्र में चेतना उद्बुद्ध नहीं हुई है। विदेशी सत्ता को उखाड़ फेंकने के लिए चेतना जागी और लाखों व्यक्ति—"स्वतन्त्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है"—के नारों पर मर मिटे। अगर बुराई के विरुद्ध भी वैसी चेतना जाग जाती तो लोग कठिनाइयों से मुंह नहीं मोड़ते। नीतिनिष्ठ व्यक्तियों का द्वार भी अनीति के लिए खुला है और इसलिए खुला है कि बिना मतलब कठिनाई कौन झेले ! "यद्यपि कार्य बुरे हैं पर सभी कर रहे हैं फिर कोई एक नहीं करेगा तो उससे क्या बनने बिगड़ने का है ? आखिर तो सब भले होंगे तभी नीति टिकेगी"; इस प्रकार श्रद्धा गिरती है, व्यक्ति गिर जाता है, सुख-सुविधा और विलास का ऐसा नशा छा जाता है कि फिर उठने की बात नजदीक नहीं रहती। सरसरी दृष्टि डालिये—केवल भारत में ही नहीं, लगभग दुनिया के पट पर यही चित्र चल रहा है। आखिर यह कब तक चलेगा ? अशान्ति के अन्तर्दाह मे झुलसा मनुष्य शान्ति के लिए दौड़ रहा है और दौड़ता ही रहेगा। वैयक्तिक स्वतन्त्रता के बिना वह मिलने की नहीं और यह तत्त्व समझ में नहीं आ रहा है। ठीक वही दशा है—कस्तूरी की खोज में मृग समूचा जंगल छान लेता है पर उसे मिलती नहीं। सचमुच शान्ति चाहिए तो सबसे पहली अपेक्षा है—उसके अनुकूल श्रद्धा बने और चेतना जागृत हो। प्रत्येक व्यक्ति अपने को स्वतन्त्र बना ले तो अशान्ति की सत्ता उखड़ जाय। सारी समस्याएँ सुलझ जायें। अणुव्रत-भावना का यही आधार है। इससे सीधे रूप में न आर्थिक कठिनाइयाँ मिटती हैं और न अभाव की समस्याएं सुलझती हैं। किन्तु इससे आगे व्यक्ति की जो मौलिक समस्या है सर्वभाव में भी अशान्ति नहीं मिटती, वह यह मिटा सकती है। व्यक्ति का आत्म-बल जाग जाए तो अभाव में भी शान्ति रह सकती है। पहली समस्या यही है कि ऐसी चेतना कैसे जागे ? समाज और राष्ट्र के कर्णधारों को इस यथार्थवादी दृष्टिकोण की उपेक्षा नहीं

करनी चाहिए। स्वतन्त्रता का दीप व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की बलि-वेदी पर जले तभी शान्ति-रेखाएँ विद्योतित होंगी।

सरदारशहर
(अणुव्रत-प्रेरणा-समारोह)
१९ अगस्त '५६

८३ : कुशल कौन ?

"कुसले पुण णो बद्धे णो मुक्के"—अर्थात् कुशल बँधा भी नहीं होता, खुला भी नहीं होता। बाहर की मर्यादा से न बँधे और अन्तर की मर्यादा से मुक्त न बने वही कुशल है। व्यक्ति का विवेक नहीं जागता, अपने आप अपने पर नियंत्रण नहीं आता तब दूसरों द्वारा बाँधा जाता है, कसा जाता है। अन्तर की आँख खुलने पर दीपक आलोक देने नही आता। दीपक स्वयं नहीं जलता, जलाया जाता है। मर्यादाएँ स्वयं नही आतीं, वे बुलाई जाती हैं। बुलानेवाला कौन? वही जो स्वयं नियन्ता नहीं। जो जितना अधिक नियन्त्रणहीन होता है वह उतना ही अधिक अपने आसपास मर्यादा का जाल बुनता है।

साधना आत्म-मर्यादा है। वृत्तियों का वेग रोकने से चैतन्य में आनन्द भर आता है। शारीरिक वेग का निरोध हानि पहुँचाता है। वृत्तियों का वेग बाहरी नियन्त्रण से रोका जाए तो वह भी हानिकारक है। यदि उसे साधना से रोका जाए तो वहाँ हानि नही होती। साधना का अर्थ है—आनन्द का उभार। वृत्तियों का उबाल विषय-लाभ से पूरा किया जाए वहाँ एक हल्की-सी सुखानुभूति होती है। भले फिर वह थोड़े में मिट जाए, ज्यादा न टिके—चपल, अस्थिर, विनाशी, कैसी भी क्यों न हो। कष्टानुभूति या विषय के त्याग से विकार नहीं मिटता, सुखानुभूति की कमी पूरी नहीं होती। उसे पूरा करने के लिए उससे अधिक सरसता चाहिए। वह आनन्दानुभूति है। सुखानुभूति का पलड़ा आनन्दानुभूति से हल्का होता है। जहाँ वृत्तियों का उबाल कोरी कष्टानुभूति से ठंडा होता है वहाँ विरसता, चित्त-भ्रम, उन्माद या पागलपन का भाव उभर आता है। इसलिए सुखानुभूति को आनन्दानुभूति से जीतना चाहिए। सुखानुभूति विकार है, आनन्दानुभूति और साधना।

८४ : सच्ची शान्ति अध्यात्म-साधना में है

संसार में रच-रचाया मानव सोचता है—संसार ही उसके लिए सब कुछ है। अपने सांसारिक जीवन को सुखी, समृद्ध और सुसज्जित बनाना वह अपना लक्ष्य मान बैठा है। इससे उसका जीवन भोगोन्मुख है। भोगोन्मुखता को पूरा करने के लिए उसे येन-केन-प्रकारेण अर्थ-संग्रह में जुटना पड़ता है। इतनी उलझन में वह पड़ जाता है कि अपने इस घेरे के अतिरिक्त उसे कुछ सूझता तक नहीं। सूझे भी तो कैसे? स्वयं उसने बड़े सघन आवरण अपने लिये तैयार कर लिए हैं।

व्यक्ति का यह समझना सचमुच भारी भूल है। जिन भोगोपभोगों की भूल-भुलैया में गुमराह बन वह अपने को भूल जाता है, जीवन को भूल जाता है, वह भोग-सामग्री मृगमरीचिका से अधिक क्या है? जीवन को वह जर्जर, ध्वस्त और निराश्रित बना देती है। सही माने में यह सुखाभास है, सुख नहीं। इन्हें सुख मानना ही सबसे बड़ी भूल है।

सच्चा सुख, सच्ची शान्ति भोग में नहीं है, भौतिक साधनों में नहीं है, अध्यात्म-साधना में है। यह तत्त्व प्रत्येक व्यक्ति को हृदयंगम करना है। यह सम्भव नहीं कि संसार के समग्र व्यक्ति संसार से सर्वदा पराङ्मुख बन अपने को सम्पूर्ण रूप से अध्यात्म-साधना में जोड़ दें। ऐसे तो कुछ ही व्यक्ति हुआ करते हैं। पर साथ-साथ इसमें इतना तो है—जीवन ऐकान्तिक रूप में भोग-परायण तो न बने। जहाँ तक बन सके अध्यात्म-जागरण भी जीवन में व्याप्त हो।

अध्यात्म जागरण का अर्थ है—जो विकार, अशुद्ध प्रवृत्तियां आत्मा को मलिन बना रही हैं, उनसे छुटकारा पाना। पर-पीड़न, पर-शोषण आदि हिंसक वृत्तियों से जीवन दिन पर दिन पतन की ओर जा रहा है। उसका सत् स्वरूप दूषित हो रहा है। लोभ, अविश्वास, छल, मिथ्याचरण जैसी नीच वृत्तियों ने जीवन को घिनौना बना रखा है। इन सबपर रोक लगानी होगी ताकि आत्मा अपनी निर्मलता को न खोए। आत्मा में परिव्याप्त इन विकारों से आत्मा को बचाये रखना, पहले के लगे विकारों को निकालकर बाहर फेंकना—यही अध्यात्म-साधना है।

इसके लिए आत्मा के शुद्ध स्वरूप का चिन्तन, उसके गुणों का स्मरण, उसपर स्थिर बने रहने की भावना, आते हुए विकारों को देख अस्थिर न बनने की दृढ़ता, इस मार्ग में आनेवाली कठिनाइयों का हँसते-हँसते मुकाबला आदि में मानव को जुड़ना होगा। ऐसा करने से वह अपने आपको कलुषित वृत्तियों से बचाने में बहुत कुछ सफल हो सकेगा।

निम्नता की ओर जाने में कठिनाई नहीं होती। बिना ताकत लगाए जाया जा सकता है पर ऊपर उठने में, ऊँचा चढ़ने में कठिनाई होती है। वही बात आत्म-विकास के ऊँचे आदर्शों को पाने में है। हाँ, कठिनाई जरूर होगी पर उस ओर आगे बढ़नेवाले को उस कठिनाई में भी एक रस आता है, प्रसन्नता की अनुभूति होती है।

आवश्यकताओं की पूर्ति करके शान्ति पाने का जो दृष्टिकोण बनता जा रहा है वह एक भ्रामक दृष्टिकोण है, जो जगत् पर अशान्ति की चिनगारियाँ उछाल रहा है। संयम की साधना ही शक्ति की साधना है, जिसपर आज के मानव को अग्रसर होकर वास्तविक सुख और शान्ति को प्राप्त करना है।

आज का लोक-जीवन अशान्ति और विक्षेप के बीच से गुजर रहा है। संयम और सदाचार का अभाव ही इसका मूल हेतु है। लोग भौतिक सुख-सुविधाओं की ओर अधिक दौड़ते हैं, संयम का पक्ष कमजोर पड़ता जा रहा है। आवश्यकताएं दिन पर दिन बढ़ रही हैं फिर अशान्ति हो भी क्यों नहीं? जो कार्य अशान्ति के हैं उनसे वह बढ़ेगी ही।

आज जहाँ सब चीजों का मूल्य बढ़ा है वहाँ पर मानवता—इन्सानियत का मूल्य घटा है। यह मानव के लिए शर्म की बात है। नैतिकता का ह्रास कितना हुआ, कैसे हुआ, यह मुझे बतलाने की आवश्यकता नहीं। क्योंकि मुझसे ज्यादा आप इन बातों से परिचित हैं।

८५ : व्यापारी-वर्ग से

बुजुर्ग कहा करते थे—"**जाओ लाख पर रहो साख**" पर आज इससे बिल्कुल विपरीत हो रहा है। आज तो यह कहते हैं—"**जाओ साख पर रहो चाहे चूल्हे की राख**"। बुजुर्ग सोचते थे कि मेरा धन चला जाय, मेरे बाल-बच्चे चले जायँ, मेरी शरीर की चमड़ी भी क्यों न चली जाय पर ऋण को चुकाना है। पर इसके विपरीत—आज अच्छी तरह व्यापार चलता है पर नीयत का दिवाला निकल जाता है। अच्छी तरह जानते हैं कि मुझे कल मांगनेवाले को अँगूठा दिखाना है—दिवाला निकालना है तो भी उससे पहले-पहल जितना रुपया मिल सकता है लोगों से ले लेते हैं। मकान, धन आदि अपनी पत्नी या पुत्र के नाम कर देते हैं और लोगों से कह देते हैं कि हमारे व्यापार में नुकसान हो गया है, रुपया नहीं दे सकते। यह मानवता का पतन नहीं तो और क्या है? इन घटनाओं को देख कर दिल में दर्द होता है—ठेस लगती है। न जाने मानवता कौन-सी गुफा में जा छिपी!

आज पैसे के लिए मनुष्य अपनी सारी जिन्दगी लगा देता है। उसे न रोटी खाने की चिन्ता रहती है न कपड़े पहनने की। रात-दिन इसी ध्यान में रहता है कि येन-केन-प्रकारेण ज्यादा से ज्यादा रुपये पैदा करूँ। चाहे किसी का कुछ भी क्यों न हो। हमें इसमें कोई मतलब नहीं। लेखक ने ठीक ही लिखा है—"चाहे जाति पहले पाताल में जाय, नीति तीसरे पाताल में चली जाय, धर्म पहाड़ से गिरे और ऊपर पड़े पत्थर, तजुर्ग गड्ढे में गिरें। हमारा इनसे कोई सम्बन्ध नहीं है। हमें तो चाहिये—रुपया।" यह है आज के नागरिकों की मानसिक स्थिति। आपमें बहुत से सत्यवादी, प्रामाणिक व्यापारी भी हो सकते हैं पर आज व्यवहार में यही कहा जाता है कि आज के व्यापारी बेईमान होते हैं। वे कहते हैं कि झूठ के बिना हमारा काम ही नहीं चलता। आपको इस कहावत की असत्यता जड़-मूल से मिटानी है।

आप जानते हैं कि एक दिन सबको जाना है। धन-धान्य, स्त्री, बाल-बच्चे सभी यहीं रहनेवाले हैं। कोई भी आपके साथ नहीं जाएगा। फिर क्यों इतनी अनैतिकता का व्यवहार करते हैं?

बाजार निर्भयता और न्याय का स्थान है, यह किसी से छिपा नहीं। बच्चे, जवान, बुड्ढे सभी बाजार में जाकर निर्भय बन जाते हैं। अगर बाजार में भी निर्भयता और विश्वास नहीं रहेगा तो और कहाँ रहेगा? वह गुड़वाला उदाहरण याद आता है। गुड़ ने सोचा—लोग कहते हैं कि रामराज्य में सभी सुखी होते हैं फिर मैं इतना दुःखी क्यों? मुझे लोग क्यों इतना परेशान करते हैं? मुझे मारते हैं, मुझे खाते हैं, भट्ठी पर जलाते हैं। गुड़ गुड़कता-गुड़कता राम के पास फरियाद लेकर पहुँचा, और कहने लगा—महाराज! आपके यहाँ न्याय नहीं है। राम ने पूछा—कैसे? गुड़ ने कहा—मुझे सब लोग खाते हैं, पीटते हैं, जलाते हैं, और चींटियाँ भी नहीं छोड़तीं इसलिए मैं काफी दुःखी हूँ। राजा ने कहा—ठीक है भाई, हम इस पर कार्यवाही करेंगे। राजा ने फिर पूछा—भाई तुम्हें लोग क्यों खाते हैं? गुड़ ने कहा—महाराज, मुझमें एक अवगुण है कि मैं मीठा हूँ। राजा ने कहा—तू मीठा है? तब तो हमारा भी मन चलता है। हम भी खाएँगे। उसने कहा—हो गया न्याय। उल्टा आप ही खाने लगे। कहने का मतलब ऐसी जगह भी न्याय नहीं होगा तो कौन-सी गुफा में होगा?

आज मुझे ज्यादा गहरे विषय पर नहीं जाना है। मुझे तो खास-खास बातें जो आपके जीवनोपयोगी हैं उन्हीं को आपके सामने रखनी हैं। आपकी इच्छा हो तो उन नियमों को ग्रहण करें।

आज के सम्मेलन में भाग लेनेवाले व्यापारी बन्धुओं के लिए उनसे

सम्बन्धित दो नियम रखे गये हैं। पहला तो जान-बूझ कर कूट माप-तोल नहीं करूँगा और दूसरा जान-बूझ कर नकली में असली मिला कर या नकली को असली बना कर नहीं बेचूंगा। अगर आप इन दो नियमों को थोड़े दिनों के लिए ही अपनाएं, तो आप महसूस करेंगे कि कितना आनन्द और सुख आपको मिलता है। इन नियमों के ग्रहण करने से कुछ दिन आपको कठिनाई अवश्य होगी। बिक्री भी शायद कम होगी। पर उसका फल मीठा होगा। थोड़े दिनों बाद आप देखेंगे कि पहले शायद ही ऐसी बिक्री चली होगी। अन्त में मैं आपसे यह निवेदन करूँगा कि ज्यादा से ज्यादा व्यापारी बन्धु इन सभी नियमों को ग्रहण कर आज के इस सम्मेलन को सफल बनाएँगे। हाँ, ध्यान रहे कि कोई भी संकोच या आवेश में आकर नियमों को ग्रहण न करें।

सरदारशहर
(व्यापारी-सम्मेलन)
२२ अगस्त '५६

८६ : महत्त्वपूर्ण पर्व

क्षमत-क्षामना का पर्व जैन-संस्कृति का महत्त्वपूर्ण पर्व है। यह जन-जन को क्षमा का पावन संदेश देता है पर यह कहते खेद होता है, क्या जैनों ने ऐसे पर्वों के साथ खिलवाड़ नहीं किया? जिन लोगों का यह पर्व नहीं है, उनमें कितनी सहनशीलता और क्षमा-भावना का व्यवहार हम पाते हैं? पारस्परिक झगड़ों और क्लेशों को वे मैत्री और सद्भावना से सुलझाने का प्रयास करते हैं। एक योजना असफल हुई तो दूसरी योजना का वे गठन करते हैं, यह अहिंसक वृत्ति की ओर झुकाव है. जैन आदर्शों का यह सहज स्वभाव है ऐसा आपलोग मानेंगे पर जब जैनों की तरफ दृष्टि फैलाते हैं तो कितना पारस्परिक मनोमालिन्य और असौजन्य पाते हैं, क्या यह जैनत्व के अनुकूल है? दूसरे के विचारों को बुरी तरह रौंद डालने की चेष्टाएँ चलती हैं, क्या यह जैन-धर्म के मौलिक आदर्श क्षमा-भावना के प्रतिकूल नहीं है? क्या जैनों के लिए यह लज्जा की बात नहीं?

मैं चाहूँगा—जैन बन्धु इसे हृदयंगम करें, क्षमा और सहनशीलता को जीवन में अधिक से अधिक स्थान दें। इसी में उनके जैनत्व की शोभा है। क्षमाशील होना जैनत्व का सच्चा गौरव है। यही वह सत्प्रेरणा है, जो ऐसे पर्वों से सबको लेनी है।

जैसे कि मैंने रात को आत्म-निवेदन किया, सबसे क्षमा-याचना की।

पुनः मैं अपने अति निकटवर्ती सर्व साधु-साध्वियों एवं श्रावक-श्राविकाओं से आन्तरिक क्षमा-याचना करता हूँ। केवल यहाँ के साधु-साध्वियों से ही नहीं, मद्रास, उड़ीसा, बम्बई आदि अन्यान्य स्थानों में स्थित साधु-साध्वियों से भी आज के दिन क्षमत-क्षामना करता हूँ। दूसरे सम्प्रदाय के व्यक्तियों से भी जिनके विचार हमसे नहीं मिलते हैं, मैं उनसे भी अत्यन्त विनम्र भाव से क्षमत-क्षामना करता हूँ। अन्ततः मैं सारी मानव-जाति से और चौरासी लाख जीवयोनि से क्षमत-क्षामना करता हूँ।

मैं चाहूँगा—आप सब इस पर्व का सच्चा महत्त्व आंकते हुए जीवन में सहज सहनशीलता और क्षमावृत्ति अपनाएं।

सरदारशहर
१६ सितंबर '५६

८७ : जन-सेवक

जन-सेवक—यह नाम कितना मधुर है। कितना अच्छा हो, काम भी यदि उतना ही मधुर हो। नाम की मधुरिमा के साथ-साथ यदि काम की मधुरिमा न हो तो उस मधुर नाम से क्या हो सकता है?

आज सभी वर्गों के लोग जन-सेवा का दावा करते हैं। व्यापारी कहेंगे, वे लोगों तक अनाज पहुँचाते हैं, अन्य आवश्यकता की चीजें उनतक पहुँचाते हैं। कितनी बड़ी सेवाएँ करते हैं। राज्य-कर्मचारी कहेंगे, वे लोगों में शान्ति बनाये रखते हैं, संघर्ष को रोकते हैं, न्याय देते हैं। इसी तरह सभी वर्गों के लोग लोक-सेवा का दावा करने नहीं सकुचाते। लेकिन मैं कहूँगा सेवा का दम भरनेवाले व्यापारी नाजायज मुनाफा लेना तो छोड़ें, वस्तु के क्रय-विक्रय में माप-तौल और अन्य प्रकार के सम्बन्ध में अनैतिकता तो न बरतें। यदि उन्होंने इस रूप में अपने जीवन को माँजा, अपनी वृत्तियों का दमन किया, पतन से अपने को बचाया, तो मैं समझूँगा कि वे बहुत बड़ी सेवा करते हैं। इसी तरह मैं राज्याधिकारियों से कहना चाहूँगा कि वे अपने जीवन को अधिकाधिक सच्चाई, ईमानदारी और संयत आचरणों में ढालें। रिश्वतखोरी जैसी कलुषित वृत्तियों को छोड़ें। जैसे यह उनके स्वयं के जीवन-शोधन का प्रशस्त पथ है उसी तरह औरों के लिए भी यह कल्याणकारी है। जीवन-शुद्धि की दृष्टि से यह जहाँ स्व-सेवा है, लोक-हित की दृष्टि से यह पर-सेवा भी है। यही बात अन्यान्य वर्ग के लोगों के लिए है। सबसे पहले वे अपने आपको सुधारें, अपनी कालिख मिटा, अपनी असत् वृत्तियों पर रोक लगाएँ।

अणुव्रत-आन्दोलन जन-जागरण की दृष्टि से चलनेवाला एक जीवन-

शुद्धि-मूलक आन्दोलन है। इसका एक ही लक्ष्य है, जन-जन का जीवन सदाचार, जीवन-व्यवहार, न्याय और सच्चाई पर आधारित हो, तथा अनैतिकता के कारावास में फँसी मानवता उन्मुक्ति पाए। यह आन्दोलन जहाँ जातीय और साम्प्रदायिक संकीर्णता से अछूता है वहाँ वर्ग, दल और जमात-भेद इसमें नहीं है। यह तो सभी वर्ग-जाति और दल के लोगों को जीवन-शुद्धि के मार्ग पर लाने का आन्दोलन है। मैं चाहूँगा, लोग इसके विश्वजनीन आदर्शों पर अपने को लाएं।

सरदारशहर,
१६ सितंबर '५६

८८ : आत्मशुद्धि को सत्प्रेरणा लें

आचार्य भिक्षु के साहस का कोई पार नहीं था। उनमें अपरिमित आत्म-बल था, जिसके सहारे विपदाओं, बाधाओं और अड़चनों का सामना करते हुए वे चल पड़े, जीवन-शुद्धि के विशुद्ध राजपथ पर। आत्म-जागृति में अपने को प्राणपण से जोड़ देनेवाले मनस्वी बाधाओं से भला कब घबड़ाते हैं?

उन्होंने भगवान् महावीर के आदर्शों पर अपना जीवन ढाला, औरों को उस ओर प्रेरित किया, जैन-दर्शन के स्वरूप को जन-जन के समक्ष रखा। वे धर्म-ज्योत्स्ना के महान् प्रसारक थे।

साधना उनके जीवन में बोलती थी, उनकी वाणी में बोलती थी। जो भी साधना को आगे रखते हुए करते, जो भी वे कहते अध्यात्म-तत्त्व को दृष्टि में रख कर कहते। उनका जीवन अध्यात्म की उज्ज्वल ज्योति से ज्योतिर्मय था। धर्म की आभा से उल्लसित था।

वे धर्म-संघ के महान् प्रणेता थे। धर्म-शासन की सुव्यवस्था के लिए उन्होंने बहुत कुछ किया। संगठन की सुदृढ़ नींव डाली, जो अध्यात्म जगत् के लिए आज भी एक अनुपम देन है, प्रेरणा-स्रोत है।

ऐसे महापुरुष के जीवन से लोग धर्म के प्रति सक्रिय निष्ठा, तत्त्वों के प्रति सजग मननशीलता, साधना पथ पर आनेवाले कष्टों के प्रति उपेक्षा आदि अनेकों सद्गुणों को सीख सकते हैं। सबको चाहिए, वे आज के दिन उस दिवंगत आत्मा के जीवन से आत्म-शुद्धि की सत्प्रेरणा लें। अपने को उस ओर प्रवृत्त करें।

सरदारशहर
१७ सितम्बर '५६

८६ : जीवन-सुधार का सच्चा मार्ग

आज स्थिति ऐसी है कि लोग दूसरों की बातें बहुत करते हैं पर अपनी भूल जाते हैं। अपना जीवन किस ओर जा रहा है, इस ओर उनका ध्यान तक नहीं, यह व्यक्ति की सबसे बड़ी कमी है, जीवन का सबसे बड़ा दोष है। प्रत्येक व्यक्ति का पहला कर्त्तव्य है—वह अपने आपको देखे, अपना स्वयं आत्म-निरीक्षण करे। आगम की भाषा में वह सच्चा मेधावी है, वह दुःखों को तरता है। ऐसा व्यक्ति सत्य से अनुशासित होता है। सत्यानुशासित के लिए कहीं भी भय नहीं, शोक नहीं, विषाद नहीं। वह सच्चा स्वतंत्र जीवन भोगता है। जीवन में सत्य का अनुशासन होने पर वहाँ बहुमुखता होने के बावजूद वह संयत आचरण रखता है। संयमित जीवनचर्या की साधना के लिए सम्यक् चिन्तन के साथ-साथ सम्यक् श्रद्धा और क्रियाशीलता की अपेक्षा है। अणुव्रत-आन्दोलन मानव जीवन को सत्-निष्ठा और सत्-क्रिया से संजोना चाहता है ताकि आज विपथगामी मानव सुपथगामी बने। अनीति के अनवरत आघातों से जर्जरित जीवन में नीति और न्याय प्रतिष्ठित हो। उसको चारित्र्य का सत्पोषण मिले।

अपनी महाराष्ट्र यात्रा के बीच मैंने देखा, कानूनन वहाँ शराबबन्दी है, पर लोगों को इसका भान तक नहीं, वे खुले आम शराब पीते हैं। मैंने उन्हें समझाया, शराब के जीवनघाती अवगुण बताए। उनका अन्तरतम आन्दोलित हुआ। उन्होंने स्वेच्छा से जीवन भर के लिए शराब का परित्याग कर दिया। कानून जहाँ उनके मन को छूता तक नहीं था, हृदय-परिवर्तन ने उनके जीवन का पथ मोड़ दिया। यही कारण है, मैं अक्सर कहा करता हूँ—हृदय-परिवर्तन जीवन-सुधार का सच्चा मार्ग है। अणुव्रत-आन्दोलन हृदय-परिवर्तन का आन्दोलन है। वह बुराई, असद्वृत्ति और अनैतिकता के प्रति घृणा पैदा कर भलाई, सद्वृत्ति और नैतिकता के लिए मन में एक स्थान पैदा करना चाहता है, ताकि व्यक्ति स्वयं बुराइयों की ओर से मुड़े, मुख मोड़े, तथा भलाइयों की ओर अधिकाधिक उन्मुख हो सके।

सरदारशहर
२३ सितम्बर '५६

९० : चरित्र का मापदण्ड

प्रत्येक व्यक्ति अणुबम की विस्फोट-भूमि है। चरित्र-हीनता के धूमिल वातावरण में घुट-घुट कर जीनेवाला मनुष्य स्वस्थ रहा ही कब? अणुबमों के थोड़े परीक्षण या विस्फोट हुए होंगे। सारा विश्व चिल्ला रहा है पर उसके पीछे ठोस आधार कहाँ है? आखिर अणुबम बनते ही क्यों हैं? इसीलिए तो मनुष्य-समाज का चरित्र अभी भी शैशवावस्था में है। शस्त्रीकरण और निःशस्त्रीकरण की बात चरित्र के साथ सर्वथा जुड़ी हुई है। चरित्र के स्तर का मापदण्ड अहिंसा है। शस्त्र में निष्ठा रखनेवाला चरित्रनिष्ठ नहीं हो सकता। चरित्र में जिसकी निष्ठा नहीं होगी, वही शस्त्रनिष्ठ होता है। भयंकरता शस्त्र में नहीं, व्यक्ति के चरित्र में होती है। शस्त्र तो उसका प्रतिबिम्ब मात्र होता है। सही अर्थ में मनुष्य ही शस्त्र है और वही अणुबम है। वह विस्फोट करता आया है और आज भी उसके चरण उसी पथ पर बढ़ रहे हैं। निःशस्त्रीकरण की प्रयोग-भूमि भी मनुष्य ही है। चरित्र ऊर्ध्वगामी होता है तब शस्त्र-निष्ठा टूट जाती है। अणुबम और अणुव्रत दोनों एक साथ नहीं टिक सकते। अणुबम पराजय, भय और कायरता का प्रतीक है। अणुव्रत विजय, अभय और वीर-वृत्ति का सन्देश है। जब मनुष्य मौत या अपहरण के भय से कायर बना तब उसने शस्त्र बनाने की बात सोची और उसके विकास में वह अणु-शस्त्र के युग तक या पराजय की चोटी तक पहुँच गया। थके-माँदे मनुष्य ने मदिरा और पी ली है, वह नशे में पागल बन दूसरों को मार भी रहा है, दूसरों के अधिकारों को निर्ममता से कुचल रहा है। पराजय से घोर पराजय की ओर प्रगति हो रही । चरित्र का मापदण्ड केवल व्यवहार की सच्चाई ही नहीं है। व्यवहार में छलना व अप्रामाणिकता नहीं, यह अच्छी बात है किन्तु चरित्र के विकास को इससे और आगे ले जाना है।

अणुव्रतों द्वारा चरित्र के स्थूल दोष मिटते हैं, सूक्ष्म बुराइयों को पकड़ने वाले व्रत महान् होते हैं। मोटी बुराइयाँ छोड़ी जाती हैं, तब व्रत अणु होता है। अल्प-शक्ति वालों के लिए यही मध्यम-मार्ग है। यह अव्रत और महाव्रत के बीच व्रत का मार्ग है। यह दानवता और देवत्व के बीच मानवता का मार्ग है।

९१ : अणुव्रतों की महत्ता

अणुव्रत का कार्य बहुत वर्षों से चल रहा है। बहुत से अणुव्रती बने हैं, अणुव्रतों का पालन भी वे करते हैं पर अणुव्रतों की क्या महत्ता है, उसकी क्या भूमिका है, देश को क्या आवश्यकता है—इन बातों को बहुत कम समझ पाये हैं। इसी का परिणाम है—उनका जीवन अब तक उसके अनुसार नहीं ढल पाया है। जब तक युवक भाई-बहनें इस भावना को नहीं समझेंगे तब तक वह शीघ्र गति से आगे नहीं बढ़ेगा। इसी अणुव्रत भावना को समझने के लिए अणुव्रती भाइयों ने इस अणुव्रत-विचार-शिविर का आयोजन रखा है। वैसे शिविर दो तरह के होते हैं। एक तो जिसमें एक साथ खाना, पीना, रहना, कार्य करना होता है। पर यह शिविर विचार-शिविर है। इसमें अणुव्रत की क्या भावना है, क्या लक्ष्य है, इन बातों को समझना है। इसी उद्देश्य से जो शिविर आरम्भ हुआ है। इसमें अधिक से अधिक भाई-बहन भाग लें तथा कुछ कार्यकर्ता इसमें लगातार कार्य करें तो उन्हें एक नयी दिशा मिलेगी।

सरदारशहर
(अणुव्रत-विचार-शिविर)
२ अक्टूबर '५६

९२ : सम्यक्करण का महत्व

जिसकी चाह नहीं है उसकी राह सामने है और जिसमें चाह है उसकी राह नहीं है। आज का मनुष्य विपर्यय की दुनिया में जी रहा है।

चाह सुख की है, कार्य दुःख के हो रहे हैं। चाह शान्ति की है, और प्रयोग अणुअस्त्र के चल रहे हैं।

भगवान् महावीर ने कहा—"दुःख हिंसा प्रसूत है, दुःख आरम्भ प्रसूत है।" इन शब्दों में वर्तमान की कठिनाइयों का संग्रह है।। हिंसा का पहला प्रसव है—वैर-विरोध, दूसरा भय और तीसरा दुःख।

आरम्भ का पहला प्रसव है—संग्रह, दूसरा वैषम्य और तीसरा दुःख।

किन्हीं को अतिभाव सता रहा है और किन्हीं को अभाव। अतिभाव के पीछे संरक्षण का रौद्र भाव है और अभाव के पीछे प्राप्ति की आर्त वेदना।

सुख का हेतु अभाव भी नहीं है, अतिभाव भी नहीं है, सुख का हेतु

स्वभाव है। मनुष्य अपने स्वभाव से जितना दूर रहता है उतना ही अति-भाव—पदार्थ का अधिक संग्रह करने लगता है। पदार्थ से दूर हटने का मतलब है स्वभाव की ओर गति। स्वयंकृत अभाव में स्वभाव का दर्शन निकट से होता है। अभाव विवशता से होता है। वह दुःख देता है। पदार्थ का अभाव हो—यह कोई कैसे चाहेगा? अतिभाव की चाह होती है पर वह करनी नहीं चाहिए। यथाभाव की क्षमता समाज-व्यवस्था में है। जो नहीं होना चाहिए उसके निवारण की क्षमता त्याग या व्रत में है। अणुव्रत का सन्देश यही है—जो नहीं होना चाहिए उससे दूर रहो। यह व्यवस्थाओं की स्वयं स्फूर्त व्यवस्था है। सुख का हेतु अहिंसा या मैत्री है। उसका आधार अनपहरण है। जो व्यक्ति दूसरों के हक का कभी हरण नहीं करता वह सभी का मित्र है। सुख की दृष्टि बाहरी पदार्थों से बंधी हुई है। यह भूल है। इससे मानसिक असमाधि बढ़ती है। भगवान महावीर ने कहा—महा आरम्भ नरक का हेतु है। नरक कोई माने या न माने, वह आगे की बात है। किन्तु इससे दुर्गति होती है, इसमें कोई सन्देह नहीं। महा आरम्भ का उद्देश्य महापरिग्रह है। महापरिग्रह का उद्देश्य है—महाभोग या महाविलास। क्रम यों हुआ—महाविलास के लिए महा परिग्रह और महापरिग्रह के लिए महाआरम्भ। जिसका मूल दुर्गति है, उसके उस पत्र-पुष्प में सुरभि कहाँ से होगी? महा आरम्भ को आज की भाषा में बड़ा उद्योग या बड़ा व्यापार कहा जा सकता है।

राष्ट्रीय दृष्टि से बड़े-बड़े उद्योगों और व्यापारियों को महत्त्व मिलता होगा। प्रोत्साहन भी मिलता होगा मुझे पता नहीं। मैं चरित्र-शुद्धि की दृष्टि से कहता हूँ। सुख और शान्ति की दृष्टि से महाआरम्भ और महापरिग्रह आदरणीय नहीं है—यह ऋषिवाणी है। निष्ठापूर्वक आरम्भ और परिग्रह के अल्पीकरण से सुख-शान्ति का विकास होता है। यह अनुभवगम्य भी है।

जिस मार्ग में जो स्वयं स्पष्ट होता है वही उसकी प्रेरणा देने का अधिकारी है। दिये से दिया जलता है। दृष्टि से दृष्टि मिलती है। भारतवर्ष में दृष्टि के सम्यक्करण का बहुत बड़ा महत्त्व रहा है। यह आत्मदर्शी ऋषियों की पुरानी परम्परा है। आरम्भ, परिग्रह और भोग से दूर रहकर उन्होंने जो सत्य पाया, समाधान पाया, सुख और शान्ति का अनुभव पाया, वही उन्होंने शब्दों में गूँथा। उसका सार है—**"तप और संयमी जीवन ही उत्तम जीवन है।"**

भोग-प्रधान जीवन में पदार्थों से समृद्ध जीवन ही उच्च जीवन है। त्याग-प्रधान परम्परा इस मानदण्ड को स्वीकार नहीं करती। सादगी और

सरलता निर्धनता की पराकाष्ठा नहीं है, किन्तु त्याग की महिमा है। धन से मन को समाधान नहीं मिलता। मानसिक समाधि के बिना शान्ति नहीं। हमारा सूत्र शान्ति है—द्वन्द्व का उपरस। भोग प्रधान में द्वन्द्व ही परम पुरुषार्थ है।

जी चाहता है मन की सारी अनुभूति सब के गले उतार दूं। कुछ बनता भी है, नहीं भी बनता है। नहीं से अच्छा ही है कि कुछ बनता है। नव-निर्माण सरल नहीं होता। जीवन के मूल्य बदलने हैं, मूल्यांकन की दृष्टियाँ बदलनी हैं। वे नहीं बदल रही हैं। जो नहीं बदलनेवाली हैं वे बदल रही हैं। अनुशासन की कमी, विनय की परम्परा का उन्मूलन, त्याग के प्रति अश्रद्धा, स्वार्थ की प्रचुरता ये नहीं बढ़ने चाहियें। वे बढ़ रहे हैं। उद्दण्डता बढ़ रही है, पुलिस की गोली चलने का क्रम बढ़ रहा है, शासन का नियन्त्रण बढ़ रहा है। स्व-नियमन कम हो रहा है। यही क्रम चला तो एक दिन सभी स्वयं को खतरे में पाएंगे।

स्व-नियमन की कमी दीखती है तब सभी को दुःख होता है। शासक भी पछताते हैं और अन्य भी। किन्तु सिर्फ पछताने से क्या होगा? स्व-नियमन की परम्परा को छोड़ कर दूर भागने का क्रम तोड़ना होगा। राजनीतिक चेतना के बहाव में सारी बातें गौण हो रही हैं। यह सबसे बड़ा संकट है।

राजनीतिक प्रभुत्व अतिमात्र बढ़ गया है। जीवन का प्रत्येक क्षेत्र उससे आक्रान्त है। स्व-नियमन पर यह आघात है। पूंजी, सत्ता और आधार के केन्द्रीकरण से सन्तुलन मिट जाता है।

अणुव्रत का आदर्श यही है कि व्यक्ति-व्यक्ति स्व-नियमन के द्वारा पूंजी, सत्ता और अधिकार का संग्रह छोड़ें, अपने को भार मुक्त बना दूसरों को परितुष्ट करने का मार्ग दिखाए। अनुकरण की दुनिया में अगली पंक्तिवालों को सम्हलने की अधिक आवश्यकता है।

सरदारशहर
(सप्तम अधिवेशन अणुव्रत)
१२ नवम्बर '५६

६३ : आत्मानुशासन

मानव मात्र का स्वभाव है कि वह अन्धकार की परिधि से बाहर निकल कर प्रकाश की ओर बढ़ने का अभिलाषी होता है। व्रत-ग्रहण में भी

यही तथ्य निहित है। मानव समाज में व्याप्त विषमता, अनैतिकता एवं बेईमानी जब व्यक्ति को दृष्टिगोचर होती हो तो उसके अन्तर में एक प्रश्न उठता है, एक चीख निकलती है—"यह क्या हो रहा है?" वैमनस्य, शोषण एवं अनाचार को दूर करने, प्रकाश की झलक देखने तथा सन्मार्ग अपनाने के लिए व्यथित मानव की आत्मा उद्वेलित हो उठती है और वह त्याग की भावना से प्रेरित होकर व्रतों की ओर आकर्षित होता है।

मनुष्य सर्वप्रथम व्रतों को सुनता है, उनकी महानता व महत्त्व को अपने ज्ञान रूपी तराजू पर तौलता है, उसका विवेक जागृत होता है और फिर वह अपने जीवन को सुधारने के लिए व्रत-ग्रहण करता है।

व्रतों में जो सबसे बड़ी बात होती है वह है "आत्मानुशासन"। यह मानी हुई बात है कि सद्कार्य की सफलता में अनेक विघ्न और बाधाएं उपस्थित होती हैं, व्रती को अपनी संकल्प-साधना से हटाने के लिए मोह रूपी चाण्डाल निरन्तर प्रयास करता रहता है। किन्तु वही विचलित होना नहीं जानता जिसने कि अपनी आत्मा पर अनुशासन स्थापित कर लिया है। कहने का तात्पर्य यह है कि व्रत-साधना से डिगायमान न होने के लिए मोहरूपी चाण्डाल पर विजय पाना आवश्यक है। व्रती को चाहिए कि वह अपनी आत्मा पर अंकुश रखे और किसी भी परिस्थिति में अपने व्रत से विचलित न हो। आत्मानुशासन के बिना कोई भी कार्य सफल नहीं हो सकता।

हृदय-परिवर्तन के द्वारा ही व्रतों की ओर मनुष्य का आकर्षण होता है, अतः प्रेरणा प्राप्त होने पर व्यक्ति को चाहिए कि वह केवल व्रतों के शब्दों को नहीं पकड़े, बल्कि उसकी व्यापक भूमिका को पकड़े। व्रत-ग्रहण से अपने में जिस महान् शक्ति का बीजारोपण हो चुका है उसे वह फलती-फूलती अनुभव करे, और अपने साथियों को इसका अनुभव कराए, किन्तु एक बात का ध्यान अवश्य रखा जाए कि व्रतों के पालने में किसी प्रकार का दबाव या एहसान नहीं होना चाहिए। जैन-धर्म में हृदय-परिवर्तन ही सच्चा धर्म बतलाया है, व्रत-पालन में स्व-नियमन व हृदय-परिवर्तन जितना सहायक होगा उतना दूसरा नहीं।

जो अणुव्रती बने हैं उन्हें पर-निर्भरता से बचना चाहिए। पर-निर्भरता से व्रत डिगते रहते हैं, अतः स्व-निर्भरता की आवश्यकता है।

हमें व्रतियों की संख्या पर ध्यान न देकर जो अणुव्रती हैं उनके आदर्शों को देखना चाहिए। हमें तो सच्चे मानवों की आवश्यकता है, दानवों की नहीं।

आप अणुव्रतों को आगे रख कर आगे बढ़ते जाइए। आप को कोई

डर, भय नहीं है। अशान्त संसार में आपको कितनी शान्ति और आनन्द का अनुभव होता है, यह तभी ज्ञात होगा। आपका लक्ष्य यही रहे कि **"संयम ही जीवन है"** जीवन में एक नई स्फूर्ति, नई चेतना का संचार होगा। इसी में व्यक्ति, समाज और संसार का कल्याण है।

सरदारशहर

६४ : व्रत और अनुशासन

व्रती-समाज की कल्पना जितनी दुरूह है उतनी ही सुखद भी है। व्रती केवल व्रत ही नहीं लेता, पहले वह विवेक को जगाता है, श्रद्धा और संकल्प को दृढ़ करता है, कठिनाइयाँ झेलने की क्षमता पैदा करता है, प्रवाह के प्रतिकूल चलने का साहस लाता है, फिर वह व्रत लेता है।

सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो बाहर का अनुशासन विजातीय अनुशासन है। व्रती आत्मानुशासन की परिधि में आ जाता है। आज अनुशासन की शृंखला छिन्न-भिन्न हो रही है। स्वतन्त्रता का सही मूल्य नहीं आँका गया। नियमानुवर्तिता और मर्यादा के बिना स्वतन्त्रता नहीं आती। अणुव्रत-आन्दोलन स्वतन्त्रता की यथार्थ अनुभूति के लिये आत्मानुशासन का वातावरण पैदा करना चाहता है। विधिवत् कोई अणुव्रती बने या न बने यह उसकी अपनी इच्छा है किन्तु आत्मानुशासन को विकसित किये बिना कोई न रहे, यह इसकी पृष्ठभूमि है, जो मैत्रीपूर्वक समझाने-बुझाने से हृदय-परिवर्तन के द्वारा ही प्रशस्त हो सकती है।

दबाव डालने की प्रक्रिया हमारे पास नहीं है। वह भय का रास्ता है। अभय के बिना स्वतन्त्र भावना विकसित नहीं होती। अणुव्रती जो बने हैं, उन्हें पर-निर्भरता की ओर मुंह किये नहीं चलना चाहिए। वह व्रतों को तोड़ने का मार्ग है। विलास, भोग, बड़प्पन और ऐश व आराम व्रतों के शत्रु है। व्रतों का पालन शाब्दिक वृत्ति से नहीं होना चाहिए। उनकी आत्मा का विकास होना चाहिए।

हमारा विश्वास संख्या में नहीं मात्रा में है। तेज मात्रा से निखरता है, संख्या से नहीं।

आत्मानुशासन का आलोक जनसाधारण तक पहुँचना चाहिए : अणुव्रतियों का एक विशेष दायित्व है कि वे केवल प्रचार द्वारा ही नहीं, किन्तु अपने संयत आचरण द्वारा, अनुभूतियों द्वारा, अपने आसपास के वातावरण को आत्मानुशासन के लिये उत्कंठित बनाएँ।

अनैतिकता से अभिभूत लोग शान्त नहीं हैं। वे उससे दूर होना भी चाहते हैं, पर बहुतों को मार्ग नहीं मिलता। कुछ लोग आग्रही भी हो सकते हैं। शान्तिपूर्वक समझाया जाए तो वे भी बदल सकते हैं। हमें मनुष्य की योग्यता में पूरा विश्वास है।

वातावरण स्व-नियमन से प्रभावित हो जाए तो बढ़ती हुई उच्छृङ्खलता की रीढ़ टूट सकती है। मैं प्रसन्न हूँ कि लोग व्रतों का अधिकाधिक मूल्य आँकने लगे हैं। घोर असंयम के युग में संयम की रेखा चमकती रहे, वह भी कम बात नहीं है। वह और अधिक स्पष्ट बने यह तो और भी खुशी की बात है। मैं आशावान् हूँ। आप सब लोग आशाशील बनें और चरित्र-उन्नयन का कार्य आगे बढ़ाएँ।

सरदारशहर

९५ : संगठन और आचारके सूत्रधार आचार्य भिक्षु

तेरापंथ शासन के पूर्वज बहुत दूरदर्शी थे। उन्होंने अन्दर से साधुओं को आत्म-स्वतन्त्रता दी और ऊपर से उन्हें मर्यादाओं में बांधा। बांधने का मतलब थोपना नहीं, किन्तु संघीय अनुशासन का सहर्ष स्वीकार करना है। संघीय अनुशासन जहाँ शिथिल पड़ता है वहाँ पतन की सम्भावनाएं हो जाती हैं। अतः साधु जीवन के दो मुख्य आधार बने—आत्म-विकास या आत्म-स्वातन्त्र्य की भावना और संघीय अनुशासन। संगठन और संघीय अनुशासन के लिए उस समय की वर्तमान स्थितियों को देखते हुए आचार्य भिक्षु को सम्भवतः उतनी मर्यादाओं की आवश्यकता नहीं पड़ती, किन्तु सर्वाङ्ग सुन्दर भविष्य के लिए उन्होंने अन्य मर्यादाओं का भी निर्माण किया। अतीत से अनुभव लिया, वर्तमान को देखा और भविष्य की सुन्दरता के लिए वे मर्यादावलियाँ बनाते चले। निर्मीयमाण भविष्य को सुन्दरतम बनाने के प्रयास में उन्होंने कोई कोर कसर नही उठा रखी होगी। भविष्य के लिये उन्होंने सुदढ़ नींव तैयार की जिस नींव की उपयोगिता आज बढ़ चली है। शासन के लिए अनेक कसौटी के अवसर आए हैं किन्तु उस सुदृढ़ नींव ने शासन को अक्षुण्ण और अविचल रखा है। लोग संगठन-संगठन चिल्लाते हैं, उसके लिए प्रयास करते हैं पर आज हजारों दिमाग लग कर भी संगठन के लिए वैसा विधान नहीं बना पाते जैसा उस एक दिमाग ने बना डाला। कारण एक ही है—संगठन चाहने वाले अनुशासन नहीं चाहते और अनुशासन के अभाव में संगठन टिकता नहीं है। जो आधार संगठन का है वह मजबूत होना चाहिए।

बालू की नींव पर कोई महल खड़ा करे तो महल को निश्चित खतरा पहुँचेगा। अतः आचार्य भिक्षु ने संगठन के लिए अनुशासन पर बहुत बड़ा बल दिया है और उनकी लेखनी ने अनुशासन-हीनता पर जबरदस्त प्रहार की है।

श्री जयाचार्य : एक महान् भाष्यकार

स्वामी जी और श्री जयाचार्य का आपस में अनन्य सम्बन्ध है। यदि स्वामी जी सूत्रकार थे तो श्री जयाचार्य उनके सूत्रों के भाष्यकार थे। स्वामी जी काव्यकार थे तो जयाचार्य उनके काव्यों के टीकाकार। अगर हम स्वामी जी के विचारों के मूल को समझना चाहें तो हमें श्री जयाचार्य कृत भाष्यों और टीकाओं पर भी दृष्टि डालनी होगी। श्री जयाचार्य एक अविकारी विद्वान् और टीकाकार थे। स्वामीजीने जनता के समक्ष जो गूढ़ सूत्र वाक्य प्रस्तुत किये, श्री जयाचार्य ने स्पष्टीकरण कर उनका अर्थ सुगम बना दिया। स्वामी जी ने जाने कितनी चौपाइयों (ग्रन्थों) का निर्माण किया, श्री जयाचार्य ने उन चौपाइयों के गूढ़ भावों को खोज-खोज कर उन्हें सिद्धान्तसार के रूप में हमारे सामने रखा। यह खेद की बात है कि आजकल उनके अध्ययन का क्रम कुछ कम पड़ गया है किन्तु उस विशाल साहित्य में जो अगाध ज्ञान-राशि छिपी पड़ी है उसका अन्वेषण किया जाय तो बहुत से गूढ़ तत्त्व सामने आ सकते हैं। हमें उस ओर प्रयास करने की आवश्यकता है। इतिहास की और साहित्य की जब तक नवीन रूप में पुनरावृत्ति नहीं होती तब तक वह जन-रुचिकर और भावी पीढ़ी के लिये उपयोगी नहीं बनता। श्री तुलसीकृत रामायण को आजकल के लोग कम पसन्द करेंगे पर अगर उसका अनुवाद उनके सामने रखा जाता है तो वे उसे पसन्द करते हैं। कारण यही कि मूल न बदलने पर भी उसका रूप बदलता है और वह रूप जन-रुचिकर बनता है। हमारा भी कर्त्तव्य है कि हम स्वामी जी के विचारों को उनकी ज्ञान-रश्मियों को आधुनिक रूप में जनता में प्रसारित करें। मुझे यह कहते खुशी है कि स्वामी जी के गहन-विचार जहाँ भी गए हैं और जिन्होंने उन्हें समझने की कोशिश की है, उन्होंने स्वामी जी के विचारों की कद्र की है और उनकी मौलिकता को सहर्ष स्वीकार किया है। अभी हम धूलिया (महाराष्ट्र) में श्री शिवाजी भावेसे मिले। हमने स्वामी जी के विचारों को सूत्र रूप में उनके सामने रखा जिन्हें सुनकर उन्होंने कहा कि मैं स्वयं उनकी सूक्ष्म अन्वेषण-बुद्धि पर मुग्ध हूँ जिन्होंने इतने गहन-विचारों को भी कितने सरल और सूत्र रूप में जनता के सामने रखा है। इसी तरह बम्बई म्युनिसिपल कॉरपोरेशन की स्टैंडिंग कमेटी की अध्यक्षा श्रीमती सुलोचना मोदी

ने स्वामी जी के विचारों को सुनकर कहा था कि उनके इन मौलिक विचारों का बम्बई की जनता में प्रसार होना चाहिये। स्वामी जी की प्रतिभा और सूक्ष्म विचारशक्ति ने जो विचार हमारे सामने रखे उनके अध्ययन और मनन की आवश्यकता है। यह हुआ तो हम बहुत कुछ ज्ञान-राशियाँ उनसे और पा सकेंगे।

दो महत्त्वपूर्ण देन

उन्होंने अपने जीवन-काल में दो महत्त्वपूर्ण कार्य किये—आचार की विशुद्धि और संघ-संगठन। संघ संगठन और आचार की उज्ज्वलता के वे एक जाने-माने कार्यवाहक थे। उनकी संगठन की एकसूत्रता को देख कर आज भी जन-जन उनका आभारी हुए बिना नहीं रहेगा। आचार शिथिलता को समेटने के लिए उन्होंने तीखे और कड़े शब्दों का प्रयोग किया और साधु के वेष में शिथिलाचारी होनेवालों को बहुत फटकारा। लोगों ने उन्हें बुरा-भला भी कहा, गालियाँ भी दीं पर उनकी अडिगता ने उनका पथ प्रशस्त कर दिया। संघ के सुव्यवस्थित संगठन के लिए उन्होंने सारे संघ में एक आचार्य, एक समाचारी एक प्ररूपणा का विधान किया। संघ का सारा उत्तरदायित्व एक आचार्य को सौंपा। शिष्य-प्रथा और शिष्यों के मोह को जड़-मूल से उखाड़ फेंका। साधुओं की स्वेच्छाचारिता की जगह गुरु के आदेश को ही उन्होंने प्रमुखता दी। वास्तव में ही आत्म-स्वतन्त्रता से अधिक जहाँ स्वतन्त्रता आती है वहाँ संगठन की दीवारें खोखली होने लगती हैं। मूल चीज आचार-दृढ़ता है। आचार मजबूत है तो संगठन भी मजबूत बनता चला जायेगा। संगठन के लिये आवश्यक जान वर्तमान में उन्होंने सातों पदों (आचार्य, गणी, गणावच्छेदक, उपाध्याय, स्थविर, प्रवर्तक और प्रवर्तनी) का कार्य भार आचार्य में ही केन्द्रित कर दिया। लोग आलोचना करने लगे—भीखण जी ने सातों पदों को उठा कर यह अकल्प्य कार्य कैसे किया? स्वामीजी सहर्ष कहते—संगठन की मजबूती और पदलोलुपता को खत्म करने के लिए सातों पदों का कार्य मैंने एक आचार्य को ही सम्हला दिया है। आचार्य ही सारे पदों का कार्य कर लेता है। पद तो कहीं भी नहीं गए; आचार्य उनका केन्द्र हो गया। दूसरे मंत्रियों के अभाव में एक मंत्री सारा कार्य चलाता ही है। आज स्वामी जी की उन सूत्रों और मर्यादाओं को देख कर जन-जन को महसूस होता है कि वे एक महान् क्रान्तिकारी प्रवर्तक थे। उन्होंने मर्यादाएं बना-बनाकर शासन को एकाकार बना डाला और उन मर्यादाओं से सजा हुआ यह तेरापंथ साधु

समुदाय आचार दृढ़ता और संघीय संगठन तथा अनुशासन का एक जीता जागता निदर्शन है।

बीदासर

९६ : विश्व-मैत्री का मार्ग

चेतना के जगत् में हिंसा और अहिंसा का झमेला नहीं है। वहाँ अन्तर और बाहर का द्वन्द्व नहीं है। स्वभाव ही सब कुछ है। वहाँ पहुँचने पर बाहर का आकर्षण मिट जाता है।

पौद्गलिक जगत् में चेतन और अचेतन का द्वन्द्व है, इसलिए वहाँ हिंसा भी है और अहिंसा भी। बाहरी आकर्षण हिंसा को लाता है। उसकी मात्रा बढ़ती है तब उसका निषेध होता है, वह अहिंसा है।

अहिंसा का अर्थ है बाहरी आकर्षण से मुक्ति। बाहरी पदार्थों के प्रति खिंचाव होता है, इसीलिए मनुष्य संग्रह करता है। संग्रह के लिए शोषण और युद्ध करता है।

अहिंसा या अध्यात्म को अव्यवहारिक मानने वाले वे ही लोग हैं, जो बाहर से अधिक घुले मिले हैं। उनकी दृष्टि में जीवन के स्थूल पहलू ही अधिक मूल्यवान होते हैं।

बाहरी आकर्षण हिंसा है। बाहर से आशक्ति, परिग्रह और उसके समर्थन का आग्रह एकान्तवाद। कठिनाइयों के मूल ये तीन हैं और सारे दोष इन्हीं के पत्र-पुष्प हैं।

आज का विश्व विपदाओं की कगार पर खड़ा है। उसे अशान्ति से उबारने में "अनेकान्त-दृष्टि" माध्यम बन सकती है। बाहरी पदार्थों के बिना जीवन नहीं चल सकता। गृहस्थ जीवन में उनकी पूर्ण उपेक्षा नहीं की जा सकती, पूरा निषेध नहीं किया जा सकता, यह एक तथ्य है। किन्तु उनके प्रति जो अत्यधिक झुकाव है, वही सारी दुविधाएँ पैदा करता है।

अहिंसा आकर्षण की दूरी से नापी जाती है। वह केवल भोग्य वस्तुओं से नहीं नापी जा सकती। मूर्च्छा या ममत्व स्वयं परिग्रह है, वस्तु का संग्रह हो या न हो। ममत्व से जुड़ी हुई वस्तुएँ ही परिग्रह हैं।

भगवान् महावीर ने कहा—**"हिंसा और परिग्रह ये दोनों सत्य की उपलब्धि में बाधाएँ हैं। इन्हें नहीं त्यागनेवाला धार्मिक नहीं बन सकता। दुःख के बाहरी उपचार से दुःख के मूल का विनाश नहीं होता।"** भगवान् ने कहा—**"वीर! तुम दुःख के अग्र और मूल दोनों को उखाड़ फेंको।"**

असुख और अशान्ति ये दोनों महाभय के कारण हैं। इनका प्रवाह कर्म में है। कर्म का प्रवाह मोह में है। प्रिय और अप्रिय पदार्थों में मूढ़ बनने वाला शान्ति नहीं पा सकता और सुख भी नहीं। सुख इन्द्रिय और मन की अनुभूति है। वह प्रियता की कोटि का तत्त्व है। शान्ति आत्मा की समवृत्ति है। सुख-दुःख, लाभ-अलाभ, जीवन-मृत्यु, उत्कर्ष-अपकर्ष आदि उतरती-चढ़ती सभी अवस्थाओं में वृत्तियों की जो समता है वह शान्ति है।

अप्रिय और प्रतिकूल संयोगों में भी विचार तरंगों की अप्रकम्पता जो है वह शान्ति है। आत्म-निर्भरता और स्वावलम्बन जो है वह शान्ति है। श्रमण संस्कृति का अर्थ है, शान्ति की संस्कृति। वह सम, शम और श्रम-स्वावलम्बन या वैयक्तिकता के आधार पर टिकी हुई है। भगवान् ने कहा—
"श्रामण्य का सार उपशम है। उपशम जो है वही श्रामण्य है।"

सम्यक्-दृष्टि, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य की आराधना जो है वही जैन धर्म है। अनेकान्त, अनाग्रह और अध्यात्म का विचार जो है वही जैन-दर्शन है। अहिंसा, अपरिग्रह और अभय की साधना जो है, वही जैन दर्शन का मुक्ति-मार्ग है।

विश्व मैत्री का मार्ग यही है। वैयक्तिक दुर्बलताओं को जीते बिना विजय नहीं। विजय के बिना शान्ति और अखण्ड आनन्द की उपलब्धि नहीं—जैन धर्म का यही धर्म है। कहा भी है—

"स्याद्वादो विद्यते यस्मिन् पक्षपातो न विद्यते। नास्त्यन्य पीडनं किञ्चित्,
जैनधर्मं स उच्यते॥
आश्रवो भव-हेतुः स्यात्, संवरो मोक्ष कारणम्। इतीय माहंती दृष्टिः,
सर्व मन्यत् प्रपञ्चनम्"॥

दिल्ली
(सप्रू हाऊस)
३० नवम्बर '५६

९७ : एक दिशासूचक यंत्र

जो प्रमादी है, उसे सब तरह से भय होता है, उसके चारों तरफ आफत के बादल मँडराते रहते हैं। जो अप्रमत्त है, अप्रमादी है, उसे भय नहीं होता। चाहे उसके सामने भयंकर से भयंकर शक्ति भी क्यों न हो, वह हर समय उसका सामना करने के लिए तत्पर रहता है।

आज आपलोगों को और खास तौर से पूंजीपतियों को बहुत डर है। वे सोचते हैं कि आनेवाले युग में हमारे धन, ऐश्वर्य और प्रभाव कैसे रह सकेंगे? उन्हें

धन कमाने की उतनी चिन्ता नहीं जितनी कि उसकी रक्षा की है। इसी भय के कारण से चुनाव लड़ते हैं या अपनी ओर से चुनाव लड़वाते हैं जिससे कि सरकार उनके हाथों में आ जाये और ये धन-दौलत तथा बड़ी-बड़ी अट्टालिकाएँ ज्यों-की-त्यों सुरक्षित रह जाएं। पर आखिर आप को भी समाज के अन्दर रहना है। समाज के बिना किसी का काम नहीं चलता। आप को व्यक्तिगत चिन्ता न कर सामूहिक चिन्ता करनी चाहिए। मैं आपसे पुरजोर शब्दों में कहूँगा कि क्यों आप गरीबों का खून चूसते हैं, क्यों मानवता को कलंकित करते हैं? आखिर आपको खाने के लिए रोटी, पहनने के लिए कपड़ा और रहने के लिए मकान चाहिए, न? ये तो पशु-पक्षियों को भी मिलते हैं। अब वह जमाना चला गया जबकि आपके गोदाम अन्न से भरे रहते और गरीब भूखों मरते थे, आपकी तिजोरियां धन से भरी रहतीं और गरीब पैसे-पैसे के लिए तड़पते थे।

जिस प्रकार समुद्र और आकाश में चलने वाले जहाज के लिए दिशासूचक यंत्र की आवश्यकता रहती है, उसके होने पर कितनी भी भयंकर आंधियां और तूफान क्यों न आये, जहाज गुमराह नहीं हो सकता, उसी प्रकार इस बेढंगी दुनिया में—जहाँ चारों ओर बेईमानी और बेइन्सानियत के बादल मँडरा रहे हैं—एक नैतिक दिशासूचक यंत्र की आवश्यकता रहती है, वही दिशासूचक यंत्र अणुव्रत-आन्दोलन है।

नेहरू जी की विदेश-नीति पर आज सारा विश्व एक नजर से देख रहा है और कंधे से कंधा मिला कर चलना चाहता है। पर यहाँ उन्हीं के देशवासी आपसी झगड़े और साम्प्रदायिकता को उभारने में लगे रहें, यह कितनी बुरी बात है। यही बात आज अणुव्रत-आन्दोलन की हो रही है। जहाँ अणुव्रत-आन्दोलन को समझने और फैलाने के लिए जैनेतर लोगों और विदेशी लोगों ने इतना प्रयास किया, वहाँ जैनों ने इसे समझा तक नहीं!

अन्त में मैं आपलोगों से कहूँगा कि अणुव्रत-आन्दोलन आपसे और कुछ नहीं चाहता। वह तो केवल आपकी दृष्टि में परिवर्तन लाना चाहता है, जीवन की दिशा में एक नया मोड़ देखना चाहता है। जैन-दृष्टि के अनुसार कहूँ तो वह मिथ्यादृष्टि से सम्यक् दृष्टि बनाना चाहता है। अगर आपकी दृष्टि में परिवर्तन हुआ तो बुरे कार्यों से मन में ग्लानि होगी और ग्लानि से वह कार्य भी छूट जायेगा। अणुव्रत-आन्दोलन यही करना चाहता है।

मैं आपसे कहूँगा कि आप इसके विश्वजनीन विचारों, उद्देश्यों और नियमों आदि को देखें, सोचें और उनपर मनन करें और उससे प्रेरणा पा अपने जीवन को ज्यादा से ज्यादा सादा और सरल बनाएँ।

सरदारशहर

९८ : आत्म-शक्ति को जगाइए

अणुव्रती कितने होते हैं ? उनकी संख्या कितनी बढ़ी जा रही है ? ये समाचार मेरी खुशी के कारण नहीं हैं। मैं खुश इस बात से हूँ कि जनता में संयम का एक वातावरण बन रहा है। उनकी संख्या को भी मैं प्रदर्शन की दृष्टि से नही सुनता हूँ। पर मैं समझता हूँ कि इससे दूसरे लोगों के उत्साह में भी वृद्धि होती है। पिछले वर्ष जो अणुव्रती बने, अगर उनमें कोई कमजोरी आ गई है तो वे अपने आप में फिर से नया उल्लास भर सकें, जो कमजोर हैं वे अपनी कमजोरी को मिटा सकें और जो अभी तक अनुत्साहशील हैं उनमें नया स्पन्दन हो, नया उत्साह आये, यही अधिवेशन और अणुव्रतियों के नाम और जगह-जगह के उत्साहशील समाचार सुनाने का उद्देश्य रहता है।

इस अवसर पर मैं आप लोगों से यह भी कहना चाहूँगा कि यदि आपको अपनी आत्मा की उन्नति करनी है, अपने जीवन को ऊँचा उठाना है, तो आपको दर-दर भटकने की आवश्यकता नही है। आप की उन्नति करनेवाला कोई नहीं है। उन्नति आपके अन्तःकरण में सोई पड़ी है उसे जगाइए। उन्नति बाहर से आनेवाली नहीं है। हाँ, यह अवश्य है कि आपको प्रेरणा बाहर से अवश्य मिल सकती है। आप महाव्रतियों से प्रेरणा लीजिए, अणुव्रतियों से प्रेरणा लीजिये, अणुव्रत-सहयोगियों से प्रेरणा लीजिये और अपनी सोई हुई आत्म-शक्ति को जगाइए। आपकी उन्नति अपने आप हो जायेगी।

एक जमाना था जब सारे संसार में भारत की प्रतिष्ठा थी। अब वह प्रतिष्ठा उतनी नहीं रही है। इसे देखकर किसके हृदय में टीस नहीं उठती। महावीर और बुद्ध के देश में, जहाँ पुण्य चरित्र की लौ एक-सी प्रज्वलित थी, उन्हीं के देशवासी आज चरित्र के लिए दूसरे देश के लोगों से माँग करें, क्या सचमुच यह दुःख की बात नहीं है ? इसीसे मेरे दिल में दर्द हुआ और उसी के फलस्वरूप मैंने इस आन्दोलन की शुरुआत की। केवल आन्दोलन खड़ा कर देने मात्र से क्या काम बन जाता है ? काम तो तब ही बनेगा जब देशवासी कुछ काम करेंगे। अपने चरित्र को सुधारने की ओर आगे बढ़ेंगे।

भला चोरी करने के लिए आन्दोलन की क्या आवश्यकता है ? चोरी नहीं करने में मनुष्य को क्या कष्ट सहना पड़ता है ? कष्ट तो तब सहना पड़ता है जब मनुष्य चोरी करे। चोरी करनेवाले को चोरी करने के पहले और पीछे

अपने बचाव के लिए अनेक कल्पनाएँ करनी पड़ती हैं, उनसे दुःख होता है। पर जो चोरी नहीं करता उसकी नींद में कौन बाधक बन सकता है। वह व्यापारी जो चोरबाजारी नहीं करता, वह स्वप्न में भी इन्क्वायरी से बेचैन नहीं होगा। इन्क्वायरी की फिक्र तो उसको है जो ब्लैकमार्केट करता है। अतः मुझे आश्चर्य होता है कि लोग फिर भी अणुव्रतों को स्वीकार क्यों नहीं कर लेते ! अणुव्रत उनके संकटों का मोचन करनेवाला है, उनके जीवन में सुख भरनेवाला है। फिर भी लोग उससे डरते क्यों हैं।

६६ : शांति भोग में नहीं त्याग में है

बहुत से लोग मुझसे कहते हैं—महाराज ! अणुव्रती होने पर हमारा काम नहीं चलता। मुझे यह सुनकर आश्चर्य होता है। भला अणुव्रत ऐसी क्या बला है, जिससे उनका जीवन-कार्य सुचारु रूप से नहीं चल सकता। मैं सोचता हूँ—अणुव्रतों से उनका काम नहीं चलता हो, यह बात नहीं है। पर बात है कि इससे उनका ऐशो-आराम नहीं चल सकता। ऐश व आराम छोड़े बिना अणुव्रत पालन करना मुश्किल है। वे ऐश व आराम छोड़ना नहीं चाहते। इसीलिए वे कहते हैं कि इन अणुव्रतों से हमारा काम नहीं चल सकता। अगर अणुव्रतों से काम नहीं चलता तो उन अनेक लोगों का, जिन्होंने अन्यायपूर्ण तरीकों से अर्जन करना छोड़ दिया है, काम कैसे चलता होगा ? अतः मैं आपसे कहूँगा कि आप अपने जीवन का दृष्टिकोण बदलें अणुव्रत-आन्दोलन के द्वारा मैं आपके दृष्टिकोण को ही बदलना चाहता हूँ। आपलोगों का दृष्टिकोण मुझ से भिन्न है। आप भोगों में जीवन की सार्थकता मानते हैं, मैं त्याग की बात करता हूँ। इसका अर्थ यह नहीं कि आप मेरी दृष्टि को ही अपनायें, मैं जो कुछ कहता हूँ वही करें पर कम से कम आप सही दृष्टिकोण से तो देखें। सही दृष्टिकोण पर आकर हम और आप एक हो जाएँगे। आप सच मानिये, शान्ति भोग में नहीं त्याग में है।

मैं देखता हूँ, बहुत से पूंजीपति, जिनका काम अच्छी तरह से चल सकता है, फिर भी वे रात-दिन धन की फिराक में दौड़ते रहते हैं। उन्हें देखकर मुझे दिल्ली के बादशाह की बात याद आ जाती है। एकबार दिल्ली के एक बादशाह को धन-संग्रह की बड़ी लालसा पैदा हुई। उसने अपनी प्रजा पर अनेकों कर लगा दिये, और अनेक प्रकार से उन्हें उत्पीड़ित करने लगा। प्रजा ने वजीर के पास अपनी आवाज पहुँचाई। वजीर ने सोचा—बादशाह यों तो मेरी बात मानेगा नहीं। मुझे एक तरकीब निकालनी चाहिए। ऐसे सोचते सोचते उसने एक तरकीब निकाली। एक दिन वह राजा-सभा में देर से

आया। बादशाह ने तेजी से पूछा—"वजीर! आज इतनी देर से क्यों आए?" वजीर ने कहा—"जहाँपनाह! आज तो घर पर कुछ काम कर रहा था। इसीलिए देर हो गई।" बादशाह ने कहा—"ऐसा क्या काम हो गया था, जो राजसभा में इतनी देर से आना पड़ा?" वजीर ने कहा—गरीबनिवाज! आज मैं अपने घर में खजाना गड़वा रहा था। अतः इस काम में कुछ देर हो गई। बादशाह ने सोचा—अरे! इधर तो मैं खजाना बढ़ाना चाहता हूँ और उधर यह अपने घर में धन इकट्ठा कर रहा है। क्या ही अच्छा हो, इसका खजाना ज्यों का त्यों मैं ले आऊँ। इस विचार से उसने वजीर के खजाने को देखने की इच्छा प्रगट की। वजीर ने कहा—"बहुत अच्छा चलिए जहाँपनाह। आप से जो कुछ पाया है, उसे छिपाने की क्या आवश्यकता है।" बादशाह उसके घर गया। उधर पर उसने पहले ही सारी योजना बना रखी थी। पहले से ही गड्ढे खुदवा रखे थे। बादशाह ने उन गड्ढों में से निकाली हुई मिट्टी के ढेरों को देख कर कहा—अरे! यह मिट्टी का ढेर इतना कैसे हो गया? वजीर कहने लगा—जहाँपनाह! जितना ऊँचा यह ढेर लगा है दूसरी ओर उतना ही उंडा गड्ढा खोदना पड़ा है। जहाँ से मैं इतना धन लाया हूँ, उतना ही वहाँ गड्ढा हुआ है। और इधर से उसके इशारा करते ही मजदूरों ने धमाधम पत्थर गिराने शुरू कर दिये। थोड़ी देर में सारा गड्ढा पत्थरों से भर गया। बादशाह आश्चर्यचकित था। उसने वजीर से कहा—"तुम यह क्या करते हो? खजाना बताओ न?" वजीर ने कहा—"बादशाह साहब मेरा तो यही खजाना है।" बादशाह ने कहा—"पगले! यह क्या खजाना यह तो पत्थर हैं।" वजीर ने झट उत्तर दिया—"साहब! आपके खजाने में और क्या है? है तो आखिर वे भी पत्थर ही। पत्थरों से जिस प्रकार आपका गड्ढा भर गया, उसी प्रकार मेरा गड्ढा भर गया। जिसप्रकार हीरे-पन्ने आप के खाने के काम में नहीं आते, वैसे मेरे भी खाने के काम में नहीं आते। आपने जनम भर खजाना बढ़ाया पर क्या आगे का बढ़ाया हुआ खजाना आपको कुछ काम आया? अगर नहीं आया तो फिर आप अन्धाधुंध यह संग्रह क्यों करते हैं? क्या आप को खयाल नहीं है कि एक दिन आपको इस दुनिया से चला जाना है। बादशाह की आँखें खुल गईं। उसने उसी दिन से सब करों को ढीले कर दिये।

बादशाह की आँखें तो खुल गईं पर आपकी आँखें खुलीं या नहीं? और खुलेंगी भी तो क्यों? आपतो बादशाह के बादशाह जो ठहरे। आप तो यही सोचते हैं कि महाराज को तो यही कहने का है। और हमें सुनने का है। आप समझते होंगे कि महाराज की वाणी सुनने मात्र से हमारा

कल्याण हो जायेगा, भव-भव में हम बहरे नहीं भटकेंगे। पर मैं आपसे कहता हूं कि केवल सुनने मात्र से आप का कल्याण नहीं होने वाला है। मैं आपसे आज कहता हूँ कि आप मेरी बात मानिये—अपनी गति को बदलिए। नहीं तो फिर आनेवाला जमाना बनायेगा। फिर आपको मेरी बातें याद आएँगी।

वकील रामचन्द्र जी (गंगानगर) ने एक बड़ी अच्छी बात कही, उन्होंने कहा—हमारे समाज में ज्यादा उद्योग धन्धे नहीं हैं, इसीलिए हमारे समाज में कोई बड़े-बड़े पूंजीपति नहीं हैं, इसमें हमारे पूर्वजों का जो भी दृष्टिकोण रहा हो, चाहे हमारे समाज के लोगों ने इसे किसी भी रूप में समझा हो, पर आज इसका लाभ हमें प्रत्यक्ष दीख रहा है। वह यह कि हमारे पूर्वजों ने यह पहले ही समझ लिया कि आनेवाले जमाने में पूंजी की प्रतिष्ठा रहने वाली नहीं है। आनेवाले जमाने में तो श्रम की प्रतिष्ठा होगी। इसी लिए उन्होंने बड़े-बड़े उद्योग धन्धों को नहीं अपनाया। अब आप भी आगे वाले जमाने को देखें। आज समाज की स्थिति जैसी भी है, मुझे इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहना है। पर इस बात में एक तत्त्व आपको जरूर समझना होगा। आपके समाज में चाहे बड़े-बड़े पूंजीपति नहीं होंगे पर आपकी यह स्थिति अगर रुचिकर होगी तो आपको कोई कष्ट नहीं होगा। यदि बिना समझे आप गरीब हो जाएंगे तो आप को इसका दुःख हमेशा के लिए होता रहेगा। मैं गरीबी और अमीरी को इतना महत्त्व नहीं देता जितना कि समझ और विवेक को देता हूँ। अगर आप में समझ है तो गरीबी से आप बड़ा लाभ उठा सकते हैं। आप प्रत्यक्ष का उदाहरण लीजिए। हमारी बहुत-सी बहनें सोना बहुत पहनती हैं और स्थिति तो यहाँ तक है कि बहुत सी बहनें तो केवल सोना पहनने के कारण ही अणुव्रती नहीं बन सकतीं। वे कहती हैं कि हम और तो सारे नियम पाल लेंगी पर सोना पहने बिना तो हमसे रहा नहीं जाता। मैं उन बहनों से भी कहूँगा कि वे युग को देखें। परिग्रह सोना नहीं छोड़ सकतीं तो कम से कम उसका प्रदर्शन तो छोड़ ही दें। इससे आपका जाता कुछ भी नहीं है। उल्टा आप का जीवन परितुष्ट होगा। अगर आप इसे समझ-बूझ कर छोड़ देती हैं तो आपके मन में संयम का एक अपूर्व आनन्द का अनुभव होगा। दूसरे धन न रहने से छोड़ना पड़ेगा तो आप को अपने मन में हमेशा दुःख होता रहेगा। अतः आप समझ बूझकर विवेक पूर्वक अपनी स्थितियों से लाभ उठाइये और संयम की ओर अग्रसर होइए।

मूल में बात एक है कि आप को पूंजी का आकर्षण छोड़ना पड़ेगा। जो लोग पूंजी को बढ़ाने की बात करते हैं, वे तत्त्व-द्रष्टा नहीं हैं। पूंजी

का आनन्द क्षणिक है और त्याग का आनन्द स्थायी है। अणुव्रतों की भावना आपको यही तत्त्व बतलाती है कि जीवन के मूल्य को बदलो। जब तक मनुष्य को पूंजी से तोला जायेगा तब तक संयम का विकास नहीं होगा। इसी में अणुव्रत-आन्दोलन की सफलता है। यदि आपने अपने दृष्टिकोण को नहीं बदला तो इसका मतलब यह नहीं होगा कि अणुव्रत-आन्दोलन असफल हो जायेगा। वह तो अपने आप में सफल है ही। पर इतना अवश्य है कि आपका उसमें सहयोग नहीं रहेगा और इसमें बहुत बड़ी हानि आपको ही उठानी पड़ेगी। अतः मैं आप से कहना चाहता हूँ कि आप समय रहते चेत जाएँ और अपने जीवन को संयम की ओर गतिमान करें। यदि आपलोगों का व्यवहार-आचरण सुन्दर होगा तो दूसरे हमारे पास आनेवाले लोग भी हमारा सही अन्दाज लगाएँगे। हालांकि मैं दूसरा किसी को मानता ही नहीं, पर तो भी आप जो हमेशा हमारे पास रहते हैं, इस दृष्टि से मैं आपको अपना कहता हूँ। हमारे इर्द-गिर्द का वातावरण शुद्ध रहना चाहिये।

अतः आप अगर यह चाहते हैं कि हमारी और धर्म की उन्नति हो तो आपको अपने आपमें भी बहुत कुछ परिवर्तन करना पड़ेगा। यह देश की आध्यात्मिक सेवा है जो हम करते आ रहे हैं और करना चाहते हैं।

१०० : भारतीय संस्कृति का प्रतीक

हम बातें करते है कि पशु को मनुष्य बनाएँ पर आज तो मानव भी मानव नहीं रहा। न जाने उसकी मानवता कहाँ चली गई है। केवल मानव का चोगा पहनने मात्र से कोई मानव नहीं बनता। हमारा काम यही है कि हम मानव की खोई हुई मानवता वापिस लाएँ। वे क्या मानव बनाएँगे जो स्वयं चरित्र भ्रष्ट हैं, जिनके जीवन में संयम का नाम भी नहीं है और वे समाज-सुधार की रट लगाते रहते हैं। अणुव्रत-आन्दोलन तो चरित्र, संयम और त्याग पर टिका हुआ है। वह आज के मशीन युग में मानव को सही मानव बनाने की मशीन है। जो अणुव्रत के सही ढाँचे में ढल जाता है, वह तो सही मानव बन जाता है।

कई लोग कहते हैं कि अणुव्रत-आन्दोलन तो देश व समाज को शक्तिशाली बनाने का आन्दोलन है। पर हमारी कामना तो इससे भी आगे है। हमारा लक्ष्य समाज को शक्तिशाली बनाना नहीं, व्यक्ति-व्यक्ति की आत्मा को शक्तिशाली बनाने का है, समाज तो अपने आप शक्तिशाली बनेगा।

आजकल कुछ लोग कहते हैं कि आपलोगों को तो जंगली लोगों को उपदेश देना चाहिए। बात बिल्कुल ठीक है। पर मैं कहूँगा कि जंगलीपन जंगल में

रहने मात्र से नहीं होता। वह तो आज जंगलों से ज्यादा शहरों में पाया जाता है। हजारों मनुष्यों का बिना किसी अपराध के संहार कर देना क्या जंगलीपन नहीं है? अणुबम जिसप्रकार मनुष्यों का विध्वंस कर रहा है उसप्रकार ही अणुव्रत-आन्दोलन मानव का निर्माण कर रहा है।

आज सारा संसार युद्ध के नाम मात्र से भयत्रस्त है। युद्ध का नाम सुनते ही सारा संसार काँपता है। मिश्र पर ब्रिटेन और फ्रांस के युद्ध का नाम सुनते ही संसार में आतंक छा गया। चारों तरफ से शान्ति की आवाजें आने लगीं। लोग कहते हैं कि रूस की धमकी से विश्वयुद्ध दब गया। पर मैं तो ऐसा नहीं मानता। वहाँ हिंसा की ताकत कमजोर हो गई थी। हिंसा में एक बार उफान आया था, वह ठंडा पड़ गया। आखिर विजय अहिंसा की हुई।

अणुव्रत-आन्दोलन एक नैतिक आन्दोलन है। यह शुद्ध भारतीय संस्कृति का प्रतीक है। यह समाज सुधार की अपेक्षा व्यक्ति सुधार पर अधिक बल देता है। आप इसके विश्वजनीन उद्देश्यों को देखें और जीवन में उतारने का प्रयास करें। चरित्र के क्षेत्र में अपने आप को आगे बढ़ाएँ।

१०१ : भारतीय संस्कृति की आत्मा

"**सत्य लोक में सारभूत है, जीवन की सच्ची प्रतिष्ठा है।**" गांधीजी कहा करते थे—सत्य ईश्वर है। भगवान् महावीर की वाणी में भी हम देखेंगे "**सच्चं भयवं**" सत्य भगवान् है। जैसा कि कहा है—सहस्रमा ने एकमत सभी तत्त्व है। लोगों का अभिमत एक जैसा होता है। भगवान् महावीर और गांधीजी की वाणी में कितनी समानता आप पाते हैं! हम चाहते हैं, लोक-मानस में सत्य के प्रति अटल निष्ठा और लगन पैदा हो। अणुव्रत आन्दोलन इसी का प्रतीक है। वह नीतिमत्ता और प्रामाणिकता का उज्ज्वल वातावरण पैदा करना चाहता है। हमारे कार्यक्रम में हजारों रोड़े आएँ, हमें उनसे घबराना नहीं है। रोड़ों और बाधाओं से क्या कभी प्रगति रुक सकती है? मुझे स्मरण आता है—पंजाब में प्राकृतिक संकट पैदा हुए लोग बेहाल हो गए। दीनहीन वाणी में चारों ओर से यही चीख और पुकार आती थी कि हम तबाह हो गए क्या करें? पं० नेहरू ने उस वक्त अत्यन्त जोश और दृढ़ता के साथ कहा था—"**यह दुर्बलता है। यदि राष्ट्र में पुरुषार्थ और ताकत है तो उसे ईश्वरीय प्रकोप भी तबाह नहीं कर सकता, मिटा नहीं सकता।**" इतनी-सी चीजों से देश तबाह हो जाता है, खेद है, लोग कितनी कमजोरियों की बातें करते हैं? अस्तु। मेरा कहना है—रोड़े

आते हैं पर कार्यार्थी, मनस्वी उनसे कब डरते हैं ? वे तो सत्य का सम्बल लिए अपने मार्ग पर बढ़ते रहते हैं। यदि सत्य का आधार साथ है तो डर किस बात का ? क्योंकि जीवन का सही स्वरूप सत्य है। जीवन में उसका अभाव है तो वहाँ केवल अस्थि चर्ममय शरीर है, यथार्थतः जीवन नहीं।

आज घोर कलियुग है। लोक-जीवन असत्य से घुटता जा रहा है, ऐसे समय में ही तो सत्य की आवश्यकता है। उसपर अडिग रूप में डटे रहने की अपेक्षा है। मेरा विश्वास है, इस तत्त्व को समझते हुए लोग इसपर आरूढ़ रहेंगे।

फलत, असत्य से जर्जरित आज के युग में हम ऐसे सत्यनिष्ठ हरिश्चन्द्रों को खड़ा कर सकेंगे जो अपने जीवन की सत्यमयी ज्योति से एक अभिनव आलोक प्रस्फुटित कर देंगे।

अहिंसा, दया और दान भारतीय संस्कृति की आत्मा है, प्राण है। ये भारत के कण-कण में व्याप्त हैं। यदि इन्हें निकाल दिया जाए तो संस्कृति के कंकाल के सिवा क्या बचा रहेगा ? आज इस विषय के अनुशीलन और परिमार्जन की सच्ची अपेक्षा है। सच्चा दान और सच्ची दया वह है जो अहिंसा से ओतप्रोत हो और वे ही मोक्ष मार्ग के प्रतीक हैं। हिंसा-मिश्रित दया-दान भी चलते हैं और चलते आए हैं पर वे अध्यात्म दान तथा अध्यात्म दान की तरह मोक्षार्थ नहीं हो सकते। दया का आवास हृदय है। किसी को न मारूँ, न सताऊँ, ऐसी करुणा का निर्मल स्रोत ही दया का प्रतिरूप है। इसी तरह दान की सार्थकता है—संयम की पुष्टि में। इनका निषेध करने वाला धर्म, धर्म नहीं कहला सकता।

आप समाज में रहते हैं, समाज के साथ आपको चलना होता है। अनेकानेक समाजोपयोगी कार्य आप करते हैं। यह आप का सामाजिक कर्त्तव्य है, नागरिक उत्तरदायित्व है। उसे मोक्ष मार्ग से जोड़ देने से क्या प्रयोजन ? लोगों ने इस तत्त्व की उपेक्षा की। फलतः दाता-ग्रहीता के बीच ऊँच-नीच का भाव पनपा। सामाजिक जीवन में विशृङ्खलता आई। वर्गीय संघर्षों का सूत्रपात हुआ। इन सब का समाधान एक यही है कि सामाजिक कर्त्तव्य और अध्यात्म मार्ग का पार्थक्य स्पष्ट समझा जाए। ऐसा समझने से अहंभाव न रहकर सामाजिक कर्त्तव्य-भाव रह जायगा जो वैषम्य-जनक नहीं होगा।

मैं स्पष्ट शब्दों में कहना चाहूँगा कि आज जिस दया और दान का आडम्बर रचा जा रहा है, दुनिया उसकी भूखी नहीं है। शोषण, अन्याय और अनैतिक प्रवृत्तियों द्वारा करोड़ों का संग्रह कर उसमें से कुछ यश-पूर्ति के कार्यों में खर्च कर देना और अपने आपको महान् दयाशील और धर्मात्मा

मान बैठना उस पाप को छिपाने का प्रयास है। यह तो 'एहरन की चोरी और सुई के दान' जैसा है। मैं दया और दान का हृदय से समर्थन करता हूँ पर उसकी ओट में शोषण और भ्रष्टाचार नहीं होने चाहिए। ध्यान रहे, संसार आपके दान का भूखा नहीं है, उसे तो आपके शोषण पर रोष है, असंतोष है। अस्तु। हम सभी सात्विक दया-दान को अपनाएँ।

१०२ : अहिंसा क्या है?

अहिंसा क्या है? जो हिंसा नहीं वही है या और कुछ भी? 'मत करो' यही अहिंसा है या 'कुछ करो' यह भी? 'मत मारो' यही अहिंसा है या 'बचाओ' यह भी? प्रश्न थोड़े में है, उत्तर कुछ अधिक में होगा। स्वाभाविक भी है। हिंसा नहीं वही अहिंसा है, यह निश्चित व्याप्ति है। इसमें और विकल्प होने का अवकाश ही नहीं। हिंसा से मेरा अभिप्राय केवल प्राण-वियोजन से नहीं, किन्तु दुष्प्रवृत्ति या दुष्प्रवृत्तिपूर्वक प्राण-वियोजन से है। जितनी बुरी प्रवृत्ति है; राग, द्वेष और स्वार्थमयी प्रवृत्ति है, वह सब हिंसा है। वह सूक्ष्म हो या स्थूल, टालने योग्य या अनिवार्य, आवश्यक हो या अनावश्यक, समाज राजतंत्र और अर्थनीति से सम्मत हो या असम्मत, आखिर हिंसा है। धर्म-मर्यादा में हिंसा अनुमोदित है ही नहीं। समाज-शास्त्र में हिंसा के भी दो रूप बन जाते हैं—नैतिक और अनैतिक। आवश्यक हिंसा जो समाज में व्यापक होती है या अपरिहार्य होती है, उसे नैतिक रूप दिया है समाजशास्त्रियों ने। अनैतिक हिंसा तो साफ बुराई है, वह समाज को विशृङ्खलित करती है, इसलिए उसके बारे में विशेष कहने की बात नहीं रहती। कहने के लिए स्थान है समाज द्वारा स्वीकृत नैतिक हिंसा के विषय में। गहराई में उतरें तो हिंसा नैतिक हो ही नहीं सकती। और यह भी सच है कि जीवन चलाने में न्यूनाधिक-मात्रा में हिंसा होती ही है। हिंसा जीवन का नियम नहीं फिर भी अहिंसा की चरम कोटि तक पहुँचे बिना जैसे-तैसे रूप में होती ही है। जीवन का लक्ष्य यह होना चाहिए कि हिंसा कम से कम होती चली जाए—आगे जाकर मिट जाए। जीवन चलाने के लिए आवश्यक हिंसा होती है, उसे भगवान् महावीर ने 'आरम्भजा हिंसा' कहा है। यह एक प्रकार से अपरिहार्य है। फिर भी है हिंसा ही। अपरिहार्य होने के कारण हिंसा अहिंसा नहीं बनती। अहिंसा का पालन करना दूसरी भूमिका है। इससे पहली भूमिका है हिंसा को हिंसा और अहिंसा को अहिंसा समझना। आवश्यक परिस्थिति में की गई हिंसा अहिंसा बन जाती है, यदि यह न हो तो देश, धर्म और संस्कृति की रक्षा

कैसे की जाए ? विपत्तिकाल में की गई हिंसा धर्म है, ऐसा धर्म-शास्त्रों का विधान है। यह भ्रान्ति जनसाधारण के मस्तिष्क में घर कर गई है। इस विषय में बहुत कुछ सोचने समझनेकी जरूरत है। पहले तो आवश्यक परिस्थिति बिना हिंसा करने वाला ढूंढ़ने पर भी न मिलेगा। स्वभाव की दुर्बलता या और कुछ भी माना जाए, मनुष्य सफाई के बयान देने में कुशल होता है। अपना दोष दूसरे के सिर मँढ़ने की आदत होती है। चोर अपनी चोरी को परिस्थिति की विवशता कह कर स्वयं दोष मुक्त होना कब नहीं चाहता ? समाज की दुर्व्यवस्था है, एक करोड़पति सुख से जीता है, एक को पेट भर रोटी नहीं मिलती। समाज को चाहिए कि ठीक व्यवस्था करे, यदि न करे तो उस स्थिति में चोरी करना क्या दोष है ? इसी तर्क पर कम्युनिस्ट हिंसा, लूटपाट और हिंसात्मक कार्यवाहियाँ करते हैं। मनुस्मृति में भी कहा है "नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन" अर्थात् आततायी को मार डालने में मारने वाले को कुछ भी दोष नहीं होता। यह समाज-शास्त्र की दण्डविधि का समर्थन है, सभी समय की सब देशों की दण्डविधि द्वारा आततायी की हिंसा का समर्थन किया गया है। किन्तु यह स्मरण रखना होगा कि दण्ड-विधि का मूल उद्देश्य समाज की रक्षा करना है, धर्मों का उपदेश देना नहीं। इसलिए आततायी की हिंसा का विधान करनेवाला शास्त्र या शास्त्र का निर्दिष्ट अंश समाज-शास्त्र हो सकता है, धर्म-शास्त्र नहीं। धर्म-शास्त्र किसी भी परिस्थिति में हिंसा का विधान नहीं कर सकता। हिंसा और अहिंसा की भेद-रेखा परिस्थिति रहे, तब तो अहिंसा बच्चों का खिलौना होगा। थोड़ी विपत्ति आई और हिंसकों की खूब बनी। साम्प्रदायिक कलह को इससे प्रोत्साहन नहीं मिलता क्या ? मुसलमान हिन्दू को काफिर कहे, यह अप्रिय लगता है पर क्यों लगे ? उनकी नीति शायद यह हो कि इससे उनके धर्म पर प्रहार करने वालों के प्रति घृणा बढ़ती है और ऐसा होने से उनका धर्म अधिक सुरक्षित रहता है। हम यदि आक्रान्ता को मारने में अहिंसा-धर्म बताएँ, क्या यह कुछ भी अखरने जैसा नहीं है ? इसे दण्डविधि कहें यहाँ तक उचित तथा क्षम्य हो सकता है किन्तु विपत्तिकाल की ओट में हिंसा को अहिंसा कहना प्रत्येक अहिंसक के लिए अस्वीकार्य है। अहिंसक साधनों से रक्षा करना बहुत कठिन है, संभव है उस क्रम में भौतिक लाभ से कुछ हाथ भी धोना पड़े, इतनी क्षमता नहीं इसलिए समाज-शास्त्र ने दण्डविधि अपनाई। ईंट का जवाब पत्थर से देना उसका विधान है। इसलिए यह विधि से अहिंसा नहीं, विरोधी हिंसा यानी आक्रान्ता के प्रति होनेवाली हिंसा है। ऐसे व्यक्ति भी कम नहीं जो निरुद्देश्य हिंसा करते हैं। जीवन की और मानस की विभिन्न भूमिकाओं को

समझने के लिए की गई हिंसा के ये कई प्रकार हैं। इनके द्वारा "हिंसा नहीं, वही अहिंसा है" इस व्याप्ति का समर्थन होता है।

अहिंसा निषेधक ही नहीं, विधायक भी है। 'मत करो' यही अहिंसा का सिद्धान्त नहीं, हिंसा का सिद्धान्त है।—असत् कार्य मत करो—राग-द्वेष, मोह-स्वार्थमय प्रवृत्ति मत करो। 'सत्प्रवृत्ति करो, यह अहिंसा का दूसरा पहलू उतना ही बलवान है, जितना कि पहला। 'कुछ भी मत करो' यह अहिंसा का सिद्धान्त है सही किन्तु साधना की चरमकोटि का है। साधना के प्रारम्भ में यह दशा प्राप्त नहीं होती।

हमें आगे चलने के लिए अहिंसा के इन विविध रूपों पर फिर एक बार दृष्टि डालनी होगी—असत्प्रवृत्ति मत करो, सत्प्रवृत्ति करो, कुछ भी मत करो। खाना, पीना, जीवन चलाना हिंसा है, एकान्तरूप से नहीं; ये अहिंसात्मक कार्य हैं। असंयम जीवन में खाना हिंसा है, वही संयम जीवन में अहिंसा है। हिंसा अहिंसा खाद्य पदार्थ में नहीं, वह रहती है खाद्य पदार्थ से जुड़ी हुई भोक्ता की वृत्ति में—जीवन-भूमिका में। बहुत से प्रसंगों में ऐसी सूक्ष्म हिंसा होती है, जिसके समझने में भी कठिनाई पड़ती है। हिंसा किसी भी रूप में हो, वह मनुष्य की दुर्बलता है। साधक का लक्ष्य होता है सब प्रकार से सब प्रकार की हिंसाओं को छोड़ना। प्रश्न हो सकता है—सब साधक हो गये तो दुनिया का क्या होगा—संसार कैसे चलेगा, क्योंकि हिंसा के बिना वह चलता नहीं ? प्रश्न प्रश्न के लिए है, इसके विषय में अधिक कहना जरूरी नहीं, इतना ही प्रर्याप्त होगा कि सभी साधक नहीं बनते, यदि बन जायें तो बहुत अच्छा, फिर संसार चलाने का मोह क्यों और किसे हो ? साधक-दशा में तो यह मोह होता नहीं। दूसरी बात दुनिया में हिंसा होती जरूर है पर वह उस पर टिकी हुई नहीं है। यदि यह हो तो आज वह खत्म हो जाय। दुनिया से अहिंसा मिट जाय। हिंसा ही हिंसा रहे तो वह एक क्षण भी आगे नहीं चल सकती। सुन्द-उपसुन्द की तरह सब आपस में जूझ कर पूरे हो जायें। अहिंसा की अन्तरंग प्रेरणा ही विश्व का मूल आधार है। यह बात हुई सामान्य हिंसा और सामान्य अहिंसा की। चर्चा अधिक विशेष की होती है। हिंसा मत करो, यह उपदेश वाक्य है। इसका अर्थ होता है किसी को मत मारो, मत सताओ, दास मत बनाओ, अधिकार मत कुचलो। आप पूछें कि 'किसी को मत मारो' यह उपदेश करना कैसे ठीक होगा ? हम गृहस्थ हैं। हमें तो रोटी के लिए भी अग्नि, हवा, वनस्पति, जल आदि के जीवों की हिंसा करनी पड़ती है, अन्यथा कोई चारा नहीं। देश की रक्षा के लिए शत्रु से लड़ना पड़ता है अन्यथा हम अपना अस्तित्व नहीं रख सकते। उत्तर यही है कि आप सांसारिक हैं

इसलिए संसार की बात सोचते हैं। हिंसा को आप भी अच्छी नहीं समझते, फिर भी कमजोरी मान कर करते चले जाते हैं। यदि कमजोरी मिट जाय तो आप शत्रु के साथ भी लड़ने की बात नहीं सोच सकते। यहाँ तक कि आपकी दृष्टि में कोई शत्रु ही नहीं रहता। अहिंसक अपनी मर्यादा की बात करता है। वह आपको अहिंसा पालने के लिए ही कहेगा। आप चाहे मानें या न मानें। न मानने जैसी बात तो अहिंसक करे ही कैसे? व्यवहार की भी सर्वथा उपेक्षा नहीं हो सकती। असम्भव बात कहने से तात्पर्य ही क्या, जिससे कोई तात्पर्य न सधे। जीवन-व्यवहार में हिंसा के अनेक प्रसंग हैं किन्तु 'इनको छोड़ दो' यह सब के साथ नहीं जुड़ता। 'लडना-झगड़ना छोड़ दो', यह ठीक है। 'खाना-पीना छोड़ दो' यह एक निश्चित-परिस्थिति में ही ठीक हो सकता है, तपस्या-उपवास की दशा में ही यह ठीक हो सकता है। 'समूचे संसार को सदा के लिए दुराचार और बुराइयाँ छोड़ देनी चाहिए', यह उपदेश नहीं अखरता। कोई यह कहे कि 'समूचे संसार को सदा के लिए खाना-पीना छोड़ देना चाहिए', यह अखरे बिना नहीं रहता। अहिंसक का उपदेश साधक की योग्यता के अनुसार ही होता है। असम्भव बात के लिए कहना, कहने के सिवा कोई अर्थ नहीं रखता। अहिंसक यही चाहेगा कि संसार में हिंसा नाम की वस्तु ही न रहे पर क्या वह हिंसा को मिटाने के लिए हिंसा का सहारा ले? क्या असम्भव बातें कह कर अपना समय निकम्मा गवाँएँ? जो बात अपने खाने-पीने के सम्बन्ध में कही गई है, वही बात दूसरों को खिलाने-पिलाने के सम्बन्ध में है। जैसे जीने के लिए खाना पड़ता है, वैसे समाज में जीने के लिए खिलाना भी पड़ता है। यही समाज-बन्धन का मूल है, अथवा यों कहिये कि इसी में उसका उपयोग है। गाय का आपके लिए उपयोग है तो वह आपका उपयोग लेगी। दूध आर्थिक और शारीरिक सेवाओं से निकलता है। ऐसे और भी अगणित पारस्परिक सम्बन्ध हैं। इस प्रकार सम्बन्ध से सम्बन्ध चलता है।

अहिंसा का बीज वीतरागता है। उसके विधि और निषेध ये दोनों रूप हैं। 'मत मारो या बचाओ' यह मानवीय विषय है। हिंसा मारने वाले की वृत्तियों में है या मरनेवाले के प्राणों में? प्राण चले गये, यह हिंसा है या मारनेवाले की बुरी प्रवृत्ति? प्राणों के चले जाने मात्र को जो वास्तविक हिंसा मानते हैं, वे उनके बच जाने मात्र को भी वास्तविक अहिंसा मान सकते हैं। किन्तु जो व्यक्ति हिंसक की वृत्तियों के बिगाड़ और सुधार को ही वास्तविक हिंसा या अहिंसा मानते हैं, उनकी अन्तर्मुखी दृष्टि में प्राणों की प्रमुखता नहीं रहती। प्राणों का मोह भी तो आखिर मोह है। विशुद्ध अहिंसा की भूमिका सर्वथा निर्मोह है। आप जानते ही हैं कि आध्या-

त्मिक दृष्टि का निर्णय व्यावहारिक दृष्टि के सर्वथा अनुकूल नहीं होता। इसीलिए बहुत से बहिर्मुखी दृष्टिवाले व्यक्ति इस सिद्धान्त को तोड़-मरोड़ कर जनता के सामने रखते हैं। इसपर यह आरोप भी लगाया जाता है कि ये जीवों को बचाने का निषेध करते हैं। यह सर्वथा मिथ्या है। कोई किसे बचा रहा है, उसे दूसरा कोई मना करे, उसको हम हिंसक मानते हैं। किसी की सुख-सुविधाओं में अन्तराय करना अहिंसा-धर्म के प्रतिकूल है। धर्म बल-प्रयोग से नहीं पनपता, उसके लिए हृदय-शुद्धि की आवश्यकता है। विशुद्ध अहिंसा है—दुष्प्रवृत्ति से बचना और बचाना। बचना या न बचना व्यक्तियों की इच्छा पर निर्भर है। हमें सिर्फ समझने का अधिकार है ताड़ने का नहीं। मुझे आशा है, लोग सिद्धान्त की गहराई तक पहुँचेंगे।

१०३ : भारतीय संस्कृति की एक विशाल धारा

संस्कृति एक प्रवाह है। वह चलता रहे तबतक ठीक है। गति रुकने का अर्थ है उसकी मृत्यु। फिर दुर्गन्ध के अतिरिक्त और कुछ मिलने का नहीं। प्रवाह में अनेक तत्त्व घुले-मिले होते हैं, एक रस हो बढ़ते चले जाते हैं। भारतीय संस्कृति की यही आत्म-कथा है। वह अनेक धाराओं में प्रवाहित हुई है। कितने ही धर्म और दर्शन प्रसंगों से अनुप्राणित भारत का सांस्कृतिक जीवन अपने आप में अखण्ड बना हुआ है। किसकी क्या देन है, इसका निर्वाचन आज सुलभ नहीं, फिर भी सूक्ष्मदृष्टा हम कुछ एक तथ्यों को न पकड़ सकें, ऐसी बात नहीं। संयममूलक जैन-विचारधारा का भारतीय जीवन पर स्पष्ट प्रतिबिम्ब पड़ा है। व्यावहारिक जीवन वैदिक विचारधारा से प्रवाहित है तो अन्तरंग जीवन जैन-विचारों से। शताब्दियों पूर्व रचे गये एक श्लोक से इसकी पुष्टि होती है—

"वैदिको व्यवहर्तव्यः कर्त्तव्यः पुनरार्हतः"

जैन-विचारों का उत्स ज्ञान और क्रिया का संगम है। जानने और करने में किसी एक की ही उपेक्षा या अपेक्षा नहीं। ज्ञान का क्षेत्र खुला है। कर्म का सूत्र यह नहीं कि सब कुछ करो। साधना प्रेम है तो पूर्ण संयम करो। गृहस्थी में रहना है तो सीमा करो। इच्छा के दास मत बनो, आवश्यकताओं के पीछे मत पड़ो। आवश्यकताओं को कम करो, वृत्तियों को सीमित करो—एक शब्द में आवश्यकता-पूर्ति के लिए भी सब कुछ मत करो। भारतीय जीवन पर यह जैन-विचारों की अमिट छाप है। हिंसा के बिना जीवन नहीं चलता, फिर भी, यथासंभव हिंसा से बचना, जीवन के दैनिक व्यवहार खान-पान से लेकर बड़े-से-बड़े कार्य

तक हिंसा-अहिंसा का विवेक रखना भारतीय संस्कृति का एक महान् पहलू है, जो जैन-प्रणाली का आभारी है। परिग्रह भी गृहस्थ-जीवन का एक आवश्यक अंग बना हुआ है। फिर भी चर्चा अपरिग्रह की चलती है। भगवान् महावीर ने परिग्रह पर जो प्रहार किया वह आज भी उनकी वाणी में व्यक्त है। उनके जीवन-काल एवं उत्तरवर्ती काल में उनकी अहिंसा और अपरिग्रह सम्बन्धी विचार-धारा भारतीय संस्कारों में इतनी घुल-मिल गई कि अब उसके मूल स्रोत तक पहुँचने में कठिनाई का अनुभव होता है। सामन्तशाही और इच्छाशासित युग में दी हुई भगवान् महावीर की अमूल्य-निधि आज के जनतन्त्र-युग में और अधिक मूल्यवान् बन गई। एकतन्त्र में एक या कुछ एक व्यक्तियों पर नियन्त्रण की आवश्यकता रहती है तो जनतन्त्र में सब व्यक्तियों पर। एक के लिए जो आवश्यक है, वह जनता के शासन में सबके लिए। एक के शासन में फिर भी डंडे का शासन चल सकता है, किन्तु जनता के शासन में उसके लिए कोई स्थान नहीं। ऐसी स्थिति में जनता की और अधिक सुसंस्कृत होने की आवश्यकता होती है। भारत अपनी शासन-प्रणाली को जनतान्त्रिक घोषित कर चुका है। इससे जनता के कन्धों पर महान् उत्तरदायित्व आ गया, चाहे वह इसे अनुभव करे या न करे। आखिर एक दिन इसका अनुभव करना ही होगा, अन्यथा जनतन्त्र टिकेगा कैसे? अब प्रश्न यह है कि भारत के भावी सांस्कृतिक विकास में जैन क्या योग दे सकते हैं। पूर्वजों की कृतियों का गौरवमात्र पर्याप्त नहीं होता। वर्तमान को परखनेवाले ही कुछ कर सकते हैं। जैन संख्या में भले ही कम हों, साहित्य, शिक्षा आदि क्षेत्रों में समृद्ध हैं। वे अवसर को संभल कर उपयोग करें तो भारत के लिए वरदान बन सकते हैं। आज संस्कृति का प्रश्न भी विचित्र है। उसके लिए भी जगह-जगह संघर्ष छिड़े हुए हैं। सब अपनी-अपनी संस्कृति को सर्वोत्तम बतलाते और दूसरों पर उसे लादने की चेष्टा करते हैं। यह ठीक नहीं। भगवान् महावीर ने कहा है—

"सच्चं लोगम्मि सारभूयं।"

सत्य ही लोक में सारभूत है। जो सत्य है, वही श्रेष्ठ है चाहे किसी के भी पास हो। सत्य, अहिंसा और अपरिग्रह इस त्रिवेणी से उत्पन्न होनेवाली संस्कृति ही सर्वश्रेष्ठ हो सकती है। जैन न केवल सिद्धान्त अपितु कार्य रूप से भी इस त्रिवेणी के निष्णात रहे हैं और अब भी हैं। समय-परिवर्तन के साथ-साथ कुछ गतिरोध हुआ है। पुनः गति पाने की अपेक्षा है। वैसा होते ही जीवन-धारा सजीव हो उठेगी। जैनों की संयम प्रधान परम्परा भारत के लिए ही नहीं, समूचे संसार के लिए संजीवनी का

काम कर सकती है। आज विशेष प्रश्न भारत का है। उसका नव-निर्माण हो रहा है। उसमें जैन किस स्तर पर रहें, विचारणीय प्रश्न यह है। क्या वे भारत के सांस्कृतिक विकास में सहयोगी बनें या रोड़े? दूसरा विकल्प प्रत्यक्ष किसी को भी स्वीकार नहीं होता। किन्तु प्रश्न स्वीकार या अस्वीकार का नहीं, उसकी कसौटी है कार्यकल्पना। जैन पुर्नविचार करें कि वे आज किस स्तर पर है? अपनी संस्कृति के आसपास हैं या उससे दूर। वे त्यागमय भावना की परिक्रमा कर रहे हैं या स्वार्थ-बिन्दु की। वास्तव में ही उक्त त्रिवेणी जैनों की सर्वोत्तम निधि है। किन्तु जब तक वह सैद्धान्तिक है तबतक उन्हीं की विचार-सामग्री रहेगी; सामूहिक लाभ की वस्तु नहीं बन सकती। सिर्फ बनाकर दूसरों को समझाया जा सकता है, कुछ करवाया नहीं जा सकता। जैन अपने बोल-चाल, रहन-सहन, रीति-रिवाज सब में संयम को प्रधानता दें। सामाजिक आडम्बरों से जीवन बोझिल न बनायें। न आक्रान्त बनें और न शोषक। वृत्तियों का सकोच करें। इतना पा लिया तो मैं समझता हूँ कि बहुत कुछ पा लिया, अगर अधिक गहराई में न उतरें तो। यह सोचना भी कोई अर्थ नहीं रखता कि थोड़े से जैन बहुतों पर क्या प्रभाव डाल सकते हैं। उन्हें प्रभाव डालना भी तो नहीं है। उनकी सहज वृत्तियाँ अपने आप दूसरों को आकृष्ट करेंगी। आज की अर्थप्रधान संस्कृति में क्या कोई समाज संयम-प्रधान संस्कृति को लेकर जीवित रह सकता या प्रतिष्ठा पा सकता है, यह विचार भी भूल से परे नहीं हैं। कठिन है, किन्तु न रह सकें, यह बात नहीं, इसका परिणाम सुन्दर और सुखद होता है। समृद्धिशाली पच्चीस लाख जैनों की संयमपूर्ण वृत्तियों का दूसरों पर असर न हो, यह सम्भव नहीं। कदाचित् न भी हो किन्तु जीवन-कल्याण तो निश्चित है। मेरा विश्वास तो ऐसा है कि भगवान् महावीर ने जिस अल्पारम्भी, अल्पपरिग्रही समाज का ढांचा जनता के सामने रखा, वह अल्पसंख्या में रहकर भी दुनिया का पथ-प्रदर्शन कर सकता है। हिंसा और अर्थप्रधान संस्कृति के कड़ुए फल संसार भोग चुका है। हममें कुछ समझ है तो अब उसके पैर पकड़े रहने की कोई जरूरत नहीं। सही अर्थ में खानपान एवं रहन-सहन का विकास सांस्कृतिक विकास है ही नहीं। उनमें संयम का, थोड़ा आगे बढ़ें तो मानवता का विकास ही सांस्कृतिक विकास है। क्योंकि शोषण और हिंसाविहीन समाज ही सबके लिए शिवकर हो सकता है। जैन अपनी परम्परागत सम्पत्ति का उपयोग करना चाहें तो कठिनाइयों के बावजूद संयम-प्रधान संस्कृति को अपनायें, दूसरों तक उसे पहुँचायें। भारत को इसकी पूर्ण अपेक्षा है। यदि ऐसा हुआ तो भारत के इतिहास में उनका सुचिर अभिनन्दन होगा।

१०४ : अणुव्रत-आन्दोलन की योजनाएँ

आज का जन-जीवन समस्याओं से आक्रान्त है। अमीरी और गरीबी की समस्या है, शोषक और शोषितों की समस्या है। उस पर भी विश्व-क्षितिज पर आज अणु-अस्त्रों की विभीषिकाएँ मंडरा रही हैं। विभिन्न राष्ट्रों के पारस्परिक तनाव बढ़ते जा रहे हैं। यह महा समस्या है। अणु-अस्त्र के निर्माण और उनके प्रयोगों ने समग्र विश्व को एक साथ मौत के मुँह पर खड़ा कर दिया है। यह सब क्यों? यह इसलिए कि आज का विश्व भौतिक विकास के शिखर पर चढ़ा है। आज उसके जीवन का भौतिक पक्ष परम पुष्ट है, परन्तु, आध्यात्मिक और नैतिक विकास के अभाव में पक्षाघात से प्रभावित-सा होता जा रहा है। मानवता मरती जा रही है और दानवता पुष्ट होती जा रही है। जीवन के वरदान भी अभिशाप सिद्ध होते जा रहे हैं। भारतीय चिन्तकों ने अध्यात्म और नैतिक सामर्थ्य को बढ़ावा दिया है, परिणामस्वरूप विश्व को दैवी सम्पदा मिली। पाश्चात्य-वासियों ने विशेषतः वैज्ञानिकों ने भूतवाद को बढ़ावा दिया, उसके परिणाम हैं—अणुबम और उद्‌जनबम। आज की सारी समस्याओं और विभीषिकाओं का समाधान मानव के नैतिक उदय में ही अन्तर्निहित है। अणुव्रत-आन्दोलन नैतिक जागरण का एक क्रान्तिकारी कदम है व विश्व में सुसुप्त नैतिकता को पुनर्जीवित करना चाहता है। यदि ऐसा हुआ तो उद्योगपति मजदूरों का शोषण नहीं करेंगे, भूमिपति किसानों पर बेरहम नहीं होंगे, एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र पर बम बरसाने की बात नहीं सोचेगा। और उस नैतिक उदय के नव प्रभात में "आत्मवत् सर्व भूतेषु"—प्राणी मात्र को अपने जैसा समझो, "वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते"—धन संग्रह से मनुष्य को त्राण नहीं मिल सकता—ये भावनाएँ घट-घट में घर कर जायेंगी।

अणुव्रत-आन्दोलन विकासोन्मुख

अणुव्रत-आन्दोलन को प्रारम्भ हुए लगभग ७ वर्ष हो गये। प्रारम्भ में वह लोगों को स्फुलिंग मात्र लगता था। किन्तु अब उसमें एक ज्योतिपुञ्ज होने का विश्वास जगने लगा है। आन्दोलन का प्रथम वार्षिक अधिवेशन ७ वर्ष पूर्व देहली में हुआ था। ६२१ व्यक्तियों ने चोर बाजारी न करना, रिश्वत न लेना, मिलावट न करना, झूठा तोल-माप न करना आदि आन्दोलन की समग्र प्रतिज्ञाएँ ली थीं। पत्रकार-जगत् ने कलियुग में सतयुग का अवतरण कह कर उस संवाद को अपने मुख पृष्ठ पर स्थान दिया पर साथ-

साथ यह भी व्यक्त किया गया कि किसी सतयुग का मूल्यांकन तभी होगा जब वह अपना स्थायित्व बना लेगा। आज मुझे आप पत्रकारों के बीच यह बताते हुए प्रसन्नता होती है कि अणुव्रत-आन्दोलन तब से आज तक विकासोन्मुख ही रहा है। आज समग्र भारतवर्ष में मेरे सहित मेरे लगभग ६५० शिष्य साधुजन, सैकड़ों कार्यकर्त्ता व अनेकों संस्थाएँ नैतिक जागरण की पुनीत भावनाओं को आगे बढ़ाने में दत्तचित्त हैं। आये दिन नये-नये उन्मेष इस दिशा में होते जा रहे हैं। समग्र नियम लेनेवाले अणुव्रतियों की संख्या चार हजार है, और प्रारम्भिक नियम लेनेवाले सदस्यों की संख्या एक लाख से भी अधिक हो चुकी है। विगत दो वर्षों में मैंने विद्यार्थी वर्ग के चरित्र-निर्माण की ओर विशेष ध्यान दिया। लगभग २ लाख विद्यार्थियों ने साक्षात् सम्पर्क में आकर नैतिक प्रेरणा ली है। सहस्रों विद्यार्थियों ने निर्धारित प्रतिज्ञाएँ भी ली हैं। इसी प्रकार हमारा यह वर्गीय कार्यक्रम मजदूरों, व्यापारियों, कर्मचारियों, कैदियों, पुलिसों आदि विभिन्न वर्गों में सफलता से चल रहा है। आन्दोलन के तथा इस प्रकार के और भी विभिन्न कार्यक्रम हैं।

नैतिक-निर्यात के लिए अणुव्रत-सेमिनार

अभी मैं कुछ विशेष लक्ष्यों से ही देहली पहुँच रहा हूँ। भारतवर्ष सदा से ही नैतिक व आध्यात्मिक ज्योति का प्रसारक रहा है। भगवान् महावीर और बुद्ध का शिक्षा-आलोक दूर-दूर तक समुद्रों पार पहुँचा। अभी देहली में नया अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन है। यह बहुत सुन्दर होगा कि बाहर से आनेवाले लोग भारतवर्ष के नैतिक सन्देशों को विदेशों में ले जायें। यह निर्माण सब के लिए हितकर होगा। लगता है—भारतवर्ष में नैतिक उपदेशों की बहुलता होने के कारण उनका भाव कुछ मंद-मंद-सा होता जा रहा है। अन्य पदार्थों के निर्यात से जैसे भावों में तेजी आ जाती है, मैं सोचता हूँ इस नैतिक-निर्यात से देश में भी उसका मूल्य बढ़ेगा। इस हेतु ता० २-३-४ दिसम्बर को यहाँ अणुव्रत-सेमिनार का आयोजन किया गया है। आशा है, भारतवर्ष का यह देशव्यापी आन्दोलन विदेश में भी गति पायेगा, जो कि समस्त मानव जाति के लिए हितकर होगा।

नयी दिल्ली
प्रेस कांफरेन्स
१ दिसम्बर '५६

१०५ : नीति का प्रतिष्ठापन परम अपेक्षित

अणुव्रत-आन्दोलन का एक ही लक्ष्य है, मानवता विहीन मानव में मानवता का प्रतिष्ठापन हो। हमें ताज्जुब हो रहा है और आज उन बातों का प्रसार करना पड़ रहा है जो कि मानव में सहज ही आ जानी चाहियें थी। आज के मानव में नीति का प्रतिष्ठापन हो यह परम अपेक्षित है।

स्वार्थ वृत्ति की दृष्टि से स्वीकृत नीति में स्थिरता नहीं रहती, उसके लिए अध्यात्म की भूमिका चाहिये। धर्म के रूप में स्वीकृत नीति आत्मसात् हो जाती है। फिर उसमें परिवर्तन नहीं होता। इसी तरह व्यवहार-शुद्धि के लिए आत्म-शुद्धि होनी चाहिए। सिर्फ व्यवहार-शुद्धि के आन्दोलन से दोष दब जाते हैं। उसकी जड़ नहीं मिटती। रोग के मूल को नष्ट किये बिना रोग मिटेगा नहीं। अवसर पाकर वह फिर प्रगट हो जायेगा। शताब्दियों से जमते-जमते दोषों की जड़ बहुत गहरी जम चुकी है और उसे नेस्तनाबूद करने के लिए निरन्तर प्रयास करते रहने की आवश्यकता है। बहुत से लोग कह देते हैं कि आखिर अहिंसा से क्या होता जाता है? मैं समझता हूँ यह प्रश्न ठीक नहीं है। प्रश्न यह होना चाहिए था—हिंसा से क्या हुआ? जिसके पीछे इतनी बड़ी भौतिक और संहारक शक्तियां हैं। अहिंसक शक्ति यदि थोड़ी भी संगठित हो पाती तो उसका नतीजा कुछ और ही होता। पर पता नहीं कहाँ दोष रह जाता है। जहां चोर, डाकुओं और बदमाशों में परस्पर गठबन्धन हो जाता है, वहां अहिंसक शक्तियां मिलकर क्यों नहीं काम कर पाती हैं? आज इस बात की आवश्यकता है कि अहिंसक शक्तियाँ संगठित होकर कुछ सद्प्रयास करें—वरना हिंसा संसार को निगल जायेगी।

नई दिल्ली
संसद्सदस्यों के बीच
१ दिसंबर '५६

१०६ : श्रमण संस्कृति

मैं राजस्थान से ११ दिन में प्रायः २०० मील की लम्बी यात्रा कर इसलिये यहाँ आया हूँ कि भारत की राजधानी दिल्ली में आये हुए अनेक सांस्कृतिक एवं दार्शनिक विद्वानों के समक्ष अपने उद्गार रखूं, उनके साथ विचार-विमर्ष कर सकूं। आज यहाँ ठीक पहुँचते ही विश्व के विभिन्न देशों के

बौद्ध-प्रतिनिधियों के बीच अपने विचार रखते हुए मुझे प्रसन्नता हो रही है।

भारतवर्ष में एक संस्कृति प्रवाहित हुई जिसका नाम है श्रमण संस्कृति। जैन और बौद्ध दोनों उसी श्रमण संस्कृति की शृङ्खला हैं। श्रमण का मतलब है जिनका जीवन आध्यात्मिक श्रम पर चलता हो। श्रमण संस्कृति की दो महान् धारायें—जैन और बौद्ध में मैं काफी समन्वय देखता हूँ। अहिंसा का जहाँ भी सवाल आयेगा, भगवान् महावीर और बुद्ध का नाम सहसा याद हो आयेगा। जातिवाद पर दोनों को विश्वास नहीं, पुरुषार्थ और कर्मवाद पर दोनों की श्रद्धा है। इसी तरह समन्वय काफी मिल सकता है। आवश्यकता इस बात की है कि दृष्टिकोण समन्वय का हो। मुझे इस बात की खुशी है कि जहाँ जैन धर्म भारतवर्ष में नाना बाधाओं के बावजूद टिका रहा वहाँ बौद्ध भिक्षुओं ने पुरुषार्थ और कर्मवाद का प्रसार दुनिया में बड़े पैमाने पर किया।

सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान स्व० डॉ० जेकोबी के शिष्य प्रोफेसर ग्लेसनो ने कहा—"मुझे इस बात की खुशी है कि मेरे गुरु ने आचार्यजी के गुरु के दर्शन किये थे और आज मैं आचार्यश्री के दर्शन कर रहा हूँ। मेरे गुरु (डॉ० हरमन जेकोबी) ने मुझे आदेश दिया था कि मैं जैन-दर्शन का अध्ययन करूँ; और इसके लिए मैंने भारत का भ्रमण भी किया। मैं जयपुर गया, माउण्ट आबू गया और दक्षिण भारत भी।" वहाँ मैंने जैन-मूर्तियाँ देखीं और भी तत्सम्बन्धी सामग्रियाँ देखने को मिली। पर जैन मुनियों और आचार्यों का जीवन उनसे कहीं अधिक प्रभाव डालने वाला होता है। जैन श्रमणों की तरह यदि सब का जीवन सादा और सदाचारपूर्ण बन जाये तो दुनिया का तनाव अपने आप शान्त हो जायेगा।"

नई दिल्ली
बौद्ध-प्रतिनिधियों के बीच
१ दिसंबर '५६

१०७ : सबसे मूल्यवान वस्तु संयम

अणुव्रत संग्रह का मर्यादाकरण है। अधिकार और इच्छाएं सिमट कर अपने क्षेत्र में आ जाते हैं। अभय का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। अणुबमों को हतवीर्य करने का यही सरल मार्ग है। "अणुव्रतों के द्वारा अणुबमों की भयंकरता का विनाश हो", "अभय के द्वारा भय का विनाश हो", "त्याग के द्वारा संग्रह का ह्रास हो" ये प्रण्योद्घोष उच्चतम सभ्यता, संस्कृति और कला के

प्रतीक बनें और इस कार्य में सब का सहयोग जुड़े तो जीवन की दिशा बदल सकती है। अपनी शान्ति के लिए अणुव्रत अपनाइये। अपनी शान्ति के लिए अभय बनिये, अपनी शान्ति के लिए संग्रह को कम करिये। आपके अणुव्रतों की आभा दूसरों को भी आलोक देगी। आपका अभय भाव शत्रु को भी मित्र बनायेगा। आपका संग्रह का अल्पीकरण अणु-आयुधों को अपनी मौत मरने की स्थिति पैदा करेगा।"

विश्व के विशिष्ट चिन्तकों, लेखकों, कलाकारों से जो अपने राष्ट्र की सजीव भावना के प्रतीक बनकर यहां आये हैं, मैं हृदय की गहरी संवेदना के साथ कहना चाहूँगा कि वे अपने में "व्रतों के प्रयोग" की दिशा को व्यापक बनाने में लगें। हमारे संयम से हमारा हित होगा, दूसरों को प्रेरणा मिलेगी। थोड़ा बहुत दृष्टिकोण बदला तो व्यापक हित होगा। अहिंसा, शान्ति और मैत्री के लिये यत्नशील व्यक्ति और संगठनों के सारे निरवद्य प्रयत्न शृङ्खलित हों—यह मैं चाहता हूं। राजनैतिक दल-बन्दी से दूर रहकर विशुद्ध मानवता व भाईचारे की दृष्टि से कुछ अन्तर्राष्ट्रीय दिवस मनाये जायें। जैसे—(१) अहिंसा-दिवस—निःशस्त्रीकरण का प्रयोग किया जाये। (२) क्षमा-दिवस—अपनी भूलों के लिए क्षमा मांगी जाये और दूसरों को उनकी भूलों के लिए क्षमा दी जाय। ये प्रेरणा के स्रोत बन सकते हैं और बिखरे प्रयत्नों को सामूहिक रूप दे सकते हैं। मैं मेरी भावना और सहयोगियों की सद्भावना के लिए कृतार्थ और कृतज्ञ हूँ। अहिंसा के प्रयत्नों की सफलता चाहता हूँ।

मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि भारत के राष्ट्रपति अध्यात्म भावनाके प्रति अभिरुचिशील हैं। भारत अध्यात्म-प्रधान देश है। यहां जो अध्यात्म भावनायें फैलीं—पनपीं वे बढ़ती जायें, ऐसा मैं चाहता हूँ। उसमें साधु-सन्तों का सहयोग तो है ही; राष्ट्र नेताओं का भी सहयोग रहे तो भारतीय अन्तर-चेतना अधिकाधिक विकास पा सके।

जैसा कि भारतीय महर्षियों ने बताया कि जीवन में सबसे ऊँची मूल्यवान कोई वस्तु है तो वह संयम है। संयम और त्याग के समक्ष सत्ता, वैभव और साम्राज्य का मस्तक सदा झुका है। ऐसी हमारी भारतीय परम्परा है। अणुव्रत-आन्दोलन संयम का आन्दोलन है। यह जाति, वर्ण और वर्ग-भेद से दूर मानवता का आन्दोलन है, नैतिक जागृति का आन्दोलन है।

दिल्ली
वाई० एम० सी० ग्राउण्ड
२ दिसंबर '५६

१०८ : शिक्षा का ध्येय

जीवन में ज्ञान का बहुत बड़ा महत्त्व है। अज्ञानी को अन्धे की उपमा दी गई है पर साथ-ही-साथ यह भी हमें नहीं भूल जाना है कि भारतीय संस्कृति में ज्ञान, ज्ञान के लिए नहीं ज्ञान प्रत्याख्यान के लिए है। प्रत्याख्यान का मतलब है—हेय और उपादेय को समझ कर हेय को छोड़ना, उपादेय को जीवन में ढालना। जहाँ ज्ञान इस ध्येय से परे है, वहाँ उसकी सार्थकता नहीं।

ज्ञान और शिक्षा में मैं भेद करता हूँ। ज्ञान का अर्थ है जानना, पर शिक्षा का दायरा उससे बड़ा है। उसका अर्थ है अनुभूति और सक्रिय रूप में सत्य-तत्त्व को जानना, उसमें अपने को ढालना। शिक्षा कहनी और करनी की भेद-रेखा को तोड़ती है। जहाँ यह रेखा नहीं टूटी, करना कुछ, कहना कुछ, ऐसा रहा वहाँ शिक्षा का ध्येय पूरा नहीं हुआ।

दिल्ली
२ दिसम्बर '५६

१०९ : अर्हम्

मनुष्य का जीवन सरस भी है, नीरस भी है, सुख भी है, दुःख भी है, सब-कुछ भी है, कुछ भी नहीं है।

जीवन कला है।

नीरस को सरस, दुःख को सुख, कुछ भी नहीं को सब-कुछ बनानेवाला कलाकार है।

मनुष्य कलाकार है।

कला गूढ़ की अभिव्यक्ति है।

गूढ़ को अभिव्यक्त करनेवाला कलाकार है। वह गूढ़ से भी गूढ़ है।

अति गूढ़ को समझने के लिए पूर्व-तैयारी अधिक चाहिए। अति स्पष्ट से अभिलषित विकास नहीं होता। इन दोनों से परे का मार्ग है, वह 'व्रत' है। वह जीवन की कला है। असंयम के घोर अन्धकार में संयम की अर्द्ध-रेखाएँ भी पथ निश्चित बना देती हैं।

घोर-हिंसा और सूक्ष्म-अहिंसा के बीच का जो मार्ग है वही बहुतों के लिए शक्य है।

अपरिमित संग्रह और अपरिग्रह के बीच का जो मार्ग है—वही बहुतों के लिए शक्य है।

युद्ध और आकर्षण की दुनिया में जीनेवाले अहिंसा और अपरिग्रह की लौ को न जला सकें—ऐसी बात नहीं है।

अहिंसक होना अगले सिरे का वीर्य है।

हिंसक बने रहना पहले दर्जे की कमजोरी है।

भय-से-भय बढ़ता है, घृणा-से-घृणा।

क्रूरता का प्रतिफल क्रूरता और विरोध का प्रतिफल विरोध है।

हिंसा के प्रति हिंसा का सिद्धान्त फलित हो रहा है।

भयाकुल मनुष्य उन्मुक्त आकाश में विचर नहीं सकता।

किवाड़ों से बन्द आश्रय में सोकर भी सुख से नींद नहीं ले सकता।

शान्ति का प्रकाश अभय के सान्निध्य में फैलता है।

मन और आत्मा को बेचकर शरीर की परिचर्या करनेवाले लोग सुख के सामने शान्ति को आँखों से ओझल कर देते हैं। सुख शारीरिक-साधनों से उत्पन्न होनेवाली अनुभूति है। शान्ति का प्रतिष्ठान मन और आत्मा है।

साधारण लोग शान्ति के लिए सुख को नहीं ठुकरा सकते, किन्तु अशान्ति पैदा करनेवाले सुख से बच तो सकते हैं।

अशान्ति दुःख का कारण है, फिर भी, सुख के लिए अशान्ति को मोल लेने में मनुष्य नहीं सकुचाता।

परिणाम दुःख ही होता है।

शान्ति के बिना सुख के साधन भी सुख पैदा नहीं करते। शान्ति का मूल्य सुख से बहुत अधिक है। यह सही समझ है। इसमें बाहरी विकास की उपेक्षा भी नहीं है। आन्तरिक विकास के अभाव में पनपनेवाली बाहरी विकास की भयंकरता या निरंकुशता भी नहीं है। सुख के साधन पदार्थ, उनका संग्रह और उनका भोग है। शान्ति का साधन संयम या त्याग है।

संग्रह और अशान्ति का उद्गम बिन्दु एक है। सामान्य स्थिति में वह अभिव्यक्त नहीं होता। संग्रह के बिन्दु इधर रेखा बनाते चलते हैं तो उधर अशान्ति भी सम-रेखा पर बढ़ती जाती है।

संग्रह की भूख सबको है, अशान्ति को कोई नहीं चाहता।

मन को दावानल में डाले, और वह जले भी नहीं यह कैसे होगा?

कार्य-कारण का सही विवेक किए बिना भटकना नहीं मिटेगा।

दो सौ वर्ष पहले की बात है—आचार्य भिक्षु ने कहा—"परिग्रह से धर्म नहीं होता।" तब यह बहुत अटपटा लगा।

युद्ध परिग्रह के लिए होते हैं, अणुबम भी उसी के लिए बनते हैं।

अधिकारों के उपार्जन में क्रूरता बरतनी पड़ती है।

उनकी सुरक्षा के लिए और भी अधिक।

अधिकार-दान या धन-दान क्रूरता का आवरण है।

शोषण का पोषण करनेवाले दानियों की अपेक्षा अदानी बहुत श्रेष्ठ हैं।

शोषण न करनेवाला स्वयं धन्य है, चाहे वह एक कौड़ी भी न दे।

शोषण का द्वार खुला रखकर दान करनेवाला, हजारों को लूट कुछेक को देनेवाला कभी धन्य नहीं हो सकता।

अशान्ति की जड़ परिग्रह-विस्तार या अधिकार-विस्तार की भावना है। दुःख की जड़ अशान्ति है। इसीलिए तो सुख-संवर्धन के हजारों वैज्ञानिक उपकरणों के सुलभ होने पर भी सुख दुर्लभ होता जा रहा है। अभय और सन्तोष किनारा कसते जा रहे हैं।

मैं अधिक गहराई में नहीं जाऊंगा। थोड़ी गहराई में गए बिना गति भी नहीं होती। पेट को पकड़े बिना बाहरी उपचार से कुछ बनने का नहीं।

सुख के बाहरी उपादानों को बढ़ाने की दिशा में अणु-युग का प्रवर्त्तन हुआ है। इसमें भयंकरता के दर्शन होने लगे हैं। अणु बुरा नहीं है, वह भयंकर भी नहीं है। भयंकरता मनुष्य में है। भय से भय आता है, अभय से अभय। अपने मन से भय निकाल दीजिये, अणु की भयंकरता नष्ट हो जायगी। मन में भय बढ़ता रहा तो अणु और अधिक भयंकर बन चलेगा। अणुवाले, अणुवाले से नहीं घबड़ाते। जिनके पास अणु नहीं है—वे अणुवालों से घबड़ाते हैं। यह अणु और स्थूल की टक्कर है। समता के जमाने में विषमता सफल नहीं हो सकती। इसीलिए भय बढ़ रहा है। अणु की टक्कर अणु से होने दीजिये। भय रहेगा ही नहीं।

स्थूल अस्त्रों से अणु-अस्त्रों का प्रतिकार नहीं हो सकता।

अणु-अस्त्र अणु-अस्त्रों के प्रतिकार में लगेंगे तो दोनों मिट जायेंगे। प्रतिकार के ये दोनों मार्ग गलत हैं।

अणुव्रत-संग्रह का मर्यादा-कारण है। अधिकार और इच्छाएं सिमिट कर अपने क्षेत्र में आ जाती हैं, अभय का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। अणुबमों को हतवीर्य करने का यही सरल मार्ग है।

"अणुव्रतों के द्वारा अणुबमों की भयंकरता का विनाश हो।

अभय के द्वारा भय का विनाश हो।

त्याग के द्वारा संग्रह का ह्रास हो।"

ये महोद्घोष उच्चतम सभ्यता, संस्कृति और कला के प्रतीक बनें और इस कार्य में सबका सहयोग जुड़े तो जीवन की दिशा बदल सकती है।

अपनी शान्ति के लिए अणुव्रत अपनाइए।

अपनी शान्ति के लिए अभय बनिये।

अपनी शान्ति के लिए संग्रह को कम करिए।

आपके अणुव्रतों की आभा दूसरों को भी आलोक देगी।

आपका अभय-भाव शत्रु को भी मित्र बनायेगा।

आपका संग्रह का अल्पीकरण अणु-आयुधों को अपनी मौत मरने की स्थिति पैदा करेगा।

विश्व के विशिष्ट चिन्तकों, लेखकों, कलाकारों से, जो अपने-अपने राष्ट्र की सजीव भावनाओं के प्रतीक बन यहाँ आये हैं, मैं हृदय की गहरी संवेदना के साथ कहना चाहूँगा कि वे जीवन में 'व्रतों के प्रयोग' की दिशा को व्यापक बनाने में लगें। हमारे संयम से हमारा हित होगा, दूसरों को प्रेरणा मिलेगी। थोड़ा-बहुत दृष्टिकोण बदला तो व्यापक हित होगा।

अहिंसा, शान्ति और मैत्री के लिए यत्नशील व्यक्ति और संगठनों के सारे निरवद्य प्रयत्न शृङ्खलित हों—यह मैं चाहता हूं।

राजनीतिक दलबन्दी से दूर रहकर विशुद्ध मानवता व भाईचारे की दृष्टि से कुछ अन्तर्राष्ट्रीय दिवस मनाये जायें। जैसे—

(१) अहिंसा-दिवस—निःशस्त्रीकरण का प्रयोग किया जाए।

(२) क्षमा-दिवस—अपनी भूलों के लिए क्षमा मांगी जाय और दूसरों को उनकी भूलों के लिए क्षमा दी जाय।

ये प्रेरणा के स्रोत बन सकते हैं और बिखरे प्रयत्नों को सामूहिक रूप दे सकते हैं।

मैं मेरी भावना और सहयोगियों की सद्भावना के लिए कृतार्थ और कृतज्ञ हूं। अहिंसा के प्रयत्नों की सफलता चाहता हूं।

दिल्ली
अणुव्रत-सेमिनार
२ दिसंबर '५६

११० : अहिंसा विश्वशान्तिदायिन् है

जब तक जीवन-व्यवहार में दम्भ रहेगा, क्षोभ रहेगा, हिंस्य-वृत्तियाँ रहेंगी, तबतक यह कम सम्भव है कि जीवन में शान्ति का समावेश हो सके। शान्ति अहिंसा और संयम पर आधारित है। जिसने मन का संयम किया, हाथ और पैरों का संयम किया, उसे अनायास शान्ति प्राप्त होगी। संयम और अहिंसा का आदर्श वैयक्तिक जीवन को तो मांजते ही हैं, उससे

आगे बढ़ वे सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन में भी शान्ति का स्रोत बहा देते हैं। विश्व-शान्ति इसीसे फलित होगी। अणुबम जैसे खूंख्वार अजगर के मुह में हाथ डाल कोई अमृत प्राप्त करना चाहे तो क्या यह सम्भव है? कदापि नहीं। वहाँ तो एकमात्र गरल ही मिलेगा जिसका फल है विनाश और मृत्यु। यदि संसार शान्ति चाहता है तो उसे अहिंसा के राजपथ पर आना होगा।"

दिल्ली
अणुव्रत-सेमिनार
४ दिसम्बर '५६

१११ : विद्यार्थी एवं अभिभावक आत्मोन्मुखी बनें

वह ज्ञान अज्ञान है जो जीवन के अन्तरतम को छूता नहीं। वह विद्या अविद्या है जो अन्तर-वृत्तियों में परिशुद्धि नहीं लाती। ये वाक्य हमारे भारतीय महर्षियों के हैं, जिनमें प्रेरणा भरी है, ओज भरा है। मैं बहुधा कहा करता हूँ कि विद्याध्ययन का लक्ष्य जीवनोपार्जन नहीं है। ऋषियों के शब्दों में—"**सा विद्या या विमुक्तये।**" उसका लक्ष्य है—विमुक्ति, बुराइयों से 'छुटकारा', अपने शुद्ध स्वरूप में अवस्थान। पर बड़े खेद का विषय है—जीवन का यह महान् लक्ष्य आज आँखों से ओझल होता जा रहा है। तभी तो किताबी पढ़ाई के लिहाज से शिक्षा का अधिक प्रचार होने के बावजूद अन्तर-चेतना की दृष्टि से उसने विकास नहीं किया है।

हम आये दिन सुनते हैं, अमुक स्थान पर विद्यार्थियों ने उद्दण्डता की, उच्छृङ्खलता की, अनुशासनहीनता बरती। यह सब क्यों? सारा वायु-मण्डल ही कुछ ऐसा बना हुआ है। क्या घर में, क्या परिवार के इर्द-गिर्द वे ऐसा ही पाते हैं। आज वातावरण में एक नया आलोक भरना होगा। विद्यार्थियों को अपने जीवन का सही मूल्य समझना होगा। अभिभावकों और अध्यापकों को भी यह समझना होगा कि विद्यार्थी राष्ट्र की सबसे बड़ी सम्पत्ति है। उन्हें अभ्युत्थान और जागृति की ओर ले जाना सब का काम है उसके लिये स्वयं उन्हें अति जागरूक होना होगा।

आज भौतिकवाद सर्वत्र प्रसार पाता जा रहा है। हिंसा से व्याकुलता और आतुरता आदि अशान्तिकारी प्रवृत्तियाँ पनप रही हैं। यही कारण है कि जीवन का महत्त्व आज बाहरी दिखावे में समाता जा रहा है। यदि

अन्तर-जीवन का सच्चा संरक्षण हम चाहते हैं तो इसे रोकना होगा। इसका सबसे अधिक उपयोगी एक ही उपाय है कि बालकों को शुरू से ही अध्यात्म की शिक्षा दी जाए। फलत. वे बहिर्दृष्टि नहीं बनेंगे। बहिर्दृष्टि बनने का अर्थ है—आत्मोन्मुख बनना। जहां आत्मोन्मुखता है, वहाँ बुराइयां नहीं आतीं, कालुष्य नहीं पनपता। जीवनवृत्ति परिमार्जित हो, इसके लिए मैं विद्यार्थियों और साथ-साथ अध्यापकों और अभिभावकों से कहना चाहूंगा कि वे अणुव्रत-आन्दोलन के नियमों को देखें, उन्हें आत्मसात् करें।

दिल्ली
मॉडर्न हायर सेकण्डरी स्कूल
५ दिसंबर '५६

११२ : जीवन का स्तर ऊँचा करें

आज की मानव-दशा बड़ी शोचनीय हो गई है। बहुत कुछ पाने के बाद भी मानव खोया-खोया-सा हो रहा है। रहने के लिए बंगला उसके पास है, चढ़ने के लिये मोटरें हैं। मनोविनोद के लिये रेडियो है और भी बहुत प्रकार के साधन उसने ईजाद किये हैं, पाये हैं। पर यह सब होते हुए भी उसका जीवन अशान्ति की आग में झुलसा जा रहा है। कारण स्पष्ट है। उसने अपने जीने का स्तर बढ़ाया पर जीवन का स्तर नहीं बढ़ाया। जीवन का स्तर भौतिक अभिसिद्धियों से ऊँचा नहीं बनता, वैभव और सम्पदा से नहीं बढ़ता, वह तो सत्य, प्रामाणिकता, नैतिकता, न्याय, और सदाचार से ऊँचा उठता है। ये वे मानवोचित् सद्गुण हैं, जिनके अभाव में मानव केवल कहने भर को मानव है। सच्ची मानवता उसमें नहीं होती। यही मानव-धर्म का सच्चा स्वरूप है। मैं आपको बताता हूँ—अणुव्रत-आन्दोलन इन्हीं विश्व-जनीन आदर्शों को लेकर मानव-जीवन में एक नई प्रेरणा और जागृति लाना चाहता है।

मुझे आश्चर्य होता है, धन, सत्ता, अधिकार और जीवन का गर्व इन्सान कितना करता है। वह यह भूल जाता है कि जिन्हें शाश्वत मान जिनके बल पर वह इतराते नहीं सकुचाता, उनको मिटते क्षण भर भी देर नहीं लगती। तीन रोज पूर्व की एक घटना है। किसी भाई से मुझे यह मालूम हुआ कि डॉ० अम्बेडकर जैन-तत्त्व के सम्बन्ध में जिज्ञासा के लिये मेरे पास आने वाले हैं और जैन तत्त्वों की गहरी जानकारी वे चाहते हैं। पर, थोड़ी देर बाद एक दूसरे भाई से मैंने सुना—डॉ० अम्बेडकर इस संसार में

नहीं रहे। यह है जीवन की क्षणभंगुरता की जीती-जागती मिसाल। संस्कृत के पुराने कवि ने ठीक ही कहा है—आयु हवा के वेग में हिलती पानी की लहर के समान है। इस अशाश्वतपन को देखते प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह जीवन की एकमात्र बहिरंगता में न डूबे उसकी वास्तविकता को समझे। परिग्रह और लोभ के चंगुल से अपने को छुड़ा संयम और संतोष में अपने को मोड़े। यही शान्ति और सुख का सच्चा मार्ग है, यही मानव का वास्तविक धर्म है।

दिल्ली
पहाड़गञ्ज
७ दिसंबर '५६

११३ : राष्ट्र के व्यक्ति-व्यक्ति का चरित्र ऊँचा हो

कहा जाता है आज अणु-युग है, परमाणु-युग है, पर मैं कहूँगा साथ ही साथ आज आलोचना का युग है, असहनशीलता का युग है; अकर्मण्यता का युग है। विद्यार्थी अध्यापकों को कोसते पाये जाते हैं, अध्यापक विद्यार्थियों की आलोचना करते मिलते हैं। सरकार जनता को कोसती है, जनता सरकार को बुरा-भला कहती है। असहिष्णुता इस हद तक बढ़ गई कि उसने मानव के विवेक को अन्धा कर डाला। प्रान्तीय संकीर्ण मनोवृत्ति का कटु रूप हमने देखा। विद्यार्थियों की ओर से समय-समय पर चलनेवाली ध्वंसात्मक कार्यवाहियाँ सब देखते सुनते हैं। यह सब क्यों होता है? कारण साफ है—व्यक्ति का चरित्र बल घटता जा रहा है। यह अत्यन्त आवश्यक है कि राष्ट्र के व्यक्ति-व्यक्ति का चरित्र ऊँचा हो, उसकी संकीर्ण भावना मिटे। यह केवल व्यक्ति तक ही सीमित न रहे वैसा काम वह छोड़े। फलतः अति राष्ट्रीय वृत्ति उन्हें छोड़नी होगी। क्योंकि यह अति राष्ट्रीयता की भावना कहीं-कहीं संकीर्ण प्रान्तीयता को जन्म दे देती है।

एक समय था—भारत ने विश्व का आध्यात्मिक और राजनीतिक नेतृत्व किया। तभी तो भारतीय ऋषि ने गाया—इस देश में उत्पन्न होनेवाले त्यागी और आत्मनिष्ठ साधक से पृथ्वी के सब लोग चरित्र की शिक्षा लें। भारतीयों को आज इससे प्रेरणा लेनी है। आज विश्व की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में शान्ति का सवाल आता है वहाँ भारतीय शान्तिदूतों को याद किया जाता है। भारत को इससे गौरव है। भारत की अहिंसा प्रधान

संस्कृति इससे गौरवान्वित है। भारतीयों से मैं कहूंगा, देश के प्रत्येक नागरिक को चरित्र-शुद्धि के मार्ग पर आना है। अणुव्रत-आन्दोलन चरित्र-शुद्धि का आन्दोलन है। यह कोई एकमात्र जैनों का आन्दोलन नहीं है। जहां जैन-दर्शन में पंच महाव्रत हैं वहां सांख्य, बौद्ध और योगदर्शन आदि में में इनका विविध नामों से निरूपण है। यह वह चीज है जो सम्प्रदाय, लिंग, रंग और जाति भेद से अछूती है। क्योंकि मैंने सोचा—कम से कम एक प्लेटफार्म तो ऐसा हो जहां सब लोग समन्वय के साथ आ सकें।

अणुव्रत-आन्दोलन अति त्याग और भोग के बीच का कार्यक्रम है, जो जन साधारण के जीवन को ऊंचा उठाने की प्रेरणा देता है। यह अहिंसा, सचाई, सहनशीलता के मार्ग पर सब को ले जाना चाहता है। सात वर्षों के अब तक के काम में यह देश-विदेश के अनेक लोगों तक पहुँचा है, अनेकों ने इसे निकट से देखा है। विचारों की विभिन्नता के बावजूद दुनिया के लोग आपस में निकट आ सकें, मैत्री और सद्भाव से रह सकें, इसके लिये मैं चाहूंगा—परस्पर में क्षमा-भावना की वृद्धि हो। अपने प्रति दूसरे के द्वारा किये गये प्रतिकूल व्यवहार को एक व्यक्ति, राष्ट्र अपनी ओर से भुला दें, दूसरे भी वैसा करें। अंग्रेजी में जिसे "फारगेट एण्ड फारगिभ" कहते हैं वह भावना जागे। यह भावना अन्तर्राष्ट्रीय रूप पाये तो विश्व के लिए कितना अच्छा हो। पण्डितजी विदेश जा रहे हैं, इसे और भी वे सोचें।

नई दिल्ली
सप्रू हाउस
१३ दिसंबर '५६

प्रवचन-डायरी, १९५७

आचार्य श्री तुलसी के जनवरी '५७ से दिसम्बर '५७ तक के प्रवचनों का संग्रह)

१ : विद्यार्थी और जीवन-संयम

शरीर की स्वच्छता के लिए जैसे पानी और साबुन की जरूरत होती है, उसी तरह जीवन की स्वच्छता के लिए, अन्तरतम के परिमार्जन के लिए धर्म की आवश्यकता है। उस धर्म का सत्य-स्वरूप बाहरी प्रदर्शन और दिखावे में नहीं है। वह तो जीवन में सत्य, शौच, शील, विनय, सद्भावना और मैत्री जैसे सद्गुणों के संकलन में है। यही वे आदर्श हैं जो आज के विशृङ्खल, अस्त-व्यस्त और मूर्च्छित लोक-जीवन में एक शृङ्खला, स्थिरता और चेतना पैदा कर सकते हैं। बालकों में ये सुसंस्कार बचपन से ही भरे जाने चाहिए ताकि आगे चलकर उनके जीवन में ये दृढ़ता से जम जाएँ।

भगवान् महावीर से शिष्य ने पूछा—"भगवन्! मैं कैसे चलूं? कैसे बैठूं? कैसे सोऊँ? कैसे बोलूं? कैसे खाऊँ? जिससे मेरा जीवन पतन की ओर न जाये?" भगवान् महावीर बोले, "यत्ना—संयतता—जागरूकता से चलो, स्थिर रहो, बैठो, सोओ, बोलो, खाओ, इससे तुम्हारा जीवन पतन की ओर नहीं जायेगा।" इन थोड़े से वाक्यों में जीवन की दिशा है, गन्तव्य पथ है। भगवान् महावीर की भाषा में विद्यार्थियों से कहना चाहूंगा कि उन्हें अपनी जीवन-वृत्तियाँ अधिकाधिक संयमित और अनुशासित करनी है।

पिलानी,
१७ जनवरी, '५७

२ : सा विद्या या विमुक्तये

प्रत्येक आत्मा अपरिमित ओज और अनन्त शक्तियों का केन्द्र है। उसमें परमात्मपन छिपा पड़ा है। पर वह प्रकट कब हो? जब कि उन आवरणों को दूर किया जाय, जिन्होंने उसके मौलिक गुणों को आच्छन्न कर रखा है। यह एक सत्य है, जिसे सदा से हमारे देश के ऋषि-महर्षि गाते आये हैं, पर आज लोग इसे भूलते जा रहे हैं, उनकी निष्ठा डगमगा उठी है। आज के तथाकथित-भौतिक विकास के युग में इसे सबसे बड़ा ह्रास और अधःपतन मानता हूँ। सत्य के प्रति अविश्वासी और निष्ठाहीन बनना ही तो नास्तिकता है। जन्मते ही अपनी माँ से बिछुड़े और बकरियों के झुण्ड में पले-पोसे उस शेर के बच्चे की सी हालत आज मानव की हो

गई है जो अपनी अदम्य शक्ति और दुर्धर्ष शौर्य्य को भूल दूसरे शेर की दहाड़ सुन बकरी के बच्चे की तरह थर्रा उठा था पर ज्योंही उसे अपना भान हुआ, उसका शौर्य्य निखर उठा। यह समझकर मानव को अपने ऊपर हावी होने जा रहे इस नास्तिकता के भीषण प्रवाह का अवरोध करना है। विद्यार्थियों को इससे शुरू से ही बचाया जाय, इसकी सबसे बड़ी आवश्यकता है।

विद्यार्थियों एवं शिक्षा-प्रेमियों के बीच रहते मुझे स्वर्गीय आनन्द की अनुभूति होती है। यही कारण है कि पिलानी जैसे विशाल विद्या-क्षेत्र में आने का पिछले लम्बे समय से मेरा विचार था पर आना बन नहीं सका। मैं आपसे स्पष्ट कहना चाहूँगा—मैं स्वयं अपने को विद्यार्थी समझता हूँ। वस्तुतः मनुष्य जीवन भर विद्यार्थी है. अनन्त ज्ञान-राशि जो सीखने को उसके सामने है। मैं आपको कोई नयी बात नहीं बताने आया हूँ। मैं तो उन्हीं सत्य, अहिंसा और संयम-मूलक शाश्वत आदर्शों की चर्चा आपके समक्ष करूँगा, जो युग-युग से विश्व के महापुरुष हमें देते रहे हैं।

विद्यार्जन का लक्ष्य केवल उदरपूर्ति और परिवार-पोषण नहीं है। यदि ऐसा होता तो कीट-पतंगे और पशु-पक्षी, जो येन-केन-प्रकारेण अपना पेट भर लेते हैं, मनुष्य के समकक्ष माने जाते। पर बात कुछ दूसरी है। मनुष्य चिन्तनशील प्राणी है। अन्तर-मन्थन और अन्तर-गवेषणा की क्षमता उसमें है। इसलिए उसने यह निष्कर्ष पाया कि विद्या का सही लक्ष्य है—अपने आपको सुसंस्कृत बनाना, शान्ति और अन्तःतुष्टि के सच्चे मार्ग को पाना और उस पर चलने की योग्यता हासिल करना। ऋषिवाणी में प्राप्त होने वाला—"सा विद्या या विमुक्तये" का सुमधुर घोष यही तो हमें बताता है कि जिससे जीवन बन्धन से मुक्ति पाये, कठिनाइयों को पार करने की शक्ति अर्जित करे, सत् लक्ष्य तक पहुँचने की क्षमता हासिल करे, वह विद्या है। खेद है कि आज के विद्यार्थी का मानस इस आदर्श से परे होता जा रहा है। भौतिकवाद की भूलभुलैया में वह इस तरह ग्रस्त हुआ जा रहा है कि उसे आत्मत्व का भान तक नहीं रहा है। मैं इस सुषुप्ति से उसे जगाना चाहता हूँ। इसलिए मैं जहाँ भी जाता हूँ, विद्यार्थियों से कहता हूँ 'वे अपने जीवन की इन अमूल्य घड़ियों को सद्ज्ञान और उसके अनुरूप सत्-क्रिया अर्थात् विनय, अनुशासन, शील, सौजन्य और सद्गुणों के अर्जन में लगायें।'

विद्यार्थी का जीवन एक साधक का जीवन है। उसे हर समस्या को सुलझाने के लिए विवेक से काम लेना है। जब संसार की बड़ी-से-बड़ी समस्याओं को सुलझाने में आपसी विचार-विमर्श और समझौते की नीति से

काम चल सकता है तो क्या वे अपनी समस्याएँ इस प्रकार नहीं सुलझा सकते? इसलिये मैं कहना चाहूँगा विद्यार्थी तोड़-फोड़-मूलक ध्वंसात्मक कार्रवाइयों में कभी न उलझें। उन्हें अपने जीवन का निर्माण करना है। वे जीवन-शुद्धि-मूलक रचनात्मक कामों में अपने को जोड़ें।

इन बालिकाओं का यह खिला हुआ जीवन उस नन्हें से बट-बीज जैसा है, जो आगे चलकर विशाल वृक्ष के रूप में प्रस्फुटित हो जाता है। पर उस बीज को यथेष्ट वायु, जल, खाद, आदि न मिले तो वह मुरझा जाता है, यही बात बालक-बालिकाओं के लिए है। यदि इस गौरवमयी सम्पत्ति के संरक्षण, संवर्द्धन और विकास की उपयुक्त व्यवस्था नहीं होती तो ये खिले हुए फूल विकास पाने के बदले मुरझा जाते हैं। अध्यापक तथा अध्यापिकाओं का यह सबसे पहला और आवश्यक कर्त्तव्य है कि वे बालक-बालिकाओं के जीवन में अनुशासन, शील, मैत्री और आत्म-विश्वास आदि सुसंस्कार भरने को सतत जागरूक रहें। इसके लिए उनके अपने जीवन की सुसंस्कारिता सबसे पहले आवश्यक है। उनका जीवन छात्र-छात्राओं के लिए एक खुली किताब होना चाहिए, जिससे वे उनसे जीवन-निर्माण की मूर्त एवं सक्रिय प्रेरणा ले सकें।

लोग अनैतिक और अशुद्ध वृत्तियों की ओर धड़ाधड़ बढ़ते जा रहे हैं, इसकी मुझे इतनी चिन्ता नहीं जितनी कि लोगों की यह निष्ठा और आस्था मिटती जा रही है कि नैतिकता, सच्चाई और अहिंसा से व्यावहारिक-जीवन में काम नहीं चल सकता—इस बात की है। यह नास्तिकता है। जीवन-तत्त्व की विस्मृति है। बालिकाओं में ऐसी भावनाएँ न जमने पाएँ, ऐसा प्रयास अध्यापिकाओं को करना है। बहनों से मैं कहना चाहूँगा कि वे अपने को पुरुषों से हीन न समझें। अपने को हीन समझना आत्म-शक्ति को कुण्ठित करना है। वास्तव में उनमें यह अदम्य उत्साह और अपरिमित शक्ति है, जो विकास के पथ पर आगे बढ़ने में उन्हें बड़ी प्रेरणा दे सकती है।

कहते बड़ा खेद होता है कि आज राष्ट्र में नैतिकता का दुर्भिक्ष आता जा रहा है। ईमानदारी, विश्वास और मैत्री की अनेक परम्पराएँ टूटती जा रही हैं। इस नैतिक दिवालियापन से जन-जीवन आज खोखला हुआ जा रहा है। यदि अनीति और अनाचार के इस चालू प्रवाह को रोका नहीं गया तो कहीं ऐसा न हो कि अनैतिकता का यह भयावह दानव मानवता को निगल जाये। इन टूटती हुई नैतिक और चारित्रिक शृङ्खलाओं को सहारा मिले, लोकजीवन में सत्य, निष्ठा और ईमानदारी का समावेश हो, इसके लिए अणुव्रत-आन्दोलन के रूप में चारित्रिक उद्बोधना का काम हम

चला रहे हैं। प्राध्यापक, लेखक, शिक्षाशास्त्री, जैसे बौद्धिक क्षेत्र के लोग राष्ट्र के मस्तिष्क हैं। राष्ट्र के जीवन को तथाकथित वितथ विकास के बदले सही विकास और अभ्युत्थान के मार्ग पर ले जाने का बहुत बड़ा उत्तरदायित्व उनपर है। इसलिए मैं चाहूंगा कि चारित्रिक जागृति के लक्ष्य को लेकर चल रहे अणुव्रत-आन्दोलन के बहुमुखी कार्यों में वे सहयोगी बनें। दूसरे लोगों तक पहुँचाया जाये, इससे पहले यह आवश्यक होता है कि व्यक्ति स्वयं अपने जीवन को उन आदर्शों के अनुकूल बनाये। अध्यापकों से मैं कहना चाहूंगा कि वे सत्यनिष्ठा, प्रामाणिकता और निर्भयता—इन तीनों बातों को अपने जीवन में उतारें। यदि ऐसा वे कर पाये तो उनका स्वयं का जीवन तो सही माने में प्रगतिशील बनेगा ही, राष्ट्र के सहस्रों नौनिहाल जिनके जीवन-निर्माण का कार्य उनके हाथों में सौंपा गया है, उन्हें भी वे उन्नतिपथ की ओर ले जा सकेंगे। राष्ट्र के समक्ष वे मूर्त आदर्श उपस्थित कर सकेंगे।

"जैन-दर्शन-चिन्तन" अनेकान्तवाद पर आधारित है, जो विश्व की समस्त विचार-धाराओं के समन्वय और सामंजस्य का समुचित पथ प्रस्तुत करता है। वह बताता है कि एक ही वस्तु को अनेक अपेक्षाओं अथवा दृष्टियों से परखा जा सकता है। क्योंकि अनेक अपेक्षाओं को जब लेते हैं तो उसके निरूपण में भी आपेक्षिक अनेकविधता का आना सहज है। यह अनेकविधता संशयोत्पादक नहीं है। यह तो वस्तु के बहुमुखी स्वरूप का निरूपक है। हाथी के विविध अंग-प्रत्यंगों को लेकर अपने-अपने द्वारा अनुभूत अंग-विशेष को हाथी कहकर लड़नेवाले उन अन्धों की कहानी सुप्रसिद्ध है, जिनको किसी नेत्रवान् ने उसी हाथी के भिन्न-भिन्न अंगों का अनुभव कराकर बताया था कि जिसे वे हाथी कह रहे हैं, वह तो उसका एक-एक अंग है, हाथी तो उन सब अंगों का समवाय है। जैन-दर्शन यही तो कहता है कि वस्तु के एक पहलू को लेकर दुराग्रही मत बनो, लड़ो नहीं, उसे एकान्तिक तथ्य मत समझो। दूसरी अपेक्षाओं से भी वह परखा जा सकता है। और उस परख से निकलनेवाला निष्कर्ष पहले से भिन्न भी हो सकता है क्योंकि यह अपेक्षा या दृष्टि पहली से भिन्न है। जैसे एक व्यक्ति किसी का पिता है, पर साथ ही साथ वह किसी का पुत्र भी तो है, भाई भी तो है, पति भी तो है। कहने का तात्पर्य यह है कि उसमें पितृत्व, पुत्रत्व, भ्रातृत्व आदि अनेक धर्म हैं। यही जैन-दर्शन का स्याद्वाद है जो विश्व की सारी उलझी समस्याओं के हल का अन्यतम साधन है।

पिलानी,

१८ जनवरी, '५७

३ : संयमी गुरु

आज संसार की स्थिति विषम है। संसारी संसार में इस तरह फँसे पड़े हैं, मानो कोई अनुचित कार्य करनेवाला अभियोगी कारागार में जकड़ दिया गया हो। आज के मानव की हालत मकड़ी के जाल में फँसी मक्खी के जैसी हो रही है। ज्यों-ज्यों वह निकलने का प्रयत्न करता है, त्यों-त्यों अधिक फँसता जाता है। फँसने से पहले बचना सहज है, पर फँसने के बाद निकलना उसके हाथ की बात नहीं।

कहीं गहरा कीचड़ है। उसमें कोई बड़ा जानवर जैसे हाथी या भैंस फँस जाये, और निकलने की कोशिश करे तो निकल नहीं सकता उल्टे अधिक फँसता जाता है; और कोई निकालना भी चाहे तो ऐसा-वैसा व्यक्ति नहीं निकाल सकता। उसे तो बहुत मजबूत व्यक्ति ही निकाल सकते हैं। जिस प्रकार पानी में डूबते मनुष्य को बचाने के लिए अनजान व्यक्ति जाये तो बचाने से पहले वह खुद ही डूब जाता है। उसे निकालने के लिए तैराक मनुष्य की आवश्यकता होती है। "आप डूबतो पांडियो, ले डूब्यो जजमान"। उसी प्रकार घोर अनैतिकता में फँसे मानव को निकालने के लिए भी ताकतवर, तपस्वी, संयमी गुरु की आवश्यकता है जो अपने तपोबल के आधार पर, त्याग के बल पर नीतिभ्रष्ट मानव को कीचड़ से निकाल सके। पर दुःख के साथ कहना पड़ता है कि आज गुरु, त्यागी गुरु, हैं कहाँ? त्याग के दर्शन दुर्लभ हो गये। गुरु नाम धरानेवालों के यदि कारनामे देखे जायें, तो आँखों में पानी आ जायेगा। उसे सुनने के लिए कान बहरे हो जायेंगे। जो गुरु त्याग का उपदेश करते थे, वे आज हाथ पसारते हैं। हाय! अगर बाड़ ही ककड़ी को खाने लग गयी तो उसकी रक्षा कौन करेगा? त्यागी जब हाथ पसारने लगे तो क्या त्याग का उपदेश भोगी करेंगे? उन सन्तों से कहीं अधिक दोषी मैं तो आपलोगों को मानता हूँ। आप जानते हैं कि वे ऐसे हैं, फिर भी उन्हें बढ़ावा देते हैं, प्रोत्साहन देते हैं, सन्मान देते हैं।

मुझे तो ऐसा लगता है कि जो सन्त, गुरु "पैसा पाप का मूल है" एक तरफ तो ऐसा कहते हैं और दूसरी तरफ "पुण्य करो, धर्म करो"—यानी हमें दे दो कहते हैं वे असद् गुरु हैं। गृहस्थ धन का संग्रह करे, अर्जन करे तो करे क्योंकि उसे अपना गार्हस्थ-जीवन चलाना है, अपने परिवार का पोषण करना है, पर साधु, गुरु, सर के ताज वे धन लेकर क्या करेंगे? किसलिए चाहिए उन्हें पैसा?

जो धन आवश्यकता-पूर्ति का साधन था, वही आज तो मनुष्य का प्राण बन गया है। न्याय-अन्याय, जायज-नाजायज, हक-बेहक जैसे भी हो, जो कुछ भी करना पड़े, अपने शरीर की चमड़ी भी जाय, मानवता को तिलाञ्जलि दे देना मञ्जूर है, अबलाओं की लाज चली जाय, पर उन्हें तो चाहिए पैसा। क्योंकि पैसा उनका प्राण है। वे पैसे के लाल इतना भी नहीं सोचते कि उस पैसे से आखिर होगा क्या? राजस्थानी में एक कहावत है "पूत सपूतां क्यों धन संचै पूत कपूतां क्यों धन संचै" यानी अगर पुत्र सुपुत्र है तो वह अपने आप अपने पैरों पर खड़ा हो जायेगा, तुझे उसके लिए क्या चिन्ता है। अगर वह कपूत है तो जोड़े-जुड़ाये धन पर पानी फेर देगा और बदनाम करेगा तुझको।

मैंने कई उदाहरण ऐसे देखे हैं कि घर में धन का ढेर पड़ा है, पर खानेवाला कोई नहीं है। आखिर रहा दुःख का दुःख। इसी धन के लिए, जिसे आप अपना मानते हैं, पुत्र-पिता, भाई-भाई, पति-पत्नी अदालतों के दरवाजे खटखटाते हैं। इस धन के लिए प्रेमियों का प्रेम, स्नेहियों का स्नेह, सम्बन्धियों का सम्बन्ध, मित्रों की मित्रता सब समाप्त हो जाती है। एक तरफ पिता कहता है कि चाहे मुकदमे में लाख रुपये स्वाहा हो जायें पर बेटे को एक दमड़ी भी नहीं दूंगा। दूसरी तरफ पुत्र कहता है चाहे मेरे हाथ कुछ भी न लगे पर एक बार तो पिताजी को गहने (बेड़ियां) पहना कर ही छोड़ूंगा।

ऐसी परिस्थिति मे मनुष्य चारों ओर से झगड़ा, कलह, ईर्ष्या, द्वेष और मनोमालिन्य के दल-दल में अन्त तक गड़ा पड़ा है! वह निकलना भी चाहता है, पर निकले कैसे? उसे निकलने के लिए सहारा चाहिए। वह सहारा उनको अणुव्रत-आन्दोलन देगा। यही उनके जीवन को हल्का बनायेगा।

चूरू

४ : गणतंत्र दिवस का सन्देश

आज हम दो महीने की अल्पकालीन दिल्ली-यात्रा सम्पन्न कर सानन्द सरदारशहर आ रहे हैं। हम तो हर समय यात्रा करते ही रहते हैं। जिनका जीवन ही यात्रामय है, वे क्या तो यात्रा प्रारम्भ करें और क्या समाप्त? पर कोई विशेष लक्ष्य को लेकर जाते हैं, तब यात्रा शुरू मानी जाती है।

जब मैं यहाँ से गया था, तब भी आप सब स्नातकों से मिल कर गया था और आज यात्रा सम्पन्न कर वापस आ रहा हूँ, तो वापस आपलोगों से मिल रहा हूँ, इसकी मुझे खुशी है। आप सबको देखकर पिलानी के विद्यापीठ की सहज याद हो आती है। वहाँ पर मैंने एक विशेष बात देखी। वह यह कि वहाँ के स्नातकों, अध्यापकों व प्रोफेसरों में एक नयी जिज्ञासा, स्फूर्ति व चेतना थी। हम वहाँ चार दिन रहे, पर इस अल्प समय में भी विद्यार्थियों ने बहुत कुछ सीखा पाया। दिल्ली में नेता लोग कहते थे कि आपलोगों को तरुणों में काम करना चाहिए। पिलानी में हमने वही कार्य किया।

आज २६ जनवरी है। आज सारे भारत के नागरिकों में एक नया उत्साह, उमंग व जोश है। यह क्यों? क्योंकि आज के दिन भारत सैकड़ों वर्षों की गुलामी की जंजीरों को तोड़कर आजाद हुआ, विदेशी हुकूमत उसपर नहीं रही। पर उसने तो केवल ऊपरी जंजीरों को तोड़ा है, अन्दर की जंजीर जो कि क्रोध, मान, माया और लोभ से शृंखलित हो रही है उसको उसने अभी तक नहीं तोड़ा है, अब हमें उसी जंजीर को तोड़ना है। आज देश का आध्यात्मिक-धरातल ऊँचा नहीं है और भौतिक दृष्टि से भी देखें तो वह अन्य देशों से पीछे ही है। आज देश को आध्यात्मिक व भौतिक दोनों तरह की दुविधाओं से मुकाबला करना है। पर हमें इन दुविधाओं से घबराना नहीं है। घबराना कायरता है, हिंसा है। हमें उन सब से लोहा लेना है।

गणतंत्र-दिवस को मनाने का यही मतलब है कि व्यक्ति अपने जीवन को टटोले, जीवनमें पड़ी खाइयों को मिटाये। आज राष्ट्रों के आपसी तनाव बढ़ रहे हैं। हिंसा के काले बादल मँडरा रहे हैं। हिंसा मानव को निगल रही है। पर आखिर यह सब क्यों? इन सबका एक ही कारण है कि व्यक्ति ने दूसरों के सुखों को लूटने की कोशिश की और कुछ हद तक सफल भी हुआ। पर याद रखिये आप दूसरों के सुखों को लूटकर खुद सुखी नहीं बन सकेंगे। अगर आपको गणतंत्र-दिवस सफल बनाना है तो उसकी भूमिका चरित्र पर आधारित करनी होगी।

सरदार शहर,
२६ जनवरी, '५७

५ : अणुव्रत-आन्दोलन क्यों ?

अणुव्रत-आन्दोलन लगभग ७ वर्षों के बाद देशव्यापी रूप में सामने आ रहा है और जनता ने इस बात को माना है कि अणुव्रत-आन्दोलन आज के इस युग के लिए खुराक है। हजारों दृश्य, चाहे वे कितने भी सुन्दर क्यों न हों, आपके सामने आ जायेंगे, पर क्या उनसे आपकी भूख मिट जायगी ? भूख तो खाद्य-पदार्थ मिलने पर ही मिटेगी। इसी तरह आज देश में जो चरित्र और नैतिकता की भूख है, उस भूख को मिटाने के लिए सचमच यह आन्दोलन खुराक का काम करता है। अभी जब मैं दिल्ली गया था, तब वहां के नेताओं व नागरिकों ने इस बात को मंजूर किया था कि अगर देश में नैतिक कार्य करनेवाला कोई आन्दोलन है तो वह अणुव्रत-आन्दोलन है। यह आन्दोलन एक बहुत बड़ी दार्शनिक पृष्ठभूमि पर टिका हुआ है। जिस प्रकार एक विशाल भवन के लिए मजबूत नीव की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार अणुव्रत-आन्दोलन का प्रासाद सत्य और अहिंसा के विशाल और मजबूत खम्भों पर टिका हुआ है।

हमारे सामने प्रश्न होगा—अणुव्रत-आन्दोलन हमारे लिए क्यों आवश्यक है, किसलिए आवश्यक है ? समाधान होगा—यह आस्तिकों को बचाने का कार्य कर रहा है, आस्तिकों को उनकी आस्तिकता पर टिकाये रखनेवाला है और नास्तिकों को आस्तिक बनाता है। पर खेद का विषय है कि आज केवल आस्तिकवाद की चर्चा चलती है, उसकी प्रशंसा के पुल बांधे जाते हैं, पर वास्तविक आस्तिकता वहां कहां है ? क्या नीति और चरित्र पुस्तकों में बन्द रहते हैं, दुकानों और बाजारों में बिकने के लिए हैं। अगर हमें आस्तिकता को और आस्तिकों को अच्छी तरह समझना है, उसके वास्तविक रूप का दर्शन करना है, तो धर्म, जो कि आज पुस्तकों, मंदिरों और मठों में बन्द है, उसे अपने जीवन में लाना होगा, अपने जीवन में उनका साक्षात्कार करना होगा। बिना जीवन में उतारे केवल आस्तिकवाद की दुहाई देने से क्या होनेवाला है। आज दम्भी, चोर, बेईमान, जुआरी सभी यही कहते हैं कि सत्य बहुत अच्छा है, उसे अपने जीवन में लाना चाहिए, उसके लिए प्रशंसा के पुल बांधते हैं और उन्हें असत्य से चिढ़-सी है। पर उनके जीवन में सत्य ने छुआ तक नहीं है। बड़े दुःख का विषय है कि आज सत्य के साथ खिलवाड़ हो रहा है। आज आस्तिक लोग भी वास्तविक आस्तिकता से परे हैं। अणुव्रत-आन्दोलन का पहला पक्ष यही है कि वह वास्तविक आस्तिकता का दिग्दर्शन कराता है।

आप सबसे पहले आत्म-द्रष्टा बनें, आत्म-निरीक्षण का पाठ सीखें। अपने आपको देखने के लिए उपदेश की आवश्यकता नहीं है। दूसरे की हजार गलतियाँ भी चुभती हैं और अपने में लाख गलतियाँ भी नहीं के बराबर लगती हैं। आज की यह सबसे बड़ी कमी है। अणुव्रत-आन्दोलन का दूसरा पक्ष है कि वह व्यक्ति को आत्म-द्रष्टा बनाता है।

अणुव्रत-आन्दोलन की चर्चाएँ बहुत चलीं, सब जगह इसका एक वातावरण बना, पर कहीं "दिये तले अँधेरा" यह उक्ति चरितार्थ न हो जाये। यह बहुत बड़ी निराशा की चीज है। आज इसे धन-जन की आवश्यकता नहीं है। इसे आवश्यकता है आत्मबल और पुरुषार्थ की, इसके पीछे अपने जीवन झोंक देनेवाले कार्यकर्ता चाहिए। पर यह कमी अभी भी है। अब आपलोगों को अपने आस-पास में ऐसा सुन्दर वातावरण बनाना चाहिए कि कम-से-कम प्रत्येक व्यक्ति आन्दोलन के उद्देश्यों, नियमों व कार्यों से अच्छी तरह परिचित हो जाये। एक बहुत बड़ा कार्य होगा। आपको अपने जीवन में इस कार्य को प्रमुख स्थान देना होगा। अपने कार्यों की सूची में इसे भी मान लेना होगा। अगर आप ऐसा करेंगे तो आप स्वयं कार्यकर्ता बन जायेंगे।

आज यह कहनेवाले बहुत से लोग मिलेंगे कि आपने अपनी इस यात्रा में बहुत कठिन परिश्रम किया। २०-२० मील का लम्बा बिहार किया। पर केवल इन बातों के कहने मात्र से कुछ नहीं होनेवाला है। अगर आपको मेरे प्रति सहानुभूति है तो, मेरी जिम्मेवारी में, मेरे कार्यों में हाथ बटायें।

बहनों को भी यह समझना है कि केवल प्रशंसा की झड़ी लगा देने से कुछ नहीं होनेवाला है। उससे हम खुश होनेवाले नहीं हैं। अगर आपको कुछ करना है तो अणुव्रत-आन्दोलन के इस पथ को यथाशक्ति अपनायें।

अब मैं दो बातें कार्यकर्त्ताओं से भी कहूँगा—आपलोग अब मनन, चिन्तन और विचार को छोड़ साधना में लगें। कहीं विचार व मनन करते-करते विचार-कुंठित न बन जायें। कार्यकर्त्ता वही बन सकता है जो अपने दिमाग को कम और पुरुषार्थ को ज्यादा खर्च करता है।

आज अपनी भूमि उर्वर हो गयी है। अब तो उसमें बीज बोनेवालों की आवश्यकता है। अणुव्रत-आन्दोलन के प्रसार में ही सत्य और अहिंसा का प्रसार है।

मैं आपसे यह नहीं कहता कि कार्यकर्त्ता सब कुछ छोड़कर इस कार्य में लगें। क्योंकि आखिर आप गृहस्थ हैं। पर, कुछ समय अवश्य दें।

दूसरी बात मैं अणुव्रती-कार्यकर्त्ताओं से यह कहूँगा कि वे केवल प्रवाह

में न बह जायें। उन्हें "ले भागूं" की नीति नहीं बरतनी है। यह नहीं कि कहीं से कुछ मिला, उसे अपना लिया। हाँ, कहीं कुछ ग्राह्य चीज मिलें, तो उन्हें लेना चाहिए, पर हर बात की नकल नहीं करनी चाहिये।

कार्यकर्त्ताओं ने यह अणुव्रती कार्यकर्त्ता शिक्षण-शिविर रखा, अगर कार्य रूप में परिणत हुआ तो बहुत अच्छा है, नहीं तो इस पर चिन्तन हुआ, इसलिए अच्छा है ही। इसी के साथ में मैं अपना मंगल-प्रवचन समाप्त करता हूँ।

सरदार शहर,
२ फरवरी, '५७

६ : भिक्षु कौन?

शास्त्रों में भिक्षु के जीवन का वर्णन करते हुए बताया है कि—

(१) भिक्षु को क्रोध, मान, माया और लोभ को छोड़ने की साधना करनी चाहिए। यह ठीक है कि इन दुर्गुणों को छोड़ कर कोई एकदम वीतराग नहीं बन सकता पर साधना में अपना जीवन झोंक देना चाहिए।

(२) आप्त-पुरुषों की वाणी में ध्रुव-योगी हो भगवान् द्वारा बताये गये तत्वों में श्रद्धा रखनी चाहिये। श्रद्धा के बिना चरित्र और आचार शुद्ध नही रहता। संयमी वही रह सकता है, जिसकी श्रद्धा संयम मे हो।

जो व्यक्ति प्रतिमा का पूजन करते हैं, उनकी यही मान्यता है कि भगवान में हमारी पूर्ण श्रद्धा है, पर यह प्रतिमा भगवान नहीं है। प्रतिमा के दर्शन करने से भगवान् में जो गुण थे, उनका हृदय में साक्षात्कार हो जाता है।

(३) जो अकिंचन है, जिसके पास खाने के लिए रोटी नहीं है, पहनने के लिए कपड़ा नहीं है, रहने के लिए मकान नहीं है, फिर भी वह भिखमंगा नहीं है, क्योंकि उसने उन सबका मोह छोड़ा है, पर भिखमंगा उनको पाने के लिए दर-दर ठोकरें खाता है। जहाँ एक ओर दुनिया ने पैसे को भगवान् माना, दूसरी ओर साधु ने जो पैसा उसके पास था, उसको भी लात मारी। आखिर विजय भिक्षुओं की हुई। दुनिया ने धन-कुबेरों को नहीं पूजा, त्याग और संयम को पूजा है। अगर कहीं है भी, तो वह किसी न किसी स्वार्थ से।

लोग श्रद्धा-भरे वाक्य-पुंज हमारे सामने रखते हैं। पर हमें उनको सुन कर खुश नहीं होना है। हाँ, वे श्रद्धा से युक्त वाक्य उनके लिए

अच्छे और कल्याणकारी हो सकते हैं, पर हमारे लिए खतरा भी पैदा कर सकते हैं।

लोग कह देते हैं कि साधुओं को बड़े-बड़े नेताओं से मिलने की क्या आवश्यकता है? बात सही है, साधुओं के लिए क्या नेता और क्या साधारण व्यक्ति? पर क्या उनके नेता होने से वार्तालाप भी नहीं करना चाहिए। उनसे विचार-विनिमय करने का हमारा प्रमुख लक्ष्य यही रहता है कि अगर कोई, देश का नेता, जिसके हाथ में लाखों और करोड़ों व्यक्तियों की बागडोर है, जिस पर उनकी श्रद्धा है, हमारी बात को अच्छी तरह समझ जाये तो अन्य व्यक्तियों को समझाने में सहूलियत रहती है।

(४) भिक्षु को सोना और चाँदी नहीं रखना चाहिए क्योंकि सोना-चाँदी परिग्रह है और भिक्षु परिग्रह का परित्याग करता है।

(५) जो गार्हस्थ्य योगों को छोड़कर रहता हो, वह न तो शादी कर सकता है, न व्यापार, और न अन्य कोई सावद्य कार्य।

भिक्षु को इन बातों का पालन करना चाहिये।

बहुत से आज के बुद्धिजीवी यह कहते है, कि साधु समाज पर भार स्वरूप हैं, उन्हें खेती आदि कार्य करने चाहिए। मगर मैं उनसे यह कहूँगा कि यदि सारे के सारे व्यक्ति खेती करने लग जायेंगे तो क्या अन्य कार्य ठप्प नहीं हो जायेंगे? भौतिक वस्तुओं की अपेक्षा आज देश को अधिक आध्यात्मिकता व नैतिकता की आवश्यकता है।

सरदार शहर,
७ फरवरी, '५७

७ : मर्यादा-महोत्सव

मर्यादा-महोत्सव के प्रस्तुत अधिवेशन के यहाँ होने का मुख्य श्रेय श्रीमन्त्री मुनि को है, जिनके लिए हम सभी यहाँ आये हैं। मर्यादा-महोत्सव संघीय कार्यक्रमों एवं प्रयासों का एक बहुत बड़ा प्रेरक सूत्र है। तेरापन्थ के आद्य मस्तक परमाराध्य आचार्यश्री भिक्षु के द्वारा शासन-व्यवस्था, आचरण-नियमन एवं ऐक्य परम्परा को उद्दिष्ट कर प्रवर्तित मर्यादाओं का यह एक मूर्तिमान रूप है।

तेरापन्थ भगवान् महावीर के पश्चाद्वर्त्ती संघों में अन्तिम संघ है। इसके बाद कोई दूसरा संघीय संगठन नहीं बना। इसकी अपनी विशेषताएँ है, जो आध्यात्मिक जीवन को परिपोषण देने के साथ-साथ व्यापक और उदार रूप

में लोगों को उधर अग्रसर होने की प्रेरणाएँ देती हैं। एक समय था—धार्मिक जगत् में निराशा का एक धूमिल वातावरण छाया था। लोगों में बड़ी बेचैनी थी। अध्यात्म की भूख को परितृप्त करने का सही साधन उन्हें नहीं मिल रहा था। आचार्य भिक्षु ने उन्हें दिशा दी, भगवान् महावीर के आदर्श जिन्हें लोग भूलते जा रहे थे, शुद्ध रूप मे लोगों के समक्ष रखा। उन्हें आध्यात्मिक खुराक दी। जनता को परित्राण मिला। धर्म-साधना के पथ पर आगे बढ़ने का एक सम्बल उन्होंने पाया।

महापुरुषों का आविर्भाव कोई सम्प्रदाय या पंथ को चलाने के लिए नहीं होता। वे लड़खड़ाते जीवन को एक सहारा देते हैं। उसे जागृत होने और विकासोन्मुख होने को प्रेरित करते हैं। एक पवित्र दिशा-दर्शन देते हैं। लोगों के लिए वह एक पंथ बन जाता है। तेरापंथ का नामकरण भी आचार्यश्री भिक्षु का किया हुआ नहीं है। यह तो लोगो ने तेरह की संख्या देखकर दिया। जिसका आचार्यश्री भिक्षु ने पर्यायान्तर से व्यापक अर्थ करते हुए प्रगट किया कि हे प्रभो! यह तेरा—यानी आपका पंथ है। अतः वस्तुस्थिति तो यह थी—आचार्य भिक्षु स्वयं पथस्रष्टा नहीं बल्कि एक महान् पथिक थे, जो अध्यात्म के पावन पथ पर अडिग और निश्चल भाव से चलते रहे तथा औरों को भी एकाग्र मन से उस पर चलने की प्रेरणा देते रहे।

जैसा कि आरम्भ में मैंने कहा—उस समय धार्मिक शृङ्खलाएँ टूटती जा रही थी। आचार-शैथिल्य और विचार-वैशृङ्खल्य का सर्वत्र दौर दौरा था। धर्म जो संयम और अध्यात्म की अराधना में है, तपस्या और शुद्ध दिनचर्या में है, उसका लोग व्यावहारिक आवश्यकता पूर्ति और स्वार्थ साधन के साथ अनुचित ग्रन्थि बंधन कर रहे थे। यह श्रेयस्कर नहीं था। व्यावहारिक जीवन, सामाजिक परम्परा—इनका अपना स्थान है, धर्म का अपना। धर्म इनमें परिष्कार और परिमार्जन ला सकता है। इसलिए धर्म का उन पर प्रभाव और व्याप्ति अवश्य रहे परन्तु दोनों को एक नहीं किया जा सकता। दोनों में मौलिक भेद है। दोनों को एक करने से दोनों ही अस्त-व्यस्त हो उठते हैं। धार्मिक जगत् में यह विषम परम्परा पनपी क्यों? इसपर भी हमें सोचना है। एक समय था—सामाजिक शृङ्खलाएँ टूटने लगीं, सामाजिक स्तर और व्यवस्था छिन्न-भिन्न होने लगी। सामाजिक परम्पराओं को लोग भुलाने लगे। तब लोगों ने दूसरा उपाय न सोच अध्यात्म के साथ इनका अनुचित गठबंधन कर दिया। सामाजिक उत्तरदायित्व और कर्त्तव्य के साथ उन्होंने धर्म का प्रलोभन जोड़ दिया। यह उचित नहीं हुआ। वहाँ दृष्टि-वैपरीत्य था। वस्तु-तत्त्व को यथावत् रखने के बदले सामयिक व्यवस्था

पूर्ति के लिए उठाया गया यह कदम आगे चलकर कितना विपरीत अर्थकारी सिद्ध हुआ, वह पहले बताई गई बातों से स्पष्ट है। आचार्यश्री भिक्षु ने अध्यात्म और व्यवहार, धार्मिक और लौकिक दोनों प्रकार के कार्यों का भेद स्पष्ट किया। उन्होंने अध्यात्म को अध्यात्म और व्यवहार को व्यवहार समझने की सूझ दी। धर्म का त्याग-तपस्या तथा संयम-साधना मूलक मार्ग लोगों को बताया। क्योंकि तथाकथित रूढ़िपरक धर्म पर उन्होंने कठोर प्रहार किया, इसलिए उस तरफ के लोगों की कटु आलोचना और घोर विरोध का भी शिकार उन्हें होना पड़ा। पर साधना-पथ पर जिन्होंने अपना सर्वस्व न्योछावर कर दिया था, वे महामनस्वी साधक इन विघ्न-बाधाओं से क्यों घबराते? वे अपार मनोबल और आत्म-निष्ठा अपनाए अपने पथ पर आगे बढ़ते रहे, अध्यात्म-पथ को अधिकाधिक विद्योतित करते रहे।

उनका यह कदम निःसन्देह बड़ा साहसपूर्ण था, जिसने धार्मिक जगत् में एक उथल-पुथल और क्रान्ति मचा दी। इस पर विरोध करनेवालों ने उनपर—"वे दया के उत्थापक हैं, दान के विरोधी हैं, देने वालों को निषेध करते हैं," आदि-आदि भ्रान्त आक्षेप लगाये। पर आचार्य भिक्षु इन आक्षेपों और आरोपों से कब घबरानेवाले थे? उन्होंने उनका यथावत् समाधान किया। धार्मिक जीवन और सामाजिक जीवन की पृथकता स्पष्ट करते हुए दोनों के अपने-अपने दायरों के कार्यकलापों का विवेचन किया। उन्होंने बताया—व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है, वह स्वयं भी समाज से, समाज के व्यक्तियों से परोक्ष-अपरोक्ष रूप में बहुत कुछ लेता है, तब वह अपने सांसारिक कर्त्तव्य के नाते उनके (समाज के व्यक्तियों के) लिए कुछ करता है तो उसे वह धर्म के साथ क्यों जोड़ता है?

स्वामीजी ने जो तत्त्व प्रगट किया, आज के बौद्धिक जगत् में वह स्वयं प्रसार पाता जा रहा है। जैसा कि पंडित नेहरू ने किसी प्रसंग पर कहा था कि सामाजिक कार्यों के लिए यह सेवा शब्द कहाँ से चल पड़ा। इसमें दंभ है, अहं है, सेवा काहे की। इसे तो पारस्परिक सहयोग कहना चाहिए।

फिर स्वामीजी ने संघ-संगठन पर ध्यान दिया। संघ में पद-लोलुपता, यश-लोलुपता, अनुशासनहीनता न आये, इसके लिए उन्होंने मर्यादाएँ कायम कीं। एक मर्यादा-लेख-पत्र लिखा।

संघ के चतुर्थ अधिनायक प्रातः स्मरणीय श्री जयाचार्य ने इन मर्यादाओं को लेते हुए मर्यादा-महोत्सव का परिचालन किया जो प्रति वर्ष एक नई प्रेरणा, नया उल्लास और नया ओज लिए माघ शुक्ला सप्तमी को आता है।

तेरापंथ का यह वह महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक पर्व है, जो संघीय जीवन में अनुशासन, आचार एवं सद्व्यवस्था का समुचित संचार

करने में अपना अद्भुत स्थान रखता है। संघ के साधु-साध्वीगण अपने विगत कार्यों का ब्यौरा प्रस्तुत कर, संघपति से अभिनव प्रेरणा एवं स्फुरणा पाकर, अपने भावी अभियान के लिए एक सम्बल जुटाते हैं। साधु-जीवन अध्यात्म-साधना का प्रतीक है, जहाँ अनुशासन, शुद्ध आचरण और पारस्परिक साम्य की बहुत बड़ी महत्ता है। यदि साधु जीवन इनसे रहित है तो वह निस्तेज और निःसार है।

ये वे मर्यादाएँ हैं, जो साधु-जीवन को अधिकाधिक अनुशासित, आचार-परायण तथा सुव्यवस्थित बनाये रखने में बड़ी सफल सिद्ध हुई हैं तथा होती रहेंगी। संघ और संघपति के प्रति सर्वात्म भाव से आत्म-समर्पण कर अपने जीवन को संघीय जीवन में एकाकार बना साधना-पथ पर आगे बढ़ने का यह सफल प्रेरणा-स्रोत है। दलबंदी, जिलाबंदी, अलग-अलग शिष्य-परम्परा आदि संघीय विशृङ्खलतापरक प्रवृत्तियों का निरोध करते हुए समता और संगठन की स्फूर्तिशील भावना देने में ये मर्यादाएँ अप्रतिम हैं। इनका अनुसरण करता हुआ हमारा संघ लगभग दो शताब्दियों से अत्यन्त सफल शुद्ध और सात्त्विक जीवन के लिए विकास और प्रगति करता आ रहा है। संघ के समस्त साधु-साध्वियों में समाचारी-परम्परा का ऐक्य, आचार का ऐक्य, वेशभूषा की समानता, कार्यक्रम की समानता, एक आचार्य का नेतृत्व—ये वे आदर्श हैं, जिन्हें मूर्त्त रूप देने में इन मर्यादाओं का महत्त्वपूर्ण हाथ है। मर्यादाओं की उपयोगिता को लेते हुए मैं सब लोगों से कहना चाहूँगा—वे अपने जीवन को जहाँ तक बन सके, संयम और अनुशासन की मर्यादाओं में बाँधें। यह बन्धन उनके जीवन के लिए बन्धन नहीं, उन्मुक्ति और विकास का हेतु सिद्ध होगा।

मर्यादा-महोत्सव वस्तुतः एक नयी ताजगी और स्फूर्ति का स्रोत है। बहुत प्रकार के महोत्सव समारोह आप लोगों ने देखे-सुने होंगे। पर इसकी अपनी विशेषताएँ हैं। आज संसार में मर्यादाहीनता का बोलबाला है। समय एवं अनुशासनमूलक शृङ्खलाएँ टूटती जा रही हैं। फलतः जीवन विशृङ्खल और अव्यवस्थित बना जा रहा है। ऐसे समय में यह अनिवार्य रूप से अपेक्षित है कि जीवन में मर्यादाओं का पुनः संस्थापन हो, ताकि वह आत्मानुशासन के धागे में बँध कर सही माने में विकास-पथ पर अग्रसर हो सके। मर्यादा-महोत्सव इस ओर बहुत बड़ी प्रेरणा देता है। मर्यादित और अनुशासित जीवन लिए चलने की भावना रखनेवालों के लिए यह बहुत बड़ा सम्बल है। मैं बहुत बार सोचा करता हूँ तो लगता है कि यह हमारे बुजुर्गों की बहुत बड़ी देन है, जो हमारे संयत जीवन को आगे बढ़ाने में बड़ी स्फुरणा-प्रेरणा देती है।

इन अवसरों पर आगन्तुक विचारक भी निकटता से इन आध्यात्मिक परम्पराओं का अवलोकन करते हुए विचारों द्वारा सहयोग लेते व देते रहते हैं। आनेवालों को लेकर अनेक भ्रान्त बातें फैलायी जाती हैं। इसका निराकरण तो आनेवाले ही कर सकते हैं। हम क्या कहें। हम कभी नहीं चाहते कि हमारे प्रत्यक्ष और परोक्ष में वे प्रशंसा की बातें करें। प्रशंसा की भूख झूठी भूख है। हम चाहते हैं, सामने भी और बाहर भी सर्वत्र यथार्थवाद बरता जाये। यदि कुछ आलोचनीय लगे तो उसकी आलोचना भी सामने आनी चाहिए। उन्हें जो-जो वास्तव में काम की चीज लगे उसे वे हवा बनकर फैलाएँ। मेरा तो आगन्तुक भाइयों से यही कहना है कि वे वस्तु-स्थिति का विवेचन करें, जो वास्तविकता उन्हें दीखे, उसे ही वे आगे रखें।

सरदार शहर,

८ : समन्वय का मूल

झगड़े का मूल 'मैं': "मैं जो कहता हूँ वही सत्य है और संसार जो कहता है वह झूठ" आज यही सबसे बड़ा झगड़ा है। "मैं अच्छा शेष बुरे" यह धारणा ही गलत है। जो लोग किसी एक पक्ष को लेकर लड़ते हैं, झगड़ते हैं, वहाँ वे क्यों भूल जाते हैं कि इसका कोई दूसरा पक्ष, दृष्टि-कोण भी हो सकता है। हर वस्तु के दो पक्ष होते हैं। नदी के दो किनारे होते है। एक जहाँ से वह निकलती है और दूसरा जहाँ समुद्र में मिलती है। एक किनारा पा लेने पर दूसरा किनारा है ही नहीं, ऐसा कहना कितनी बड़ी भूल है। एक रस्सी का एक छोर एक आदमी पकड़ता है और दूसरा छोर दूसरा आदमी। दोनों ओर से अब लगे खींचने। क्या हुआ? रस्सी टूटी, दोनों गिरे। एक खींचता है, दूसरा अगर छोड़ दे तो कौन गिरेगा? छोड़नेवाला तो नहीं। पर ये बातें कह देना सहज है, पर करना बहुत मुश्किल है। जिद्द आने के बाद कौन छोड़ने को तैयार होता है?

हाथी के पैर, पूंछ, कान, दाँत आदि को ही हाथी मान बैठना और फिर आपस में लड़ना कि मैं जो कहता हूँ वह ठीक है, अनुचित है। यह एकांकी दृष्टि है। मैं करता हूँ या कहता हूँ, इसलिये सत्य है या

वही सत्य है, यह कहना कितनी बड़ी मूर्खता है। आप ऐसा करनेवाले को अच्छा आदमी नहीं कहेंगे पर जब अपना काम पड़ता है तब मेरा मन्तव्य ही ठीक है, मेरा धर्म ही ठीक है, यह कहाँ का न्याय? एक बात को पकड़ कर लड़ना क्या धार्मिकों को शोभा देता है?

सापेक्ष सत्य का रहस्य :—सापेक्षवाद यह कहता है कि समन्वय करो, अपेक्षा को सोचो, कहने का अर्थ समझो, झगड़ो मत।

विद्वानों ने कहा—"सापेक्ष सत्य" यह कैसे? मैं बताऊँ—एक मनुष्य से पूछा जाय—ठंडक है या गर्मी? वह कहेगा ठंडक। गलत, क्योंकि राजस्थान की अपेक्षा या शिमला, नैनीताल की अपेक्षा यह सर्दी कुछ नहीं है, वहाँ तो पानी जम जाता है। तो क्या गर्मी है? नहीं। ज्येष्ठ और आषाढ़ महीने को देखते गर्मी भी नहीं है। हां तो वहाँ सर्दी भी है और गर्मी भी। किसी दृष्टि से सर्दी नहीं है और किसी दृष्टि से गर्मी नहीं है। अधिक गर्मी की अपेक्षा सर्दी है और अधिक सर्दी की अपेक्षा गर्मी। पर जहाँ एकान्तिकता है, वहाँ झगड़ा है, द्वेष है, कलह है, चिनगारियाँ हैं। वह कहेगा, नहीं यह तो सर्दी ही है या यह गर्मी ही है। सम्प्रदायवादी इसी बात को लेकर झगड़ते हैं।

समन्वय का मूल 'ही' नहीं 'भी' है :—समन्वय एक मेल-जोल वाला तत्व है। वह सबको एक बनाता है, मिलाता है। समन्वयवादी कहेगा —एक दृष्टि से तुम कहते हो, वह भी सही है। पर ऐसा मत कहो कि इससे आगे सत्य है ही नहीं।

समन्वय कहता है—एक वस्तु है भी नहीं भी। 'भी और 'ही' में इतना अन्तर है कि जहाँ 'भी' है वहाँ ढील होती है और जहाँ 'ही' है वहाँ तनाव पैदा होता है, झगड़े पैदा होते हैं। एवं द्रव्य की अपेक्षा से वह है लेकिन पर द्रव्य की अपेक्षा से नहीं भी। जैसे एक घडा है। घड़ा है मिट्टी का, पर सोने का तो नहीं न? घड़ा सर्दी का बना हुआ है पर गर्मी का तो नहीं न? यही 'भी' और 'ही' में विभेद है। अपेक्षावाद का कहना है कि तोड़ो मत। कैंची नहीं, सूई बनो। कैंची जहाँ काटने का काम करती है वहाँ सूई जोड़ने का। कहनेवाले का आशय समझो। उसकी दृष्टि से (अपेक्षा से, विविक्षा से) वह ठीक है।

धर्म में यह भेद-रेखा क्यों? :—आश्चर्य तो इस बात का है कि जब बड़ी बड़ी राजनीति के विरोधी से विरोधी विचार एक हो सकते हैं, चूहे और बिल्ली एक घाट पर पानी पी सकते हैं, रूस और अमेरिका जैसे विरोधी देश एक जगह मिलकर बात कर सकते हैं, समस्याओं का समाधान कर सकते हैं, विचार-विनिमय कर सकते हैं, वहाँ एक ही तत्व लेकर चलने

वाले, एक ही सिद्धान्त को माननेवाले, एक ही आराध्य को माननेवाले धार्मिक व्यक्ति इतनी दूर, उनमे इतना खिचाव, इतनी भेद-रेखा ! जिनका आपस में मिलना तो दूर, आँखें तक नहीं मिलतीं।

ओ एकान्तवादी भाइयो ! जरा गहराई से सोचो, समझो। एक वस्तु नित्य भी है और अनित्य भी। किसी अपेक्षा से एक वस्तु नित्य है और किसी अपेक्षा से अनित्य। एक वस्तु द्रव्य की दृष्टि से नित्य है और परिवर्तन की दृष्टि से अनित्य। इसीलिये तो अनेकान्तवाद के विशेषज्ञों ने कहा —"**अनन्त धर्मात्मक मेव वस्तु।**"

समन्वय का व्यावहारिक रूप :—समन्वयवाद केवल बुद्धिगम्य नहीं, व्यावहारिक भी है। आप जीवन के प्रत्येक पहलू में देखिये—खिचाव ही खिचाव, विरोध ही विरोध, झगड़े ही झगड़े।

हाथ में पाँच अंगुलियाँ होती हैं। कोई कह दे कि यह छोटी है या यह बड़ी है। यह कहना गलत होगा। कोई किसी की अपेक्षा से छोटी भी है तो किसी की अपेक्षा से बड़ी भी। एक पिता, पिता भी है और पुत्र भी। वह अपने पुत्र का पिता है और अपने पिता का पुत्र। इसी प्रकार एक गुरु, गुरु भी है और शिष्य भी। अगर कोई कहे कि मैं तो गुरु ही हूं या पिता ही हूँ तो यह कहना सर्वथा गलत होगा। हरएक वस्तु में कई दृष्टियाँ लगती हैं। बात एक होती है, कहने के प्रकार अनेक हैं।

हरएक वस्तु को हम दोनों ओर से देख सकते हैं। क्योंकि हर वस्तु में अनन्त स्वभाव है। बस इसी का नाम अनेकान्त है। अस्तु। एक वस्तु को दोनों तरफ से देखिए, दोनों पलड़ों पर तोलिए। आप अपने विरोधियों में भी बहुत सी बातों की समानता पा सकते हैं।

जैन-धर्म स्याद्वादी है। वह कहता है—सबका समन्वय करो, सबको समझो, उदार बनो, विशाल बनो—छोटे-छोटे मतभेदों को लेकर लड़ो मत, सहिष्णु बनो।

एक रचनात्मक रूप:—अणुव्रत-आन्दोलन इसी बात का एक रचनात्मक रूप है। वह स्याद्वाद व समन्वय को क्रियात्मक रूप से जीवन में लाता है। वह कहता है—मानव-मानव भाई है। मनुष्य को अस्पृश्य मत मानो। उसके आचरण बुरे हो सकते हैं पर वह तो नहीं। घृणा करो बुराई से, बुरों से नहीं, पाप से बचो, पापी से नहीं। पारा बनो, चुम्बक बनो, सबको मिलाते चलो और अपनी ओर खींचते चलो।

इसी का नाम स्याद्वाद है, समन्वयवाद है, अनेकान्तवाद है और इसीका नाम अणुव्रत है।

९ : राष्ट्र की जड़

राष्ट्र की जड़ विद्यार्थी :—पानी जड़ को सींचता है न कि फूल और पत्तों को। जड में सींचा गया पानी फूलों और पत्तों तक अपने आप पहुँच जाता है। अस्तु।

विद्यार्थीगण ही राष्ट्र की जड़ है। अगर बाल-जीवन सच्चा, अच्छा, सुन्दर और धार्मिक हुआ तो राष्ट्र अपने आप ऊँचा, सच्चा और समृद्ध होगा।

आज के ये बालक ही देश के भावी जन-नेता, समाज-नेता, देश-नेता और राष्ट्र-नेता होंगे। कौन जाने किसके भाग्य में क्या है, भविष्य के अन्तराल में न जाने क्या छिपा है? पानी का प्रवाह और बच्चों का भविष्य बनाया नहीं जा सकता। हमारा काम होना चाहिए कि हम नस्ल को सुधारें, ठीक बनायें, बच्चो मे संस्कार भरें। अगर नस्ल ठीक हुई, बीज उत्तम हुआ, होनहार हुआ तो आगे चलकर वह वृक्ष लहराता वृक्ष बनेगा। उसकी छाया में बैठनेवाले भी आनन्दित होंगे। आज जो बच्चा दीखता है, वही कल का नेता है, अभिभावक है, अध्यापक है और संरक्षक है। अगर विद्यार्थी संस्कारी हुआ, विनम्र हुआ, सदाचारी और विशुद्ध-जीवी हुआ, तो राष्ट्र का भविष्य उज्ज्वल है। इसमें कोई सन्देह की गुञ्जाइश नहीं।

विद्यार्थियो! तुम देश के नैतिक-जागरण में, जीवन-सुधार में योगदान दो। आज देश के बड़े-बड़े नेताओं की नजर तुम्हारे ऊपर है, उन्हें तुमसे बहुत सी आशाएँ हैं। वे तुम्हारी ओर देखते हैं, तुम्हें चाहते हैं। तुम उन्हें क्या सहयोग करोगे?

उत्थान और पतन जीवन से :—मत सोचो कि बच्चा गरीब घर का है या धनी घर का। उत्थान अमीरी और गरीबी से नहीं, वह तो जीवन के व्यवहार से सम्बन्ध रखता है।

छोटे का प्रभाव :—याद करो, आज तक के प्रायः जितने भी महापुरुष हुए हैं, वे छोटे से गाँव, छोटे से घर, छोटे से समाज में हुए हैं। प्रवाह छोटे रूप में शुरू होता है, आगे बढ़ता है औरों को भी अपने साथ मिलाता जाता है और आगे चलकर विशाल नदी का रूप ले लेता है। इतना ही नहीं, वह अनेक छोटे-मोटे गाँव, शहर व खेतों को सींचता हुआ समुद्र में जा मिलता है। देखा आपने छोटे का प्रभाव ?

हमें बच्चे की वेश-भूषा या फटे-चिटे कपड़ों को नहीं देखना है। हमें

तो देखना है कि उसका जीवन कैसा है। वह कितना सदाचारी है, वह कितना ईमानदार है।

शिक्षा जीवन है :—अक्सर लोग कह दिया करते हैं कि बच्चा पाठशाला में जाकर पढ़ता है, पर यह धारणा ठीक नहीं। पाठशाला में बच्चा अक्षर-ज्ञान अवश्य सीखता है। पुस्तकों में अक्षर-ज्ञान है पर शिक्षा नहीं। शिक्षा तो जीवन से मिलती है।

पहले स्वयं को सुधारें :—प्रत्येक बालक का स्वभाव अनुकरण-प्रधान होता है—दूसरों को जैसा वह करते देखता है, स्वयं भी वैसा ही करने लगता है। अनुकरण एक खास वस्तु है। हम उसे मिटा दें, यह सम्भव नहीं। पर अच्छा हो, जिनका अनुकरण किया जाता है, हम उन्हें सुधारें। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है।

अध्यापको! अभिभावको! अगर आप बच्चों को सुधारना चाहते हैं, तो सबसे पहले अपने आपको सुधारो।

विद्यार्थी के जीवन-सुधार के लिए चार बातें आवश्यक हैं :

१—विनय—नम्रता, अनुशासनप्रियता।

२—सत्य-निष्ठा।

३—व्यसन-त्याग।

४—धर्म से प्रेम।

भारतीय संस्कृति का आधार : विनय—विद्यार्थी जितना नम्र होगा, उतना ही उसका जीवन बनेगा। विनयपूर्वक ली गई विद्या पनपेगी और फूलेगी। भक्ति और आदरपूर्वक ग्रहण की जानेवाली शिक्षा जल्दी असर दिखायेगी।

भारतीय संस्कृति के आधार पर तो विनय ही जीवन है। विनय में मौलिक धर्म है। पर विनय को हम गुलामी नहीं कह सकते। विनय और गुलामी में तो बहुत बड़ा अन्तर है। गुलामी लालच, स्वार्थ व आकांक्षा से की जानेवाली खुशामद है और विनय इससे सर्वथा विपरीत।

विनीत विद्या प्राप्त कर सकता है, अविनीत नहीं। जैसे नम्र या पोली जमीन पर बरसात का 'तप' (सील-सरसता) बैठता है और आगे चलकर उससे अनाज पकता है। लेकिन पथरीली जमीन पर बरसात काम नहीं करती। विनीत—नम्र जीवन में विद्या बरसात की तरह घुल जाती है। सजलता और सरसता रखती है। वहाँ बोया बीज मीठे-मीठे फल देता है। वह बढ़ता है, फलता-फूलता है और सत् साक्षी होता है।

सत्य सब रोगों की एक दवा :—सत्यनिष्ठ होने का अर्थ है—विद्यार्थी सत्यमय बन जाये। असत्य उसके पास ही न रहे। वह झूठ न सोचे,

न विचारे, न लिखे, न बोले और न झूठे की संगति में ही रहे। अक्सर बच्चे का जीवन सत्य का जीवन है। वह झूठ कब बोलता है जबकि वह समझने लगता है। छोटा बच्चा जो कुछ कर आयेगा वह उसे फिर भले ही वह कार्य अच्छा हो या बुरा, साफ-साफ यथावत् कहेगा। कुछ बड़ा हुआ, समझदारी आयी, तब वह कुछ बतायेगा, कुछ छिपायेगा, कुछ अतिशयोक्ति भी करेगा और कभी आँखों में धूल झोंकने का प्रयत्न भी। एक झूठ को छिपाने के लिए न जाने वह कितने हजार झूठ बोलेगा पर सत्य सब रोगों की एक दवा है। अगर पास में सत्य है तो हजार बुराइयां छूट सकती हैं।

पशु से आदमी—एक पिता अपने बच्चे की बुराई, शैतानी व हरकतों से हैरान था। खूब समझाया। पर बातों से नही समझा, लात, थप्पड़ों और डंडो से भी नहीं समझा। हारकर एक दिन उसे गुरु के पास लाया और बोला—"गुरुदेव! इसे समझाओ, शिक्षा दो, सुधारो। दुनियाँ भर की सब बुराइयाँ इसमें हैं। मैं तो तबाह हो गया, गले तक आ गया।" साधु ने बच्चे से एकान्त में बात की। वे जानते थे कि सुधारने का सही तरीका डंडे से नहीं—आँख से, शिक्षा में नहीं जीवन से है।

उन्होंने पूछा—"क्यों बच्चे! सच बताओ, बीड़ी पीते हो?" बच्चा शर्म से झुक गया। बोला—"हाँ जी।" "शराब?" "हाँ जी", "मिट्टी?" "हाँ जी! गुरुदेव सब कुछ करता हूँ। दुनिया की सारी बुरी आदतें मुझमें हैं।" मुनिजी बोले—"ये सब चीजें जीवन के लिए खराब हैं, इन्हें छोड़ दो, त्याग दो।"

बच्चे ने कहा—"गुरुदेव! सब चीजें छूट नहीं सकतीं। मगर आप कहते हैं इसलिए एक चीज छोड़ दूंगा। जो मरजी हो फरमा दें। मैं जीवन भर नियमपूर्वक उसे निभाऊँगा।" मुनिजी ने जड पकड़ ली। पत्ते, फूल और शाखाओं की अपेक्षा मूल को पकड़ना चाहिए। जड़ पकड़ी गयी कि सब कुछ पकड़ा गया। मुनिजी ने कहा—"अच्छा एक व्रत लो झूठ नही बोलना।"

बाप आया। उसने सोचा था शायद बच्चे ने सब कुछ छोड़ दिया होगा। प्रश्न किया—"क्यों बेटे, बीड़ी छोड़ दी?" "नहीं।" "शराब छोड़ी?" "नहीं।" "मांस छोड़ा?" "नहीं।" गुरुदेव! यह क्या किया? कुछ भी नहीं छुड़ाया। सन्त ने कहा—"चिन्ता मत करो। जड़ पकड़ ली गयी है।"

पहली रात को लड़का देर से आया। बाप ने पूछा—"क्यों बेटे, कहाँ गये थे?" लड़के ने सोचा—गाँव के बीसों अच्छे-अच्छे आदमी बैठे हैं, इनके बीच में सत्य कहूँ, कैसे कहूँ? झूठ बोलूं? कैसे बोलूं? "पिता जी मत पूछो।" "नहीं, बताओ कहाँ गये थे?" धीमे से बोला—"शराब..."

पास बैठे गांव के मोजीज मातवर लोग बोले—आपका लड़का और शराब? उसे शर्म लगी। वह तो जिन्दा ही मर गया। अरे मेरी बात लोगों ने जान ली? अब नहीं पीऊँगा। तीन तिलाक। छूट गयी शराब जीवन भर के लिए।

दूसरे दिन जाने लगा। घर की चाबी हाथ लग गयी थी। बाप ने पूछा—"कहां जाते हो?" क्या बताये? बताना पड़ा। "जुआ खेलने।" वह भी छूटा। धीरे-धीरे एक-एक कर सारे दोष छूट गये। वह इन्सान बन गया, पवित्र बन गया, पशु से आदमी बन गया।

पापी को भय है—दुर्व्यसनों से बचो, जीवन मनस्तुष्ट रहेगा, सुखी रहेगा। भय पापी को है, धर्मी को नहीं।

सुधार की शुरुआत अपने आप से करो—अध्यापको! अभिभावको! अगर बच्चों को सुधारना चाहते हैं तो पहले स्वयं सुधरें। सुधार का काम औरों से नहीं अपने से शुरू करें। शिक्षा पुस्तकों और मुँह की नहीं, जीवन की हो। सक्रिय-शिक्षा ही वास्तविक शिक्षा है।

अध्यापक स्टेज पर आकर कहे—मेरे प्यारे विद्यार्थियो! तुम सिगरेट मत पिओ। इसमें ऐसा होता है, वैसा होता है। और आप स्वयं स्कूल से बाहर निकले और सिगरेट पीने लगे। क्या असर होगा? विद्यार्थी आपकी बातों की ओर देखेंगे क्या? वे तो आपके व्यवहार को देखेंगे। वे समझेंगे कि कहने की बात और होती है करने की कुछ और। पौधे के बैंगन और, और खाने के बैंगन कुछ और।

माँ-बाप चाहते हैं कि बच्चा सत्य बोले। अगर बच्चों से सत्य बोलने की आशा करते हैं तो स्वयं झूठ को त्यागें, जीवन में सत्य को उतारें।

सुख का मार्ग : अणुव्रत—विद्यार्थियो! अध्यापको! अभिभावको! अगर आप सुख की इच्छा रखते हैं, आनन्द का अनुभव करना चाहते हैं, अगर अपने परिवार को सुखी बनाना है तो जीवन को अणुव्रत में ढालो उसे अणुव्रती बनो। अणुव्रती बनने के माने हैं—हिंसा, झूठ, चोरी, बेईमानी, तम्बाकू, आडम्बर, शोषण, दुराचार और फरेबों से बचो। जीवन को हल्का बनाओ, सत्य पर टिकाओ।

अन्त में मैं विद्यार्थियों से आह्वान करूँगा, क्या कोई ऐसा भी वीर विद्यार्थी है, जो आज इस बात का नमूना बने, आदर्श बने? कम से कम सप्ताह या पक्ष भर के लिए असत्य न बोलने का प्रण करे।

१० : सच्चा मार्गदर्शक

जो सात्विक, संयत, उज्ज्वल और सरल जीवन चाहते हैं, अणुव्रत-आन्दोलन उनके लिए एक पथ-दर्शक है। अनैतिकता और अनाचरण के झंझावात से डगमगाते लोक-जीवन के लिए यह वह आधार है, जो उसे नैतिकता और सच्चरित्रता पर टिकाए रखने की एक अभिनव प्रेरणा देता है। संयम, नियमन और साधनापूर्ण जीवन के लिए दृढ़ संकल्प की बहुत बड़ी आवश्यकता है। दृढ संकल्प आदर्शों से नीचे सरकते जीवन को सहारा देता है, उसमें अभिनव बल का संचार करता है। दृढ़ संकल्प का ही दूसरा नाम अणुव्रत है। अणुव्रत-आन्दोलन मानव को दृढ़-संकल्पी बना उसे संयत और सुनियमित जीवन-चर्या अपनाने का मार्ग देता है।

इस आन्दोलन को मैं मानव-जीवन के लिए एक बहुत बड़ा रचनात्मक कार्य मानता हूँ, जो सच्चरित्रता और सच्चाई के आधार पर जीवन का नवसृजन करता है।

सरदारशहर,
४ मार्च, ५७

११ : मूल्यांकन

आज के मानव में सबसे बड़ी कमी यह होती जा रही है कि जीवन का मूल्यांकन जहां चारित्रिक-उच्चता में संयत जीवनचर्या पर होना चाहिए, वहाँ वह उनके बदले बाहरी वैभव, सत्ता और अधिकारों की कसौटी पर जीवन को आँकता है। यह दृष्टि-वैपरीत्य है। इस दृष्टि से जहाँ जीवन का अँकन होने लगे, वहाँ शुद्ध, सात्विक और आदर्श जीवन की कल्पना ही कहाँ? मैं बार-बार कहा करता हूँ कि सबसे पहले मनुष्य अपनी दृष्टि को माँजे, यथार्थ-दर्शन की प्रवृत्ति उसमें आये, ताकि वह अपने लिए सही रास्ता पा सके, उस पर आगे बढ़कर जीवन को सच्चे विकास और प्रगति की ओर ले जा सके। अणुव्रत-आन्दोलन एक नयी दृष्टि देता है। वह जीवन का उत्कर्ष, सरलता, हल्केपन और निष्कपटता में देखता है। उसकी दृष्टि में वही ऊंचा और स्पृहणीय जीवन है, जो अधिक से अधिक सन्तोषी, सरल और संयत है। मैं चाहूंगा इस तथ्य को हृदयंगम करते हुए लोग जीवन के सही विकास की ओर अग्रसर होंगे जो अहिंसा, सत्य और सद्भावना की साधना में है।

चुरू,
८ मार्च, '५७

१२ : सबसे बड़ी पूँजी

विद्यार्थी राष्ट्र की सबसे बड़ी पूंजी है; उसकी बुनियाद है। किस समाज, देश और राष्ट्र का भविष्य कैसा है, इसका अन्दाजा वहां के विद्यार्थियों के जीवन से लगाया जा सकता है। जिस भवन की नींव पक्की होगी, उसपर तूफानी हवा के चाहे कितने झोंके आयें, कितना ही बोझ उसपर पड़े, पर वह डगमगायगा नहीं। उसी प्रकार विद्यार्थियों का जीवन विनयी, सदाचारी, शीलवान् और सद्गुणों से भरा हुआ होगा तो वे स्वयं तो विकसित होंगे ही, समाज और देश का प्रासाद भी उतना ही ठोस और स्थायी होगा।

आज विद्यार्थियों में जो सबसे बड़ी कमी है वह चरित्र और विनय की। तभी तो पं० नेहरू अक्सर कहा करते हैं कि जहां भारत ने विदेशों में इतना सम्मान पाया वहां भारत के विद्यार्थी इस तरह के तोड़-फोड़मूलक कार्यों में भाग लेते रहते हैं, यह राष्ट्र की आभ्यन्तरिक स्थिति के लिए शोभा की बात नहीं है। वे अपनी मांग हिंसा के बल पर रखने के बदले अहिंसा के बल पर क्यों नहीं रखते? अहिंसा हमारे राष्ट्र की परम्परागत तथा सांस्कृतिक निधि है। यह गौरवपूर्ण आदर्श हमें विरासत में मिला है जिसपर चलना हमारे देश के प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है।

दो बातें मैं प्राध्यापकों से भी कहना चाहूँगा। उन्हें विद्यार्थियों को केवल किताबी-ज्ञान ही नहीं देना है, उन्हें उनके जीवन का सही मार्ग दिखाना है, चरित्र-जागृति का पाठ पढ़ाना है जो केवल उनके कहने से नहीं बनेगा। विद्यार्थी अध्यापक के कहने को नहीं देखते। वे अनुकरण-प्रधान होते हैं। अगर प्राध्यापक मंच पर आकर कहे कि विद्यार्थियों को बीड़ी नहीं पीनी चाहिए, यह बुरी चीज है और भाषण समाप्त करते ही बाहर आये और स्वयं धुंआ निकालने लगे तो विद्यार्थी समझेंगे कि कहने की बात कुछ और होती है; करने की कुछ और। इससे विद्यार्थियों पर बहुत बुरा असर पड़ता है। अध्यापक का जीवन विद्यार्थी के लिए खुली पुस्तक होनी चाहिये तभी आज के विद्यार्थी की दशा सुधर सकती है।

चूरू,
८ मार्च, '५७

१३ : छात्राओं से

कोमलता, करुणा, विनयशीलता और अनुशासनप्रियता नारी जाति के सहज गुण हैं। इन्हीं कारणों से वह मानव-संस्कृति को सदा से एक अनुपम देन देती आ रही है, यह इतिहास बताता है। पर खेद का विषय है कि नारी आज जीवन के उन महानतम आदर्शों से परे होती जा रही है। बाह्य सुसज्जा एवं बनाव-दिखाव में घुल-मिल कर के जीवन के वास्तविक मूल्यों को भुलाती जा रही है, सचमुच यह उनका ह्रासोन्मुख कदम है। जीवन का आदर्श बाह्य-प्रदर्शन एवं फैशनपरस्ती नहीं है। जीवन का वास्तविक आदर्श तो सात्विक, उज्ज्वल, परिमार्जित जीवनचर्या, त्याग एवं साधना है।

आज की ये नन्ही-नन्हीं बालिकाएं आगे चल कर गृहणियाँ, माताएं और कार्यकर्त्रियाँ बननेवाली हैं। ये राष्ट्र और समाज की बहुमूल्य सम्पत्ति हैं जिसके सहारे राष्ट्र का सच्चा निर्माण और विकास होता है। यदि इनका जीवन अभी से सत्संस्कारों में ढाला जाये तो आगे चलकर अपने जीवन में ये बहुत बड़ा विकास तो कर ही सकती हैं, साथ ही साथ औरों के लिए भी प्रेरणा-स्रोत बन सकती हैं। इसलिए अध्यापिकाओं एवं अभिभावकों का कर्तव्य है कि ये इनके जीवन को सत्य, शौच, शालीनता और सात्विक प्रवृत्तियों के ढांचे में ढालें। बालिकाओं से मैं कहूँगा कि वे इस बात को याद रखें, उनके जीवन का यह अमूल्य समय है। इसमें वे अपने आपका जैसा निर्माण करेंगी उनका भावी जीवन उसी बुनियाद पर आधारित होगा। अतः वे अभी से अपने आपको झूठ, चोरी, अवज्ञा, गाली, आपसी लड़ाई-झगड़ा आदि बुरी प्रवृत्तियों से सदा दूर रखें। देखने में तो ये बातें छोटी-छोटी लगती हैं लेकिन जीवन को बुराई की ओर ले जाने में आग में घी का काम करती हैं।

नारी-जाति स्वभावतः धर्मपरायण एवं श्रद्धानिष्ठ होती है। मैं कहना चाहूँगा—आज वे केवल बाह्य-प्रदर्शन एवं परम्परा-पोषणमूलक धर्माराधना में अपने कर्तव्यों की इतिश्री न कर जीवन में धर्म का सही उपयोग करें, जो उनके व्यवहार-परिशोधन एवं चरित्र-मार्जन में है।

चूरू,
१४ मार्च, '५७

१४ : जीवनशुद्धि का प्रशस्त पथ

आज जिधर देखें, व्यक्ति धन-लिप्सा में अन्धा बना येन-केन-प्रकारेण वैभव का अम्बार खड़ा करने में जुटा है। इस अत्यधिक आसक्ति ने उसके विवेक में कुण्ठा पैदा कर दी है। सत्-असत् को मापने में उसे अर्थ के अतिरिक्त दूसरा गज नहीं दीखता। अर्थप्राप्ति के साधन में बड़ा से बड़ा अन्याय करते भी उसका जी नहीं सकुचाता। इस पूंजीवादी मनोवृत्ति ने जहां एक ओर मानव के वैयक्तिक और पारिवारिक जीवन को विघटित कर डाला है, भाई-भाई को खून का प्यासा बना दिया है, पिता-पुत्र के बीच वैमनस्य और रोष की भयावह दरार पैदा कर दी है, वहां उसके सामाजिक और सार्वजनिक जीवन पर भी इसने करारी चोट पहुंचायी है। क्या वह जीवन कोई वास्तविक जीवन है, जहां व्यक्ति अर्थ-कीट बन उसमें चिपटा रहे और एक अवधि विशेष के बाद अपनी मानव-योनि की परिसमाप्ति कर यहां से चलता बने। यह विवेकशून्य और गुमराह जिन्दगी का नमूना है। पर खेद इस बात का है कि आज का मानव इस ओर बेतहाशा दौड़ा जा रहा है। फलतः उसके जीवन में शान्ति सुख और आत्मतोष नहीं है। इन सबका कारण यह है कि उसने धन के लोभ में अपनी आत्मा को बेच डाली है। आये दिन के भीषण थपेड़ों से घिसता-पिटता मानव क्या अब भी नहीं चेतेगा।

और तो और, धर्म का क्षेत्र भी पूंजीवादी मनोवृत्ति का शिकार हुए बिना नहीं रहा। धर्म जहां आत्म-परिमार्जन, संयम, अहिंसा, सत्य और शीलपूर्ण जीवनचर्या में प्रतिष्ठित है, वहां वह पैसों के बल खरीदा जाने लगा। फिर उसकी प्रतिष्ठा कैसे रहती? तभी तो उसके नाम पर अनेक झगड़े, संघर्ष और रक्तपात के भीषण ताण्डव मचे। क्या यह धर्म का दोष था? यह तो धर्म द्वारा अपना स्वार्थ साधने की दुरभि-सन्धि में लगे तथाकथित अवसरवादियों का था। आज के मननशील मानव को धर्म के अहिंसा, सत्य और संयममूलक स्वरूप को समझना है, उसे अपना जीवन-सहचर बनाना है। यदि उसने ऐसा किया तो यह असम्भव नहीं कि आज की भीषण समस्याएं जो नागिनों की तरह अपना जहरीला मुंह बाये उसे निगल जाना चाहती हैं, वह उनसे छुटकारा पा सके।

चूरू,
१६ मार्च, '५७

१५ : परिमार्जित जीवन-चर्या

बालक स्वभावतः बुरे नहीं होते। सच्चाई और भोलापन उनके सहज गुण हैं। वे दूषित वातावरण, प्रतिकूल परिस्थिति या बुरा संसर्ग पाकर बुरे बन जाते हैं, उनकी प्रकृति बिगड़ जाती है। एकबार वे विपरीत पथगामी बने, फिर उत्तरोत्तर बुराइयों की ओर लुढ़कते जाते हैं। इसलिए आवश्यक है कि आरम्भ से ही उनमें सत्य, अहिंसा, विनय, सद्भावना और अनुशासन के सुसंस्कार भरे जायँ ताकि उनके जीवन की नींव मजबूत और सबल बन सके। उनका भावी जीवन बाधाओं के झंझावात और तूफानों से डगमगा न सके, यह उत्तरदायित्व अभिभावकों और अध्यापकों पर है। यदि वे इस ओर जागरूक नहीं रहते हैं तो वे बच्चों के जीवन के साथ खिलवाड़ करते हैं, अपने कर्तव्य से परे होते हैं।

ये छोटे-छोटे, भोले-भाले हँसमुख विद्यार्थी राष्ट्र और समाज के भावी कर्णधार हैं। यह विद्यार्थी-जीवन जिसमें से वे गुजर रहे हैं, सचमुच उनके लिए स्वर्णिम वेला है। यही तो वह समय है, जब वे अपने जीवन की भावी मंजिलों के लिए विद्या, शील, अनुशासन एवं चारित्र का संबल जुटा रहे हैं। विद्यार्थियों को अपने जीवन की इस महत्ता को ठीक-ठीक आँकना है और उसके अनुरूप अपने जीवन को सत्य एवं शौच से परिपूरित करना है। वे यह न समझें कि अभी तो वे बचपन में हैं, इनकी क्यों चिन्ता करें, जब बड़े होंगे तब सीख लेंगे, यह सोचना भारी भूल होगी। अभी यदि वे अपने जीवन को परिमार्जित और संयमित चर्या में ढालने का अभ्यास नहीं करेंगे तो आगे चलकर कुछ बनने का है, ऐसा लगता नहीं। उन्हें विनय, अनुशासन और संयम को अपने जीवन के साथ अविचल रूप में जोड़ना है। अपने क्षण-क्षण की प्रवृत्तियों पर दृष्टि रखनी है कहीं उनमें विपरीतताएँ तो नहीं भर पा रही हैं।

अभिमान, दम्भ, प्रमाद, क्रोध और असहिष्णुता, वे भयानक दुर्गुण हैं, जो जीवन को आदर्शों से गिराते हैं। विद्यार्थियों को चाहिए, वे इससे अपने को बचाने के लिए सदा प्रयत्नशील रहें।

चूरू,
२१ मार्च, '५७

१६ : घर का स्वर्ग

आज का मानव फूला नहीं समाता। वह कहता है—हमने विकास किया है। उसकी दृष्टि में वह विकास हो सकता है, पर मैं तो उसे ह्रास ही कहूंगा। आज के इस वैज्ञानिक युग में उसे अनेक चीजें मिलीं। मछलियों की तरह समुद्र को पार करना सीखा, पक्षियों की तरह आकाश में उड़ना सीखा, यहाँ बैठे-बैठे हजारों कोस दूर बैठे मानव से बात करनी सीखी, पर फिर भी शान्ति नहीं, सुख नहीं, चैन नहीं, आनन्द नहीं। यह सब क्यों?

आज का मानव आँखों से देखना भूल गया, पैरों से चलना भूल गया फिर भी विकास की डींग भरता है। थोड़ा सा देखने का काम पड़ा कि आँखें कमजोर हो गई, आँखों से पानी चलने लगा, अब उसे चश्मा चाहिये। जहाँ हमारे बुजुर्ग ७०-७० वर्ष की आयु तक सूई पिरो सकते थे, वहाँ आज १८-१८ वर्ष के और इससे भी नीचे की अवस्थावाले बालक चश्मे के बिना काम नहीं कर सकते। थोड़ा सा लिखना है, टाइप चाहिये और थोड़ा ज्यादा हो तो फिर प्रेस के बिना काम ही नहीं चल सकता। अक्षर-लेखन-सौन्दर्य तो समाप्त सा हो चुका है। आदमी जितना बड़ा चिन्तक, विचारक, विद्वान उसकी लेखन-कला उतनी ही खराब। मानो लेखनकला का खराब होना तो चिन्तक का प्रमुख लक्षण बन गया है। दो सौ आदमी इकट्ठे हो गये, बोला नहीं जाता, माइक चाहिए। क्यों? गला कमजोर है। क्या आप इसी को विकास कहते हैं, यही है विकास? भाइयो! यह क्या है? ह्रास नहीं तो क्या इसे विकास कहूँ?

अगर आप चाहते हैं कि हम सुखी बनें, हमारा परिवार सुखी बने, तो बाहर भटकने की आवश्यकता नहीं है। वह तो आपके पास ही है। जहाँ कलह, ईर्ष्या, द्वेष, बेईमानी, अभिमान, परिग्रह है, वहीं नर्क है। और जहाँ भ्रातृभाव, स्नेह और आपसी प्रेम है वहीं स्वर्ग है। आप हमें देखिए। हमारे पास कौन सा कोष भरा पड़ा है। आप स्वयं सोचिये, जिनके पास दूसरे समय का खाना नहीं है, वे भी इतने सुखी क्यों हैं? उत्तर मिलेगा—उनके पास सन्तोष, श्रम, सौजन्य और आस्था है।

अणुव्रत आप के घर को स्वर्ग बनाना चाहता है। वह कहता है जीवन को विकासोन्मुख करो, पारस्परिक प्रेम बढ़ाओ, आरम्भ-समारम्भ और परिग्रह में कमी करो, इनसे ज्यादा मोह मत रखो।

लोग कहते हैं, झूठ के बिना काम नहीं चल सकता। आज के इस भौतिकवादी युग में और फिर सत्याभिभाषण! हूं! सच बोलना है तो मुँह पर ताला लगा लो और आराम करो। पर मैं कहता हूँ इस दुनिया

में सत्य के बिना कोई काम नहीं चल सकता। आप सत्य और झूठ को हृदय के पलड़े पर तोलिये। आखिर सत्य का पलड़ा ही भारी रहेगा। आप झूठ को छोड़ सकते हैं पर सत्य को नहीं। अगर आप एक दिन का भी सत्य न बोलने का व्रत ले लें तो आपकी जबान बिल्कुल बन्द हो जायेगी। जैसे, कोई आप से आकर कहेगा—आप कौन हैं? आप कहेंगे—आदमी। पर यह तो सत्य हो गया। और सत्य आप को बोलना नहीं है। तो क्या आप कहेंगे गदहा? नहीं। इसी प्रकार बोलना, उठना-बैठना, खाना-पीना, चलना प्रत्येक कार्य में सत्य के बिना आपका काम नहीं चल सकता।

अक्सर मनुष्य नींद में यानी भूल से झूठ बोलते थे पर आज तो जानबूझकर, होशियारी से और सभ्यता के साथ झूठ बोलते हैं. यह भारतीय नागरिकों के लिए शर्म की बात है। अस्तु। व्यक्ति अपना परिष्कार आप करें।

चुरु.
२२ मार्च, '५७

१७ : आत्मावलोकन परमावश्यक

आज कार्यकर्त्ताओं को दृढ़निष्ठा और लगन के साथ जीवन-निर्माण के काम में जुट जाना चाहिये, मैं सब से आवश्यक यह मानता हूँ। आज मैं शिक्षा की विशेष बातें कहूँ, यह मुझे अधिक रुचिकर नहीं लगती पर फिर भी मैं चाहूँगा कि कार्यकर्त्ताओं को कुछ चेतावनी दूं। जैन-वाङ्मय में शिक्षा के दो भेद किये गये हैं—ग्रहण और आसेवन। केवल किसी विषय की जानकारी पाना, उसके निरूपण और विवेचन की योग्यता हासिल करना ग्रहण में आता है, जब कि आसेवन का आशय है—उस सत्-शिक्षा एवं सद्-ज्ञान के अनुरूप अपना जीवन ढालना, अपने जीवन-व्यवहार में उन आदर्शों को सँजोना। आज जहाँ तक देखते हैं, प्रायः इस बात की कमी कार्यकर्त्ताओं में पाते हैं, कार्यकर्त्ता केवल लम्बी-चौड़ी बातें बनायें, यह उनके लिए शोभनीय नहीं। हमें देखना चाहिए कि यह स्थिति क्यों बनती है? जैसे किसी को भोजन की भूख न हो, इसके दो कारण हो सकते हैं—या तो उसका पेट भरा हो या उसे कोई ऐसा रोग हो गया हो जिसने भूख को रोक दिया हो। मैं समझता हूँ कार्यकर्त्ताओं के व्यावहारिक जीवन में सक्रिय शिक्षा प्रवेश नहीं पा रही है। इसका कारण, उन्होंने उच्चतम शिक्षा प्राप्त कर ली है, यह नहीं बल्कि एक बीमारी है, जिससे वे ग्रहण तो करते हैं पर आसेवन नहीं कर पाते। वह बीमारी है—वैयक्तिक दुर्बलता, सदाचार और नैतिकता के आदर्शों पर आरूढ़ होने के साहस का अभाव। वैयक्तिक के

साथ-साथ सामाजिक-जीवन का प्रतिकूल वातावरण भी इसमें कारण हो सकता है जिसमें रहता हुआ व्यक्ति अपने को नैतिकता के मार्ग पर चलाते रहने में कठिनाइयां अनुभव करता है। इन दुर्बलताओं और विपरीत परिस्थितियों पर कार्यकर्ताओं को विजय पाना है। इसके लिए उन्हें अपने आप का निरीक्षण और आत्मावलोकन करना होगा—आत्मबल जागृत करना होगा।

अणुव्रत अपने आपमें कुछ नहीं है। वह तो अणुव्रतियों के जीवन पर निर्भर है। वे ही उसके आदर्शों की कसौटी हैं। उनका जीवन जितना ऊँचा होगा, सदाचार और सात्विकता की ज्योति से जितना ज्वलन्त होगा, उतनी ही आन्दोलन की विशेषता है, उनके अपने जीवन की उच्चता है। इसलिए मैं प्रत्येक कार्यकर्त्ता से कहूँगा कि वह अणुव्रत-आदर्शों के अनुकूल अपना जीवन बनाये। उसका यह भी कर्तव्य है कि वह औरों तक भी आन्दोलन की आवाज को पहुँचाये।

अणुव्रत-आन्दोलन जन-जागृति का आन्दोलन है, मानवता का आन्दोलन है। जैसाकि मुझे लगता है—यह निश्चित है कि यह आगे बढ़नेवाला है। पर देखना यह है कि इसे आगे बढ़ाने का श्रेय किसको मिलता है।

चूरु,
२३ मार्च, '५७

१८ : युवक और धर्म

"कल न जाने कैसी स्थिति गुजरेगी, आज हम व्रत या जीवन-विकास के नियम ग्रहण कर लें तो उस बदलती हुई परिस्थिति में मुझपर क्या बीते...।" व्रत-ग्रहण या चारित्रिक-दृढ़ संकल्प से कतरानेवाले आम नौजवानों के ये विचार हैं। यह आत्मसाहस से परे की बात है। यह उनके अन्तरतम की दुर्बलता का परिचय है। क्या कभी एक सत्कर्मनिष्ठ साहसी इस आशंका से अच्छे काम को शुरू करने से रुकेगा कि कल न जाने कौन सा विघ्न आ पड़े, उसकी कैसी गति हो? मैं कहूँगा—प्रचुर आत्मबल और मनोयोग से काम करनेवाला यह आशंका ही क्यों करे? उसका ध्यान तो एकमात्र अपने काम पर रहना चाहिए। तन्मय होकर काम करनेवाला कभी ऐसी दुश्चिन्ताओं में नहीं डूबता। युवकों को चाहिए कि वे इस तरह निर्मूल भ्रान्तियों और विभीषिकाओं को छोड़कर उत्साह के साथ संयम-पथ पर आगे बढ़ें। संयम जीवन में शान्ति लाने का अमोघ हेतु है। सरलता, सादगी, सात्विकता आदि इसीसे फलित होनेवाले गुण हैं। मैं युवकों से पुनः

जोर देकर कहूँगा—यदि वे अपने जीवन को संयम का नया मोड़ न देकर योंही सिर्फ जोश की बातें बनाते रहे तो इससे कुछ बनने का नहीं है। न उनका दूसरों पर भी कोई असर ही होनेवाला है। अणुव्रत-आन्दोलन मानव-जीवन में संयम का प्रतिष्ठापन करने का आन्दोलन है। नौजवानों को इसमें अपने आप को ढालना है तथा औरों तक इसे फैलाने में अपनी जिम्मेवारी को निभाना है।

आज का युग भौतिकवादी युग कहा जाता है जहाँ विज्ञान के नये-नये चामत्कारिक आविष्कारों ने मानव को चकाचौंध कर दिया है। कहा जाता है—यह सब हुआ सुख और शान्ति लाने के लिए। पर उसे मिला क्या—अणुबम जैसे प्रलयंकर दानवीय अस्त्र-शस्त्र, जिनकी विभीषिका से आज संसार थर्रा उठा है। तभी तो अणुबम का आविष्कर्ता मानव के इस हत्यारे-निर्भय कदम को देखकर चीख पड़ा था, कि उसकी बुद्धि से आविर्भूत यह आश्चर्यमय चमत्कार ऐसे निर्दय हाथों में पड़ा कि विश्व-मानव आज अकल्याण की महोदधि में डूबा जा रहा है। आज भौतिकवादी थपेड़ों से आहत मानव कराह उठा है त्राण के लिए। यदि उसे कोई त्राण देनेवाला है; तो वह एकमात्र धर्म है। यदि यह वांछनीय है कि जागतिक-जीवन हिंसा के क्रूर आघातों से बचे, उसमें सच्चाई व्यापे, शोषण और अनाचार मिटे; धोखा, विश्वासघात और छल-प्रपंच के जाल का निर्दलन हो, तो मानव को धर्म का सहारा लेना होगा। ये ही तो वे आदर्श हैं, जिन्हें धर्म बताता है। यह धर्म का वास्तविक स्वरूप है, जो साम्प्रदायिक संकीर्णता से परे विश्वजनीन और व्यापक आदर्शों पर आधारित है। धर्म के नाम पर आचरित तथाकथित धर्माचरणों पर यह, जिनके कारण धर्म बदनाम हुआ है, करारी चोट करता है। मैं चाहूँगा, धर्म के इस अहिंसा, अशोषण और नैतिकतामूलक स्वरूप पर आप ध्यान रखेंगे। आपका जीवन एक नया उल्लास और स्फुरणा पायेगा।

बुध,
२४ मार्च, '५७

१६ : निर्माण का शीर्षबिन्दु

आज व्यक्ति का जीवन स्वार्थ की परिधियों से आवृत हो इतना संकीर्ण बनता जा रहा है कि अपने भौतिक लाभार्जन की पैशाचिक दुष्कामनाओं से वह जर्जर है। यदि उसका स्वार्थ सधता है, जेब गरम होती है, तो सत्य उसकी आँखों से ओझल हो जाता है, न्याय से किनारा कसते उसे जरा भी

हिचकिचाहट नहीं होती। यह आजके मानव-जीवन में प्रविष्ट वह दूषित तत्त्व है, जिसने नैतिकता और सदाचार की सात्विक परम्पराओं पर गहरा आघात किया है। समाज का कोई भी वर्ग—क्या राज्याधिकारी, क्या व्यापारी, क्या अन्यान्य व्यवसायों में लगे दूसरे लोग इससे अछूते रह पाये हैं, ऐसा लगता नहीं। इस विषम और विपथगामिनि परिस्थिति में आज सबसे प्राथमिक और आवश्यक कार्य मानव के लिये यह है कि वह स्वार्थ-मयता, अर्थलोलुपता और वासनाओं के प्रवाह में अपने को न बहने दे। इसके लिए उसे आत्मबल सँजोना होगा, बुराइयों से टक्कर लेने की हिम्मत जुटानी होगी। पर मनस्वी और निष्ठाशील व्यक्ति के लिए यह कोई कठिन नहीं है। व्यक्ति, समाज और राष्ट्र का चरित्र ऊँचा हो, आज की यह बहुत बड़ी माँग है। बिना इसके पूर्ण हुए अनेकानेक बड़ी-बड़ी योजनाओं के बावजूद सच्चे विकास और शान्ति की तरफ राष्ट्र नहीं जा सकेगा। राष्ट्र का प्रत्येक नागरिक इसके लिए उत्तरदायी है। राज्याधिकारियों पर जो राष्ट्र के नागरिक होने के साथ साथ शासन, शान्ति और सुरक्षा का बहुत बड़ा उत्तरदायित्व वहन करते हैं; बहुत बड़ी जिम्मेवारी है। उनका जीवन अधिकाधिक त्याग, निःस्वार्थता, अनुशासन और न्याय का जीवन होना चाहिए ताकि आत्मशान्ति के साथ-साथ जन-जीवन पर भी इसकी गहरी छाप पड़ सके।

जिस तरह व्यापारी लोग यह समझते हैं कि व्यापार में असत्य के बिना काम चल नहीं सकता, उसी तरह स्यात् राज्याधिकारियों में भी अनेक यह समझते हों कि रिश्वत के बिना कैसे काम चले—उन्हें अपने परिवार का लालन-पालन और अपने स्तर से जीवन-निर्वाह जो करना है। मैं इसे सही नहीं मानता। पर इसके लिए जरूरत है सन्तोष की, सादगी की और अपने आपपर नियन्त्रण रखने की। यदि व्यक्ति ऐसा कर ले तो अपने जीवन को रिश्वत आदि दुर्गुणों से उन्मुक्त करना कोई कठिन नहीं है। इसके लिए मैं चाहूँगा राष्ट्र का प्रत्येक अधिकारी आत्म-निरीक्षण करे, अपनी बुराइयों का लेखा-जोखा रखे, उससे बचने का दृढ़ संकल्प करे, आत्मचिन्तन से उसे बहुत बड़ा बल मिलेगा। अणुव्रत-आन्दोलन और कुछ नहीं, इन्हीं आदर्शों को लोक-जीवन में देखना चाहता है।

अधिक न कह कर मैं अधिकारियों से इतना ही कहना चाहूँगा कि वे आत्म-निरीक्षण करना, रिश्वत न लेना, अपनी समझ में असत्य निर्णय न देना—इन तीन बातों को अवश्य अपनायें।

चूरू,
२६ मार्च, '५७

२० : जीवन का आभूषण

विद्यार्थियों की ओर मेरा विशेष आकर्षण रहता है। मैं जहाँ भी जाता हूँ, विद्यार्थियों के बीच प्रायः बोलता रहता हूँ। मैं चाहता हूँ विद्यार्थी अपने निर्माण के प्रारम्भकाल से ही जीवन को चारित्र्यमूलक सद्गुणों से सँजोना सीखें, जिससे आगे चलकर उनका जीवन सही माने में विकसित और समुन्नत हो सके। कौन नहीं जानता कि आज देश में पहले की अपेक्षा शिक्षा ने काफी बढ़ावा पाया है, नये-नये शिक्षण-पीठ खुले हैं। पर सब होने के बावजूद विद्यार्थी अपने जीवन का वैसा निर्माण नहीं कर पा रहे हैं, जो सच्ची शिक्षा से होना चाहिए। ज्यों-ज्यों वे ऊँची श्रेणियों में पहुँचते हैं, उनमें बाहरी प्रदर्शन, सजावट और दिखावे की मात्रा बढ़ने लगती है। यह एक बहुत बड़ा दोष है जो जीवन की उज्ज्वलता को लीलता जा रहा है। विद्यार्थी का जीवन तो एक तपस्वी और योगी का जीवन है। वह आत्मसृजन की उन अनूठी घड़ियों से गुजरता है, जो फिर कभी आनेवाली नहीं है। अस्तु। आज की शिक्षा में नैतिकता और आध्यात्मिकता का समावेश होना चाहिए।

विनय विद्यार्थी-जीवन का आभूषण है। उसे अधिकाधिक विनयशील एवं सहिष्णु बनना चाहिए और अपने में सत्य पर डटे रहने की आदत डालनी चाहिए। अपने जीवन की परिधि में जो-जो काम उसके आते हैं, उनमें सत्य का व्यवहार हो। उसे अपना मन पवित्र रखना चाहिए।

ब्रह्मचर्यपालन विद्यार्थी के लिए अत्यन्त आवश्यक है। छात्राओं के साथ छेड़छाड़ करना छात्रों के लिए कलंक की बात है। वे सब अपनी ही तो बहनें हैं, उनके प्रति ऐसा घृणित व्यवहार कदापि न होना चाहिए। विद्यार्थियों को किसी भी तोड़फोड़मूलक कामों में भाग नहीं लेना चाहिए। जब बड़ी-बड़ी अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएँ समझौते और बातचीत से सुलझ सकती हैं, तो यह कौन-सी बड़ी बात है। अस्तु। इन्हीं बातों को लेते हुए मैंने अणुव्रत-आन्दोलन के अन्तर्गत विद्यार्थियों के लिए ये नियम रखे हैं : किसी भी तोड़फोड़मूलक हिंसात्मक प्रवृत्ति में भाग न लेना, अवैध तरीकों से परीक्षा में उत्तीर्ण नहीं होना, धूम्रपान न करना, मद्यपान न करना, रुपये आदि के लेने का ठहराव कर विवाह-सम्बन्ध स्वीकार न करना। मैं चाहूँगा, विद्यार्थी गहराई से सोचते हुए इन नियमों को प्रतिज्ञा-रूप में स्वीकार करें।

चूरू,
२८ मार्च, '५७

२१ : आयोजनों का उद्देश्य

आज का मानव स्वार्थों के पीछे मदोन्मत होता जा रहा है। उसको अपनी स्वार्थपूर्ति की ही एषणा है, इसके लिए चाहे कितना भी भयंकर दुष्कृत्य उसे क्यों न करना पड़े। स्वार्थ सारे अन्याय-दुर्बलताओं का जन्मदाता है। इसने संघर्षों को जन्म दिया। व्यक्ति के जीवन में अशान्ति घिरने लगी। क्योंकि जहाँ स्वार्थपूर्ति का चक्र चला, वहाँ हिंसा ने अपना प्रसार किया, अविश्वास ने जड़ पकड़ा, अनैतिक भावों को पंख मिले। फिर भला मानव जीवन में सुख शेष रह सकता है? इसका साक्षात चित्र आज के समाज का जीता-जागता जीवन है। अणुव्रत-आन्दोलन अहिंसा, सच्चाई, सन्तोष और संयम के द्वारा इन अनैतिक अंकुरों को मिटा देना चाहता है। जन-जन के कानों तक आन्दोलन का यह आध्यात्मिक घोष पहुँचे, ऐसे आयोजनों का यही उद्देश्य है। समाज के मुख्यतः दो विभाग हैं— ऊपर का और नीचे का। वैसे हम किसी को छोटा-बड़ा नहीं कहते, पर कहने का मतलब यह है कि एक वह विभाग है जो उसे चलानेवाले लोगों द्वारा दिये गये पथ-प्रदर्शन के आधार पर चलता है। मैं चाहता हूँ, अणुव्रत-आन्दोलन जहाँ नीचे के तपके के लोगों में प्रसार पाये वहीं पर उसकी बहुमुखी तथा विशद धाराएँ ऊपर के तपके में भी फैलें, ताकि दोनों ओर नैतिक विशुद्धि का सुन्दर वातावरण पैदा हो। इसके लिए विद्यार्थियों की शिक्षा में असाम्प्रदायिक रूप से अणुव्रत-आदर्शों के अनुसार सदाचार-शिक्षा का क्रम भी राज्य-सरकार जोड़े, तो क्या ये सहस्रों और लाखों नौनिहालों के सुनिर्माण में सहायक न हो सकेगी?

फतेहपुर,
१८ अप्रैल '५७

२२ : हिंसा भय लाती है

आज पश्चिमी राष्ट्रों की बड़ी दुर्दशा हो रही है, उन्हें कोई रास्ता नहीं मिल रहा है। अगर वे अब भी नहीं सतर्क हुए तो उन्हें अपने हाथों समाप्त होना पड़ेगा। ये हथियार उन्हीं के काम आएँगे। अखबारों में पढ़ते हैं कि अभी तो अणुबम का परीक्षण मात्र हो रहा है। लड़ाई में प्रयोग करने पर तो न जाने क्या होगा? सुना जाता है—अगर इनका युद्ध में खुलकर प्रयोग हुआ तो ४०-४० पीढ़ियों तक उसका असर रहेगा और वे उठ भी न सकेंगे, नेस्तनाबूद हो जाएँगे। आज अमेरिका और रूस अपने को कितना

भी समृद्धिशाली क्यों न माने, पर उन्हें भी इसकी भयंकरता का डर है, क्योंकि उनकी नींव हिंसा पर टिकी हुई है। हिंसा भय लाती है और उसी भय के फलस्वरूप आपस में होड़ सी लगी हुई है। इस समय हम भारत-वासियों को यह सोचना है कि मानवता को कैसे कायम रखा जा सकता है और उन भयभीत राष्ट्रों को कैसे रास्ता मिल सकता है ?

आज लाखों आदमी धर्म के नाम पर धोखे में हैं, घपले में हैं। आज रुपयों के बिना गुरु नहीं मिलते। गुरु होना भी आवश्यक है क्योंकि गुरु के बिना गति भी तो नहीं होती। पर कुगुरु से बिना गुरु का रहना ही अच्छा है।

आज धार्मिकों की आपसी फूट नैतिकता के प्रसार में बहुत बड़ी बाधा है। उन्होंने धर्म को केवल मन्दिरों, मस्जिदों और गिरिजाघरों तक ही सीमित रखा, बाजार में नहीं आने दिया। यही कारण है कि जो बाजार निर्भयता का स्थान होना चाहिये था, वह भय का अड्डा बना हुआ है। चारों ओर अनैतिकता तथा बेईमानी छाई हुई है।

अगर इस समय धार्मिक नेता आपसी समन्वय कर नैतिकता के प्रसार में योग दें तो मैं समझता हूँ वे बहुत कुछ कर सकेंगे।

सुजानगढ़,
२५ अप्रैल, '५७

२३ : सारा संसार जननी जन्मभूमि है

पिछले वर्ष मैं अपनी जन्मभूमि में आया था। उसके बाद अल्प समय में लम्बी यात्रा कर वापस अपनी जननी और जन्मभूमि के बीच बैठा हूँ। (उनकी माता-साध्वीश्री बदनाजी वहीं पर बैठी थीं)। वैसे मेरी न तो कोई जननी है और न कोई जन्मभूमि। मेरा तो सारा संसार जननी-जन्मभूमि है। पर, लोक-भाषा में ऐसा ही कहा जाता है।

आज का युग विषमता का युग है। जन-नेताओं के सामने आज बड़ी-बड़ी समस्याएँ हैं। एक तरफ अणु और उद्जन बम की भयंकरता मानव का मस्तिष्क खाए जा रही है तो दूसरी तरफ खाद्य की समस्या, बेरोज-गारी की समस्या आदि हैं। इन समस्याओं से उलझा मानव पथ-दर्शन का भूखा है, पर सही पथ-दर्शन मिल नहीं रहा है। ऐसे अवसर पर हम अगर सूर्य का नहीं, तो दीपक का काम अवश्य करेंगे। हमारी जितनी ताकत है, हम उस ओर लगायेंगे। पर आज सूर्य के अभाव में एक दीपक की नहीं, लाखों दीपकों की आवश्यकता है। राष्ट्रकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर ने

कितना सुन्दर कहा है—"सूर्य अस्ताचल को जाते समय कहता है—भाइयो, मैं तो जा रहा हूँ, पीछे से निगाह रखना। उस समय दीपक ने कहा—स्वामिन्! मैं जो हूँ, अपना तुच्छ प्रकाश फैलाऊँगा।" उसी प्रकार हम दीपक का काम तो अवश्य करेंगे। इससे समूचे संसार का अन्धकार तो दूर नहीं होगा, पर कार्यक्षेत्र का अन्धेरा तो अवश्य मिटेगा और मानव को कुछ राहत भी मिलेगी। उसी अन्धकार को मिटाने के लिए हम गाँव-गाँव में घूम रहे हैं।

आज का दिन अक्षय-तृतीया का दिन है। इतिहास में इस दिन का बहुत बड़ा महत्त्व है। इस युग के प्रथम मुनि भगवान् ऋषभदेव मौन अवस्था में विचरण करते थे। लोगों ने देखा—आदम बाबा आये हैं, इसलिए उनके लिए भेंट स्वरूप घोड़ा, हाथी, हीरे-जवाहरात आदि लायें। पर भगवान् ने उनमें से एक भी वस्तु ग्रहण नहीं की। उन्हें रोटी चाहिए थी। पर भगवान् को रोटी ऐसी तुच्छ वस्तु कौन दे? आखिर विचरण करते-करते १२ महीने बीत गये, भगवान् को न रोटी मिली और न पानी। घूमते-घूमते अपने पौत्र श्रेयांसकुमार के ग्राम में पधारे। उसने रात को स्वप्न देखा कि मैं मेरु पर्वत को ईक्षु के रस से सींच रहा हूँ। सुबह उसने अपने ज्ञान से पता लगाया कि भगवान् ऋषभदेव यहाँ पधार रहे हैं और उन्हें बहुत दिनों से भोजन नहीं मिला है। उस दिन उसके यहाँ इक्षु-रस के १०८ कलश आये हुए थे। उसने ऋषभदेव से कहा—भगवान् मेरे यहाँ इक्षुरस आया हुआ है, आप उसे ग्रहण कीजिये। भगवान् उसके यहाँ पधारे। दोनों हाथों से रस पीकर उन्होंने १२ महीने की अपनी तपस्या की पारणा की। उसी समय देवताओं ने फूलों की वर्षा की और आज तक यह दिन अक्षय तृतीया के नाम से मनाया जाता रहा है।

अणुव्रत-आन्दोलन आज जनव्यापी और जनप्रिय बनता जा रहा है, इसका यही कारण है कि वह जाति, वर्ग व सम्प्रदाय भेद से अछूता नैतिकता और मानवता का आन्दोलन है।

लाडनूं,
२ मई, '५७

२४ : अधिकारियों से

आज आपके इस नये भवन में हम आपको और आप हमको कुछ विचित्र से लगते हैं। आज हमारा संगम भी तो नया है और जब तक परिचय नहीं हो जाता तब तक आश्चर्य होना स्वाभाविक सा है। एक बच्चा जब

इस संसार में आता है, तब पहले पहल उसे भी संसार कुछ विचित्र सा लगता है। धीरे-धीरे संसार के साथ उसका परिचय होने लगता है, वह अपने वातावरण में रच-पच जाता है। अतः उचित है, पहले मैं आपको अपना परिचय दे दूं। हम भी आपकी तरह भिन्न-भिन्न प्रान्तों में रहनेवाले थे। साधु कोई जन्म से तो होता नहीं। जिसे अपने अनुभव से संसार से विरक्ति हो जाती है, वही साधु होता है। हमलोग शरणार्थी भी हैं। क्योंकि हमारी कहीं पर भी इंच भर जगह नहीं है। पर हम सामान्य शरणार्थियों से भिन्न हैं। दिल्ली में एकबार बहुत से शरणार्थी मेरे पास आये और मुझे अपना दुःख गुनाने लगे। मैंने उनसे कहा—भाइयो! आप और हम तो एक से हैं, क्योंकि हम दोनों ही शरणार्थी हैं। पर हममें एक बहुत बड़ा अन्तर है। वह यह है कि आपकी जमीन-जायदाद छुड़ा दी गई है और हमने अपनी धन-सम्पत्ति जानबूझकर छोड दी है। यही कारण है कि आपको तो इसका दुःख होता है और हमें प्रसन्नता।

हमलोग जैन हैं। "जिन" का मतलब है—विजेता। विजेता—यानी जो अपने ऊपर अनुशासन करे। जिसने अपने ऊपर अनुशासन नहीं कर लिया है, उसे वास्तव में दूसरों पर अनुशासन करने का अधिकार ही क्या है? अपने स्वार्थ से दूसरों पर अनुशासन करनेवाला कायर है। पर "जिन"—विजेता अपने पर ही अनुशासन करते हैं। उनका धर्म ही जैन-धर्म है।

आप कहेंगे हम यहाँ क्यों आये? हम यहाँ अपनी साधना के लिए आये हैं। हमारा सारा काम चलना, फिरना, खाना, पीना और प्रवचन करना साधना के लिए ही होता है। यहाँ जो प्रवचन करने आये हैं, यह आप पर कोई एहसान नहीं है। यह तो हमारी साधना ही है। आपसे भी हम कहना चाहते हैं, आप भी जो कुछ काम करें, साधना के लिए ही करें।

आज देश का सबसे ज्यादा अगर कुछ खोया है, तो वह है ईमान और मानवता। ऊपर से तो सारे लोग बहुत अच्छे लगते हैं, पर अन्दर से केवल अस्थि-पंजर मात्र रह गया है। सारे के सारे दूसरों की आलोचना करने को तत्पर हैं; पर अपने आपको कोई नहीं देखता। व्यापारी लोग आपको कोसते हैं। वे सोचते हैं, हम तो इतनी मिहनत से पैसा कमाते हैं और आप (इन्कम टैक्स ऑफिसर) आकर उसे साफ कर देते हैं। सचमुच आप उन्हें यमदूत लगते हैं। पर वे स्वयं यह नहीं सोचते कि वे कितने गरीबों के गले पर छूरी फेरते हैं। अभी मेरे सामने व्यापारी (बनिये) लोग नहीं हैं। पर जब मेरे सामने होते हैं तो मैं उनकी भी

अच्छी तरह से खबर लेता हूँ। मुझे दुःख है कि आज बनिये बदनाम हैं और उनके साथ-साथ कभी-कभी हमें भी लोग कुछ कह देते हैं। क्योंकि लोग हमें भी बनियों के गुरु कहते हैं। यद्यपि हमारे अनुयायी सारे बनिये ही हैं, ऐसा नहीं है।

बहुत से व्यापारी ऐसे भी हैं, जिन्हें आपका बिल्कुल भय नहीं है। उनका व्यापार बिल्कुल साफ है। अणुव्रत ही मनुष्य को अभय बनाता है। भय से भय बढ़ता है। अणुबम ने मनुष्य को भयभीत बना दिया तो विश्व के लोग हाईड्रोजन बम बनाकर अभय बनना चाहते हैं। पर अभय का रास्ता यह नहीं है। अणुव्रत अभय बनने का मार्ग है।

अणुव्रत आपको संन्यासी नहीं बनाता। वह कहता है—जहाँ भी आप रहते हैं, वहाँ रहकर भी अपने पर कण्ट्रोल करें। अगर आपने यह कर लिया तो आपके घर और कार्यालय सारे सुधर जाएँगे।

पहला अणुव्रत अहिंसा है। किसी को मार देना मात्र ही हिंसा नहीं है, पर, बुरा चिन्तन भी हिंसा है। अस्पृश्य मानकर करोड़ों का तिरस्कार करना हिंसा नहीं तो और क्या है? फिर इस तिरस्कार की प्रतिक्रिया भी होती है। आज सामूहिक रूप में जो धर्म-परिवर्तन किया जा रहा है, यह क्या है? क्या उन्होंने श्रद्धा से ऐसा किया है? श्रद्धा से व्यक्ति समझ सकता है पर इतने बड़े पैमाने पर धर्म-परिवर्तन निश्चय ही अपमान का प्रतिकार है। हिन्दू लोगों ने शूद्रों के साथ असद् व्यवहार किया जिसका फल है कि आज वे लाखों की संख्या में बौद्ध बनने जा रहे हैं। काम के आधार पर किसी को नीचा और अस्पृश्य मानना हिंसा है और व्यवहार विरुद्ध भी है। अगर इसी प्रकार कोई अस्पृश्य होता तो माताएँ तो कभी की अस्पृश्य—अपवित्र हो जातीं।

भगवान् महावीर ने कहा—"कम्मुणा बंभणो होई, कम्मुणा होई खत्तिओ। वइसो कम्मुणा होई, सुद्दो हवइ कम्मुणा......।" अर्थात् कर्म से ब्राह्मण होता है और कर्म से ही क्षत्रिय। वैश्य और शूद्र भी कर्म से होता है।

आज बड़ा वह माना जाता है, जिसके पास पैसे हों, भवन हों, मोटर हो और जिसकी आवाज सभी सुन सकते हों। पर जीवन के इस मूल्यांकन में परिवर्तन करना होगा। हमें पैसे को मनुष्य से बड़ा नहीं मानना है। बड़ा वह है—जो त्यागी है, संयमी है। यदि पैसे से ही मनुष्य बड़ा हो जाता तो हम अकिंचन भिक्षुओं की क्या गति होती जिनके पास एक पैसा भी नहीं है? भारतीय संस्कृति में सदा त्यागियों की पूजा होती आयी है। बड़े-बड़े सम्राटों के सिर भी अकिंचन भिक्षुओं के सामने झुक जाते थे। अतः आज भी हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि बड़ा वह है, जो त्यागी है।

दूसरा व्रत है सत्य। केवल सत्य बोलना मात्र ही सत्य नहीं है। सत्य का अर्थ है—जैसा सोचे, वैसा बोले। यदि ऐसा नहीं, तो मनुष्य ऊँचा नहीं बन सकता।

इसी प्रकार तीसरे व्रत अचौर्य का मतलब भी केवल चोरी नहीं करना ही नहीं है। अपने काम-धन्धे में ईमानदारी नहीं बरतना भी चोरी है। अपनी जिम्मेवारी के काम से दिल चुराना भी चोरी है।

चौथा व्रत है—ब्रह्मचर्य। आज के जीवन में इसकी बड़ी कमी है। इसीलिए आज बचपन से यौवन आता ही नहीं, सीधा बुढ़ापा आ जाता है।

पाँचवाँ व्रत है—अपरिग्रह। इसका मतलब यह नहीं कि आप संन्यासी बन जायें। पर अपनी निःसीम लालसाओं की सीमा तो करें।

आप अफसर हैं। आपने किसी व्यापारी पर अभियोग लगाया कि उसने अपना घर भर लिया। उधर व्यापारीगण अपनी रक्षा करते हैं—रिश्वत देकर। बीच में सरकार की आपको क्या चिन्ता? आप सोचते हैं—"पहले पेट पूजा, पीछे काम दूजा।" पर अब ऐसे काम चलनेवाला नहीं है। अब आप स्वतन्त्र हो गये हैं। राष्ट्र की सारी जिम्मेवारी आपके कन्धों पर है। अब आप दूसरों पर दोष नहीं मढ़ सकते। अतः अपने आपको जगाना पड़ेगा।

सबसे पहली और महत्व की बात यह है कि आप रिश्वत न लें। मैं आपकी कठिनाइयों को जानता हूँ। यह कठिनाई केवल आपकी ही नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति के सामने अपनी-अपनी कठिनाइयाँ रहती हैं। उनके सहे बिना आप सुखी नहीं हो सकेंगे। जिस व्यक्ति ने इस तथ्य को समझ लिया है, वह निश्चय ही एक आन्तरिक शान्ति का अनुभव करेगा।

दूसरी बात, आप दुर्व्यसनों से बचें। बीड़ी-सिगरेट तो आज सभ्यता की चीज बन गयी है। बहुत से लोगों से मैं पूछता हूँ—भाई तुम बीड़ी पीते हो? वे कहते हैं—हाँ महाराज! वैसे तो हम बीड़ी नहीं पीते पर कभी-कभी जब दोस्तों के साथ बैठ जाते हैं तो सभ्यता के नाते पीनी पड़ती है। लानत है ऐसी सभ्यता को। क्या सभ्यता इसे ही कहा जाता है? और चाय तो आज बिछौने पर ही चाहिए। उसके बिना दूसरे काम में हाथ लगाना ही मुश्किल हो जाता है। वह तो मानो आजकल रामनाम हो गई है। इसी प्रकार और भी बहुत सी नशीली चीजें हैं, जिनसे आप बचने की कोशिश करेंगे तो आपके जीवन में एक सच्ची शान्ति मिलेगी।

दिल्ली,
माघ शुक्ला, १३

२५ : कार्यकर्त्ताओं से

अधिक शिक्षा देने से इधर मेरी रुचि हटती जा रही है और मैं यह अनुभव करता हूँ कि हर मनुष्य को शिक्षा लेने का अभ्यास ज्यादा होना चाहिए। जैन शास्त्रों में शिक्षा के दो प्रकार बतलाये गये हैं—आसेवन और ग्रहण। तत्त्व-विवेचन, शब्द की व्याख्या, प्रवचन करने की विधि आदि-आदि की शिक्षा लेना ग्रहण-शिक्षा कहलाती है। आसेवन-शिक्षा का मतलब है—जीवन को कैसे उन्नत बनाना। वह सुनने की नहीं, जीवन में उतारने की है। महत्त्वपूर्ण होते हुए भी आज वह कम काम कर रही है। इसका मतलब यह नहीं कि यह काम करती नहीं, पर कुछ कम। इसीलिये शिक्षा देने से मेरा मन हटता जा रहा है। यह कोई निराशा और पलायन नहीं है। पर मेरा लक्ष्य वस्तुस्थिति बताने का है।

आसेवन नहीं होने के दो कारण हैं। भोजन के उदाहरण से इसे अधिक स्पष्ट जाना जा सकेगा। जिस प्रकार अगर कोई भोजन नहीं करता है, तो उसके दो कारण हैं। एक तो भूख न लगे तो भोजन नहीं किया जाता और दूसरे उसके बन्द होने पर नहीं किया जाता। यदि पहला कारण है तो उसमें डरने की कोई बात नहीं है। पर अगर बीमारी के कारण भूख लगती ही नहीं, तो यह अच्छा नहीं है। चतुर डाक्टर सबसे पहले उसके भूख नहीं लगने का कारण ढूंढ़ेगा। इसी प्रकार शिक्षा के आसेवन नहीं होने में पहला कारण हो तो डरने की बात नहीं है। क्योंकि उनका जीवन स्वयं ही इतना पूर्ण होगा कि उसे शिक्षा की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। पर अगर दूसरा कारण है तो उसके निवारण का उपाय करना ही होगा। अगर मैं वैद्य हूँ, तो कहूँगा—आज समाज में आत्म-निरीक्षण का अभ्यास नहीं है। यही बीमारी है। यदि इस बीमारी को मिटाना है तो हमें समाज में आत्म-निरीक्षण की भावना पैदा करनी होगी।

अणुव्रत आज सर्वमान्य हो गये हैं। योजना सुन्दर है, इसमें दो मत नहीं। पर उसे यदि अपने जीवन में उतारे ही नहीं तो केवल योजना क्या कर सकती है? वह कोई द्रव्य तो है नहीं, जो ढेर सा दीखने लगे। "न धर्मो धार्मिकैः बिना।" धार्मिकों के बिना धर्म कुछ भी अर्थ नहीं रखता। इसी प्रकार अणुव्रत अपने आप में कुछ नहीं है। उसका कुनाम या सुनाम धार्मिकों पर ही आधारित है। वे तो व्रत हैं, जो पुस्तकों में लिखे पड़े हैं। अतः आवश्यकता है, आज उन्हें जीवन में उतारने की। अगर वे जीवन में उतर जाते हैं, तो मैं समझता हूँ, वह बहुत बड़ा काम हो जाता है। और इसी काम को मैं प्राथमिकता देता हूँ। जब तक

यह काम नहीं होगा तब तक केवल उपदेशों से वे पनप नहीं सकते। उपदेश असर करते हैं ही नहीं, ऐसा तो मैं नहीं मानता, क्योंकि आठ वर्षों से इसका काम चला आ रहा है, इस अर्से में कुछ काम हुआ भी है। पर जितनी मात्रा में होना चाहिये था, उतना नहीं हो पाया। इसमें बहुत कुछ दुविधाएँ भी आयी हैं, पर आप कार्यकर्त्ताओं को उन्हें भी पार करना होगा।

संख्या में मेरा विश्वास नहीं है। कभी-कभी हम देखते हैं—एक व्यक्ति ही इतना काम कर देता है, जितना हजारों नहीं कर सकते। पर, हमारे पास ऐसे व्यक्ति कम हैं। ऐसी स्थिति में हमें आत्म-निरीक्षण करना है कि इसका क्या कारण है। हम जो काम करते हैं, उसमें हमारा व्यक्तिगत या साम्प्रदायिक कोई स्वार्थ तो नहीं है? पर तो भी वह अभिलषणीय मात्रा में हो नहीं रहा है। यही कारण है कि हमारे कार्यकर्त्ताओं का जीवन इतना ज्वलन्त नहीं कि उससे दूसरे लोग प्रेरणा पा सकें। अतः आज मैं उनसे यह कहूँगा कि वे अपने जीवन का निरीक्षण करें। वे सोचें—उनका जीवन पवित्र है या नहीं? वे जो कुछ बोलते हैं, वैसा आचरण करते हैं या नहीं? इस प्रकार ऐसा आत्म-निरीक्षण करनेवाले व्यक्ति जितने अधिक होंगे, हमारा काम उतनी ही तीव्र गति से बढ़ सकता है।

मैं यह भी देखता हूँ कि कुछ कार्यकर्त्ताओं में काम करने की ललक है। पर उनमें से कुछ लोगों में अहं वृत्ति आ जाती है। अगर कोई दूसरा काम करता है तो वे सोचते हैं—देखें, यह इसमें कितना सफल होता है। हमारे सहयोग के बिना यह कितना काम कर सकता है? और इस प्रकार वे एक दूसरे का सहयोग ही नहीं करते, असहयोग कर बैठते हैं। यह अच्छा नहीं है। होना तो यह चाहिए कि कोई भी काम करे, वह सब आपका ही काम है, अतः आप सब उसमें सहयोग दें। पर मान लें किसी कारण-वश आप सहयोग नहीं कर सकते, तो असहयोग तो न करें।

कार्यकर्त्ताओं को एक बात और ध्यान में रखने की है कि उन्हें उतना ही काम हाथ में लेना चाहिए, जितना उनका सामर्थ्य हो। काम को हाथ में लेकर उसे पूरा नहीं करना, आन्दोलन की गति को मन्द कर देना है। मैं मानता हूँ कि जो काम होनेवाला है, वह होकर ही रहेगा। और मुझे लगता है कि संसार आज संहार के उत्कर्ष पर आ गया है। क्या अब उसकी स्थिति वैसी ही बनी रहेगी? क्या दुनिया का दुर्भाग्य चलता ही रहेगा? संसार की नाजुक स्थितियों में हमेशा कुछ शक्तियाँ आगे आयी हैं और अब भी जरूर कोई शक्ति आगे आनेवाली है, इसमें सन्देह नहीं।

चूरू,
(कार्यकर्त्ता-सम्मेलन)

२६ : अणु-अस्त्रों की होड़

आज सिंहावलोकन की वेला है। विश्व प्रगति की चोटी पर पहुँच चुका है। अब सन्तुलन की जरूरत है। एकांगी प्रगति ने विश्व को विपदा के तट पर लाकर खड़ा कर दिया है।

एक ऐसी अनुश्रुति है—राक्षस से भिड़ो मत, टल कर चले जाओ।

स्पर्धा से संहार को बल मिलता है। भय, आशंका और शस्त्र तथा अभय, विश्वास और अहिंसा जगत में नहीं बढ़ते। इनका विकास भय, आशंका और शस्त्रों की प्रतिस्पर्धा से होता है।

प्रतिस्पर्धा कभी-कभी क्षम्य हो जाती है। आज वह अक्षम्य है। जनता ने अपना भाग्य राजनीतिक नेताओं को सौंप रखा है।

वे अपना दायित्व निभाने में सफल नहीं हो रहे हैं। विश्व का अधिक जनमत युद्ध और संहारक अस्त्र-शस्त्र निर्माण करने के पक्ष में नहीं है।

कुछ एक बड़ों को भय और अविश्वास सता रहा है। वे अपने विरोधियों को मिटाने के लिए स्वयं अपने मिटने की स्थिति पैदा करते जा रहे हैं।

दूसरों को मिटाकर कोई बच जायगा, यह अनहोनी बात है। आज की स्थिति जितनी उलझी हुई है उतनी ही स्पष्ट है। सँभालने की आवश्यकता उन बड़ों को है जो विराट जनता के भाग्य की सुरक्षा का दायित्व लिये हुए हैं।

अगर समय रहते वे न सँभल सके तो जनता को भी अपने अधिकार की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

क्रान्ति का सूत्र सदा जनता के हाथ में रहता है। हिंसात्मक क्रान्ति के बाद भी स्थिति सुलझी नहीं है। अहिंसक क्रान्ति के सन्देशवाहकों के लिए कसौटी का समय है।

वे युद्ध और अस्त्र-निर्माण के विरुद्ध जनमत को जगाएँ। जनमत को जागृत करने के सिवा इनके प्रतिकार का कोई भी विकल्प सरल नहीं रहा है।

जागृत जनमत की उपेक्षा कर कोई भी राष्ट्र इन स्थितियों को अधिक लम्बा नहीं कर सकता। दूसरे महायुद्ध की समाप्ति पर मैंने एक क्रान्तिकारी सन्देश में सुझाया था कि विश्वशान्ति के लिए संहारक अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण एकबारगी बन्द किया जाय।

कुछ लोगों ने इसे सुना किन्तु जिसे सुनना चाहिए था उन लोगों ने न सुना।

संहारक अस्त्रों का निर्माण बराबर चलता रहा और अब वह चरम बिन्दु पर पहुँच रहा है।

पश्चिमी जर्मनी के अणु-वैज्ञानिक अपने राष्ट्र को अणु-अस्त्रों से सज्जित करने का विरोध कर रहे हैं।

इङ्गलैण्ड में एक शान्तिवादी संगठन "पीस प्लेज यूनियन" बना है, जिसकी सदस्य-संख्या दस-ग्यारह हजार बतायी जाती है। वह युद्ध सामग्री के निर्माण का विरोध कर रहा है।

दुनिया के बड़े-बड़े दार्शनिक विचारक और वैज्ञानिक भी संभावित खतरे की ओर संकेत कर रहे हैं।

अणु का विरोध करनेवाले शान्तिवादी सफल नहीं हो रहे हैं। उनका स्वर क्षीण है। वे पूरे जनमत को जगा नहीं सके हैं। इसलिए उनकी बात कोई भी राष्ट्र नहीं सुन रहा है।

आणविक-अस्त्रों के निर्माण, परीक्षण और संग्रह को स्थगित करने के लिए कोई भी तैयार नहीं है। वे अणु-अस्त्रों को ही अपने लिए सुरक्षा और विपक्ष के लिए निरोध मान रहे हैं। यह किसी एक का ही नहीं व्यापक दोष हो रहा है।

संहारक स्थिति पैदा करनेवाला कोई भी अच्छा नहीं है; भले फिर वह असाम्यवादी हो या साम्यवादी। साम्यवाद या असाम्यवाद ये गौण प्रश्न हैं। मूल प्रश्न मानवता का है। मानवता को मिटानेवाले ये मानव स्वयं मिट जायेंगे तब वाद किसका रहेगा?

आज के राजनीतिज्ञ राजनीति के घेरे को तोड़ बाहर देख-सुन नहीं रहे हैं। जो राजनीति से परे मानवतावादी हैं उन्हें वे कुछ समझते ही नहीं, ऐसा लगता है।

राजनीति को सर्वाधिक महत्त्व देकर जनता क्या अपने लिए गहरा गड्ढा नहीं खोद रही है?

भौतिक सुख-सुविधाओं को ही जीवन का सर्वस्व मानकर उसके लिए दूसरों की सत्ता छीननेवाले क्या प्रलय को बुलावा नहीं दे रहे हैं?

निःशस्त्रीकरण की चर्चा लम्बे समय से चल रही है। सेना और सैनिक-व्यय की कमी के प्रस्ताव भी कभी से रखे जा रहे हैं। अणु-अस्त्रों के निर्माण, परीक्षण और संग्रह को रोकने के लिए सुझाव भी कभी से आ रहे हैं। किन्तु कुछ बन भी नहीं पा रहा है। इसका कारण आपसी भय और आशंका है। इनके मिटे बिना विषफल अमृत नहीं बनेंगे।

अभय और विश्वास का साधन मैत्री है।

आज की दुनियां में आपसी सम्पर्क कम नहीं है। इसके होते हुए भी या तो एक दूसरे को समझ नहीं रहा है या समझने पर जो सद्भावना मिलनी चाहिए, वह नहीं मिल रही है।

दूसरों को हीन या अधिकारशून्य बनाये रखने की बात गलत है। उसका निश्चित परिणाम संघर्ष है। दो विरोधी विचार दुनियां में एक साथ रह सकते हैं, यह हृदय मे नहीं समझा गया है।

विचार-परिवर्तन के लिए बल-प्रयोग के तरीके अब भी चल रहे हैं।

ग्राह्य और अग्राह्य विचार की निश्चित परिभाषा नहीं हो सकती। जो जनता को ग्राह्य लगेगा वह विचार टिकेगा और जो ग्राह्य न लगेगा वह मिट जायगा।

किसी एक विचार का आग्रह करनेवाले अग्राह्य के परिणाम की भयंकरता को असमय में, समय से पहले ही ला देते हैं।

मैत्री-भाव के विस्तार के लिए आग्रह को छोड़ देना आवश्यक है।

अणुव्रत-आन्दोलन के साथ मैत्री का गहरा सम्बन्ध है। इसीलिए मैत्री के रूप में "मैत्री-दिवस" मनाने का निश्चय हमने किया। इस वर्ष दिल्ली में उसका प्रारम्भ हुआ।

इसका कार्यक्रम है—सरलतापूर्वक अपनी भूलों के लिए दूसरों से क्षमा माँगना और दूसरों की भूलों को क्षमा करना।

यूनेस्को के डाइरेक्टर जनरल लूथर इवान से इसे व्यापक बनाने के बारे में बातचीत चली थी और उन्होंने ऐसा करना चाहा भी था।

पण्डित नेहरू ने विश्वशान्ति के लिए पंचशील के रूप में एक वैज्ञानिक हल प्रस्तुत किया था किन्तु उसका भी हार्दिक पालन नहीं हो रहा है, ऐसा लगता है। शक्ति पर आधारित नीति को ही प्रश्रय मिलता रहा तो स्थितियाँ सुलझने की अपेक्षा और अधिक उलझ जायेंगी।

आध्यात्मिकता से सन्तुलित प्रगति ही टिक सकती है और जगत के लिए भयंकर नहीं होती। राजनीतिक मस्तिष्क से ही शान्ति की बात सोचनेवाले राजनीतिज्ञ मानवता की दृष्टि की उपेक्षा न करें। मानवता के बिना मानव की दुर्गति हो जायगी। लाखों, करोड़ों शान्तिवादियों और मानवतावादियों की आन्तरिक पुकार उपेक्षणीय होगी उसका परिणाम राजनीतिज्ञों के लिए भी इष्ट नहीं होगा।

अगर सुनें तो मैं दुनिया के छोटे और बड़े सबों को यह सुनाना चाहता हूँ कि वे एकबार फिर सिंहावलोकन करें।

चूरू,
मैत्री-दिवस, '५७

२७ : पुरुषार्थ के भेद

संसार में चार पुरुषार्थ माने गये हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। कई आचार्यों ने इनकी संख्या तीन भी मानी है। उसकी व्याख्या करते हुए वे एक जगह लिखते हैं :

'त्रिवर्ग संसाधनमंतरेण, यशोरिवायुर्विफलं नरस्य।
तत्रापि धर्म प्रवरं वदन्ति, न तं बिना यद्भवतोऽर्थकामौ ।।

अर्थात् धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थों को जो मनुष्य नही अपनाता, उसका जीवन पशुओं के सदृश निरर्थक है। यद्यपि पशु भी कोई बिल्कुल निरर्थक ही हों, ऐसा तो नहीं हैं। पर फिर भी उनमें विवेक की कमी होती है। उनके पैरों में अगर कोई रस्सी आ जाती है तो उन अज्ञानियों मे इतना ज्ञान भी नहीं होता कि वे उसे निकाल लें। दलिष्ट होने पर भी वह तड़पेगा पर फिर भी वह उससे मुक्त नहीं होता। इसी-लिए अज्ञानी मनुष्यों को शास्त्रों में जगह-जगह मृग कहा गया है।

पर इन तीन पुरुषार्थों में भी धर्म को सबसे बड़ा माना गया है। प्रश्न होना सहज है, क्यों? धर्म को इतना महत्त्व क्यों दिया गया? इसी-लिए कि बिना इसके अर्थ और काम भी नहीं सधते। भारतीय चिन्तन-धारा में यद्यपि यह माना गया है कि काम और अर्थ अपने पुरुषार्थ से ही होते हैं। पर उनमें पुण्योदय भी नितान्त अपेक्षित है। उसके बिना ये दोनों भी नहीं सध सकते। यह भी सही है कि पुण्य और धर्म दोनों ये भिन्न तत्त्व हैं। धर्म है आत्म-शुद्धि का साधन और पुण्य है उसके साथ होनेवाला शुभ बन्धन। उदाहरण के लिए जैसे दीपक को लें। उससे प्रकाश के साथ-साथ काजल भी पैदा होता है। यद्यपि उसका मूल स्वभाव प्रकाश करना है, पर फिर भी उसके साथ काजल भी पैदा हो जाता है। तो क्या इससे प्रकाश और काजल दोनों एक हो गये? नहीं। इसी प्रकार धर्म और पुण्य का भी सम्बन्ध है। धर्म से आत्मशुद्धि होती है और इसके साथ-साथ पुण्य-बन्धन भी। मोक्ष प्राप्ति पर तो ये भी अन्त में छूटेंगे ही। क्योंकि आखिर हैं तो बन्धन ही, बेड़ी ही। इसे आत्मा का धर्म मानना बिल्कुल गलत है। इसीलिए कविवर यशोविजय जी ने कहा है :

शुद्धा योगा यदपि यतात्मना श्रवन्ते शुभ कर्माणि।
काञ्चन निगडा स्तांनपि जानीया, हत निवृन्ति शर्माणि ।।

हमारी अच्छी प्रवृत्ति से सत्कर्म पुण्य का बन्धन होता है। पर आखिर है तो बेड़ी ही। हो सकता है वह बेड़ी लोहे की नहीं हो, सोने की हो। पर है तो आखिर बेड़ी ही। लोग सोने के आभूषणों से प्रसन्न होते हैं,

और लोहे की बेड़ियों से दुःखी। पर तत्त्वतः धातु की दृष्टि से दोनों में क्या भेद है? क्या सोने का वजन नहीं होता? पर मनुष्य ने सोने को अच्छा मान लिया है। अतः उसे उसका बोझ मालूम नहीं पड़ता। इसी प्रकार शुभकर्म-बन्धन भी अन्ततः तो त्याज्य हैं।

धर्म सहज साधना है और पुण्य उसका प्रासंगिक फल। जिस प्रकार अन्न के साथ भूसा पैदा होता है, उसी प्रकार धर्म के साथ पुण्य-बन्धन हुए बिना नहीं रहता। यदि कोई मनुष्य कहे कि उसे तो केवल अनाज ही चाहिए, भूसा नहीं, तो क्या यह संभव है? हाँ, यह ठीक है कि बीज जितना अच्छा होगा, उतना ही भूसा कम होगा, अनाज ज्यादा होगा। पर बिल्कुल न हो यह तो सम्भव नहीं है। उसी प्रकार धर्म के साथ पुण्य बन्धन होगा। हो सकता है, उसकी मात्रा कम हो। तब फिर यहाँ एक प्रश्न और आता है—जो मोक्षार्थी है, अर्थ-सिद्धि जिसका लक्ष्य नहीं है, उसकी बन्धन-मुक्ति कैसे होगी? क्योंकि प्रत्येक शुभ क्रिया के साथ पुण्य का बन्धन लगा हुआ है। इसका समाधान यह है कि जिस प्रकार अच्छे बीज से भूसा कम पैदा होता, उसी प्रकार जिस आत्मा में कषाय की मन्दता अधिक होगी, उसमें पुण्य-बन्धन का घनत्व भी उतना ही कम होता चला जायेगा। कषाय के सर्वथा मुक्त होने के बाद आखिर में एक ऐसा स्थान भी है, जहाँ बन्धन का सर्वथा अभाव हो जायेगा। वहाँ केवल निर्जरा रहेगी। कषाय यानी राग-द्वेष। इसीलिए साधक कार्य-क्रिया काण्डों की अपेक्षा कषाय-मुक्ति पर ज्यादा जोर देते हैं। यद्यपि मैं यह नहीं कहता कि सब बाहरी क्रिया-काण्ड व्यर्थ ही हैं। पर जब तक कषाय में कमी नहीं आती, उनका फल भी वैसा नहीं मिलेगा। भरत जी ने महलों में बैठे ही केवल-ज्ञान प्राप्त कर लिया। पर इस तथ्य से भी आँखें नहीं मूंदी जा सकतीं कि जितनी कषाय-मुक्ति होती जायेगी, साधक क्रिया-काण्डों से उतना ही विरक्त होता चला जायेगा। जैसे प्रति-लेखन, प्रति-क्रमण, एक गाँव में एक महीने से अधिक नहीं रहना, ये सब हमारे लिए आवश्यक हैं पर कल्पनातीत के लिए ये बन्धन नहीं हैं। यद्यपि कल्पातीत का भी यह अर्थ नहीं है कि वे जो कुछ भी करें। पर स्वभावतः ही वे ऐसा करते ही नहीं। और जो कुछ करते हैं, वही सही बन जाता है, क्योंकि उनमें प्राणेय राग-द्वेष नहीं है। इसीलिए कहा गया है:

> रागाद्वा द्वेषाद्वा मोहाद्वा, वाक्य मुच्यते ह्यनृतम्।
> यस्य तु वैरो दोषास्तस्यानृत कारणं किं स्यात्॥

कोई भी आदमी झूठ बोलता है तो उसका कारण है—राग, द्वेष और मोह। पर जिसमें ये दोष नहीं हैं, उसके झूठ बोलने का कारण ही क्या

रह जाता है ? अतः कल्पातीत होने पर जब राग, द्वेष और मोह का नाश हो जाता है तो उसके झूठ बोलने का असदाचरण का कारण ही नहीं रह जाता।

रामायण में एक प्रसंग आता है—वसु नाम का एक राजा बड़ा सत्य-वादी था। कहा जाता है सत्यवादिता के कारण उसका सिंहासन अधर आकाश में टिका रहता था। एकबार कुछ ब्राह्मणों में विवाद हो गया। विवाद का कारण था—कुछ ब्राह्मण यह कहते थे कि वेद में जो 'अजैर्यष्टव्यं' पद्य है। उसका मतलब है बकरे की बलि से होम करे। पर नारद का मत था कि 'न जायते इति अजाः व्रीह्यः'। 'अजैर्यष्टव्यं का मतलब है पुराने धान की आहुति देनी चाहिए। विवाद बढ़ते-बढ़ते इतना बढ़ गया कि उन्हें अन्तिम निर्णय के लिए राजा वसु की शरण लेनी पड़ी। वसु के लिए भी यह एक बड़ी समस्या हो गई। क्योंकि एक तरफ उसके स्वजन थे जो बकरे की आहुति का समर्थन करते थे और दूसरी तरफ था सत्य का पक्ष। वह बड़ा पेशोपेश में पड़ गया। आखिर स्वजनों का दबाव अधिक पड़ा और निर्णय में उसे कहना पड़ा कि 'अजैर्यष्टव्यं' का मतलब है बकरे की आहुति। कहते हैं उसी वक्त उसका सिंहासन नीचे गिर पड़ा और वह नष्ट हो गया। अतः इस झूठ बोलने का कारण था राग। इसी प्रकार स्वार्थ के कारण हिंसा को भी अहिंसा कह दिया जाता है। जैसे अगर कोई व्यक्ति किसी को मार दे तो उसे फाँसी का दण्ड दिया जाता है वही व्यक्ति अगर लड़ाई के मोर्चे पर लाखों जवानों को भी मार दे तो उसे कोई दण्ड नही दिया जाता। उल्टे उसकी पीठ ठोकी जाती है। उसे 'पद्म-विभूषण' और 'महावीर-चक्र' से सम्मानित किया जाता है। यह क्यों ? इसलिए कि इसमें देश का स्वार्थ है। हो सकता है, वह स्वार्थ व्यक्तिगत स्वार्थ न हो पर किसी भी अवस्था में स्वार्थ आखिर स्वार्थ ही है। हम इसमें धर्म नहीं कह सकते क्योंकि यहाँ धर्म का सवाल नहीं है ; रक्षा का सवाल है। अतः यह आध्यात्मिक धर्म नहीं। नीति हो सकती है। बिनोवाजी ने भी कितना सूक्ष्म देखा है। वे कहते हैं—युद्ध करना तो हिंसा है ही पर युद्ध में आहत व्यक्तियों की परिचर्या करना भी अहिंसा नहीं है। हाँ, यह सहयोग हो सकता है, पर इसे अहिंसा मानना जरूरी नहीं।

भिक्षु स्वामी ने भी यही कहा है। एक व्यक्ति उनसे पूछता है—"भीखणजी ! शेर को मारने में हिंसा है या अहिंसा ?" उन्होंने स्पष्ट कहा—वह अहिंसा नहीं, हिंसा है। पर चूँकि सामाजिक लोग उसे छोड़ नहीं सकते अतः वे उसकी हिंसा करते हैं। पर तत्त्वतः वह अहिंसा नहीं है। अगर वही अहिंसा होती तो मुनि के पास शेर आने पर वे शान्त क्यों रहते ?

वे भी उसे मारते। तब लोग कहेंगे यह तो बड़ा अव्यावहारिक सिद्धान्त है। भला शेर मारने को आए और उसे मारो मत। तब तो थोड़े ही दिनों में समार उजड़ नहीं जायेगा? पर आपलोगों को यह भी अच्छी तरह से समझ लेना है कि यह आदर्श की बात है। और यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति आदर्श तक पहुँच ही जाये। आदर्श वह नहीं जिसपर कोई चल ही नहीं सके। और न वह आदर्श है जिसे कोई भी नहीं अपना सके। वह तो जीवन का प्रकाश-स्तम्भ होता है, सही चिन्तन है। सब लोग अपना सकें और न अपना सकें, इसपर आदर्श का निर्णय नही होता।

इस प्रकार असत्य आचरण का कारण जिनमें नहीं है वे कल्पातीत होते हैं और उनके लिए बाह्य क्रिया-काण्डों का इतना बोझा नहीं रहता। वे जो कुछ करते हैं वही दूसरों के लिए करणीय बन जाता है। अस्तु।

हाँ, तो हमारा प्रकरण चल रहा था कषाय की ज्यों-ज्यों मुक्ति होती जायेगी त्यों-त्यों पुण्य-बन्धन के घनत्व मे भी कमी आती जायेगी। अतः मोक्षार्थी प्राणी जब कषाय मुक्त बन जायेगा तो उसकी क्रिया से पुण्य-बन्धन इतना क्षीण हो जायेगा कि उसके प्रतिकार की कोई अलग से आवश्यकता नहीं रहेगी। वह अपने आप नष्ट होता जायेगा, और अन्तिम अवस्था में सक्रिय होकर वह मुक्त बन जायेगा। यद्यपि अर्थ और काम की प्राप्ति में पुरुषार्थ की भी आवश्यकता है। पर धर्म के बिना केवल पुरुषार्थ भी कुछ नहीं कर सकता। अतः सब दृष्टियों से ही धर्म एक ऐसा तत्त्व रह जाता है जिसे मनुष्य को करना ही चाहिए। पर इसमें एक ख्याल रखने की आवश्यकता है कि धर्म अर्थ और काम के लिए नहीं किया जाना चाहिए। यदि इनके लिए धर्म जैसे विशुद्ध तत्त्व को खपा दिया गया तो वह तो करोड़ों की सम्पत्ति को कौड़ी में बेचने जैसी बात होगी। आज यह होता है, साधना को भौतिक प्राप्ति के लिए खपाया जाता है। मनुष्य धार्मिक बनता है पर मुक्ति के लिए नहीं अपने पापों को छिपाने के लिए। यह केवल बाह्याचार है। कष्ट सहकर भी साधना को तुच्छ मूल्य पर बेचने जैसा कार्य है। केवल कष्ट सहना ही साधना नही है। कष्ट तो बहुत से लोग सहते हैं पर स्वार्थ के लिए, परमात्मा के लिए नहीं। टॉलस्टाय ने एक जगह कहा है—'ईसा के बलिदान, त्याग और कष्ट सहिष्णुता की सब लोग प्रशंसा करते हैं। पर क्यों? क्या संसार में अधिक लोग ऐसे नहीं हैं जो ईसा से भी ज्यादा कष्ट सहते हैं? तब फिर उनकी प्रशंसा क्यों नहीं की जाती? इसका कारण यही है कि ईसा ने बलिदान किया परमात्मा के लिए निस्वार्थ रूप से। दूसरे लोग बलिदान करते हैं केवल अपने स्वार्थ के लिए। बस यही कारण है ईसा का कल्याण हुआ और दूसरे लोग कष्ट

सहकर भी उल्टे डूबते जाते हैं।' सारांश यही है कि धर्म जैसी शुद्ध वस्तु को ऐहिक प्राप्ति का साधन नहीं बनाना चाहिए। वह तो स्वयं होता है पर उसका उद्देश्य नही होना चाहिए।

लाडनू,

२८ : त्याग का महत्त्व

कई लोग कहते हैं—साधुओं को नमस्कार क्यों किया जाये ? इसमें समझने की बात इतनी ही है कि—नमस्कार कोई चादर और ओघे (रजो-हरण) को तो किया नहीं जाता। नमस्कार किया जाता है—त्याग को। और त्याग को नमस्कार करने से कुछ हानि होती हो, ऐसा भी नही है। उल्टा इससे लाभ ही होता है। त्याग को नमस्कार करने से त्याग के प्रति लोगों की श्रद्धा बढ़ेगी। क्या यह आवश्यक नहीं है ? क्या आप यह चाहेंगे कि लोग भोग को नमस्कार करें ? यदि आप यह नही चाहते तो अवश्य ही आप को त्याग के प्रति नम्र होना ही पड़ेगा। मनुष्य या तो स्वयं त्यागी बने या त्यागियों के प्रति झुके। इसके सिवाय त्याग की प्रतिष्ठा का कोई रास्ता नहीं है, और त्याग के रास्ते में तो आप को झुकना ही पड़ेगा। भोग में स्पर्धा हो सकती है, एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से ज्यादा भोग-सामग्री प्राप्त करने की चेष्टा कर सकता है। पर त्याग के मार्ग में प्रति-स्पर्धा नहीं है। वहाँ तो मनुष्य को स्वयं को खपाना पड़ता है। वह भी केवल अपने परम उत्थान के लिए। जैन आगमों में इस सम्बन्ध में एक कथा आती है :

दशार्ण देश का राजा दशार्णभद्र एकबार यह सुनकर कि उसके नगर में तपोनिष्ठ भगवान् महावीर पधारे हैं, बड़ा खुश हुआ और सोचा मुझे भी भगवान् की पर्युपासना करनी चाहिये। पर साथ ही साथ मैं भगवान् के पास इस रूप में जाऊँ कि जिस रूप में आज तक कोई नहीं गया है। यह सोच अपनी सारी सेना व नागरिकों को सजाकर वह भगवान के दर्शन करने के लिए अपने राज-प्रासाद से निकल पड़ा। मार्ग में ज्यों-ज्यों वह अपनी सवारी को निहारता जाता था, त्यों-त्यों मन में फूला नहीं समा रहा था और उत्कर्ष में बहा जा रहा था कि मेरे जैसी सम्पदा सहित न तो आजतक भगवान के दर्शन करने कोई गया है और न आगे जायेगा। इधर इन्द्र ने अपने देवलोक में अवधि-ज्ञान के उपयोग से पृथ्वी का हाल देखते हुए दशार्णभद्र के उत्कर्ष को देखा। वह मन ही मन हँसने लगा कि मनुष्य में कितनी दुर्बलता होती है ? पर अनायास उसके मन में आया कि आज

तो मुझे इसका मान-मर्दन करना ही चाहिए। कमी किसी बात की थी नहीं। उसी समय उसने विकुर्वणा के द्वारा एक अति विशाल लवाजमे का निर्माण किया और आकाश-पथ से भगवद्-दर्शन के लिए उतर पड़ा। दशार्ण-भद्र ने इन्द्र का यह ठाट देखा तो अवाक् रह गया। जो उत्कर्षशील होता है, उसे लज्जा भी उतनी ही अधिक महसूस होती है। अतः इन्द्र के इस ठाट-बाट को देखकर वह लज्जा से पृथ्वी में धँसने लगा। विचारने लगा—अब मैं क्या करूँ? सोचते-सोचते उसके मन में आया—भौतिक-स्पर्धा से मैं अब इन्द्र को जीत सकूं यह सर्वथा असम्भव है। अब उसके विचारों ने करवट ली और सोचने लगा—यह भौतिक-स्पर्धा बड़ी बुरी होती है। मैंने बिना समझे यह काम किया। अब अगर मेरी लज्जा किसी प्रकार बच सकती है तो उसका एक ही मार्ग है कि मैं इस भौतिक-स्पर्धा को छोड़ भगवान् के चरणों में लेट जाऊँ। और उसने यही किया। भगवान् के पास आकर हाथ जोड़कर कहने लगा—"देव! मैंने भौतिक-स्पर्धा का खेल देख लिया है। अब मुझे आप आत्म-साधना का पथ दिखायें और मुझे मुनि-धर्म में प्रव्रजित करें। अब इन्द्र अवाक् था। हाथ जोड़कर वह दशार्णभद्र के पैरों पर गिर पड़ा और कहने लगा—महात्मन्! अब मैं आपके आगे नत हूँ। भौतिक-स्पर्धा में मैंने आपको पराजित कर दिया पर इस आत्म-साधना के आगे मैं आपसे पराजित हूँ और आपसे आपकी आशातना के लिए क्षमाप्रार्थी हूँ।"

देखा आपने त्याग का महत्त्व? एक इन्द्र को भी त्याग के सामने झुकना पड़ता है। तो मनुष्य की बात ही क्या? हालांकि साधु यह नहीं चाहते कि आप उनके पैरों में पड़ें। इसमे उनका कोई महत्त्व नहीं बढ़ता है। यदि वे ऐसा चाहते हों तो उनकी साधना में कमी आ जाती है। वह तो आपकी नम्रता है। पर यह तो स्वयं आपके सोचने की चीज है कि आप त्याग का आदर किस प्रकार कर सकते हैं? मैं मानता हूँ कि सारे शरीर में सिर का सबसे ऊँचा स्थान है। वह सब जगह झुक जाये यह मुश्किल भी लगता है और आज तो वह माता-पिता के सामने झुकने में भी सकुचाता है। पर अगर आप त्याग को महत्त्व देते हैं तो आपको उनके सामने तो सिर झुकाना ही पड़ेगा। साधुओं के सामने झुकना कोई गुलामी नहीं। गुलामी तो वह होती है जब आपको कोई भौतिक आकांक्षा हो। साधुओं के सामने झुकते आपमें कोई आकांक्षा नहीं होती। अतः यह गुलामी कैसी? और भारत का तो यह आदर्श रहा है और आज भी है कि त्याग के आगे हमेशा लोग झुकने के लिए तैयार हैं।

यह तो पश्चिम की सभ्यता है कि वह धन और सत्ता को सिर झुकाती

रही है। हमारे यहाँ बड़े-बड़े सम्राटों का और ज्ञानियों का सिर भी अकिंचन साधुओं के सामने झुक जाता है, फिर साधारण धनी और ज्ञानी की तो बात ही क्या है? हमारे यहाँ धन और शिक्षा से ज्यादा आचार को महत्त्व दिया गया है। इसीलिए कहा गया है—'आचारः प्रथमो धर्मः'। मैं मानता हूँ कि भारत की जबतक यह आस्था रहेगी तबतक यहाँ की धुरी गलती की ओर नहीं जायेगी। हमें उसकी रक्षा करनी है और आज के अर्थ-प्रधान विश्व को त्याग की ओर झुकाना है।

एक प्रश्न आता है—अगर साधु श्रावकों को अपने पैरों में झुकाना नहीं चाहते तो दर्शन करने का बंधा (नियम) क्यों दिलाते हैं? पर यहाँ दर्शन का मतलब है—सम्पर्क। अगर लोग साधुओं का सम्पर्क करते रहें तो वे उनसे प्रतिदिन जीवन-शुद्धि की प्रेरणा पा सकते हैं, और यह तो उल्टा तर्क है कि साधु अपने पास ठाट चाहते हैं। पर उन्हें न एकान्त से मोह है और न ठाट से। उनके लिए दोनों ही समान हैं।

लाडनूं,
(प्रातःकालीन प्रवचन)

२९ : पवित्र जीवन

अपरिग्रह में मेरी निष्ठा है। यदि मेरे सामने अणुव्रत नहीं होता तो संसार की स्थिति ऐसी है कि मुझे कहना पड़ता, परिग्रह में मेरी निष्ठा है। भला आज सन्तों को छोड़कर और अपरिग्रह में निष्ठा है किसकी? सब लोग यही सोचते हैं कि कैसे उनके पास ज्यादा से ज्यादा परिग्रह हो। पर आज तो स्थिति बड़ी विकट हो गई है। उन लोगों से जिन्होंने कल का अखबार देखा है, कुछ छिपा नहीं है। अबकी बार के बजट और नये करों ने पूँजी पतियों की तो खूब ही खबर ली है। हम हमेशा अपरिग्रह की बात कहा करते थे पर हमारी कौन सुनता है? अब सरकार स्वयं सबको अपरिग्रह के रास्ते पर ला रही है। अब भी अच्छा है, लोग सँभल जायें। सरकार आपपर नियन्त्रण करे इसकी अपेक्षा आप स्वयं अपने पर नियंत्रण कर लें तो कितना अच्छा? पहले लोग अणुव्रत की हँसी उड़ाते थे। कहते, यह क्या आन्दोलन चलाया जा रहा है? पर आज तो कदम-कदम पर इसकी उपयोगिता नजर आ रही है। हमारे ऋषि-मुनियों ने हमेशा उपदेश दिया है—"महारम्भी और महापरिग्रही मत बनो।" आज उसके सही होने का जमाना सामने आ रहा है।

यद्यपि व्यापारी बड़े होशियार होते हैं पर सरकार भी उनकी पूरी खबर लेती है। व्यापारियों ने गलत खाते रखने शुरू कर दिये तो सरकार भी कब चूकनेवाली थी। उसने २०-२० वर्षके पुराने खाते देखना शुरू किया। अब भारे पूंजीपति घबराते हैं। आप कहेंगे पूंजीपति कितने हैं? पर सवाल यह नहीं है कि पूंजीपति हैं कितने? सवाल तो यह है कि पूंजीपति बनना कौन नहीं चाहता? जब तक यह चाह मिट नहीं जाती तब तक संसार में शान्ति होनेवाली नहीं है। सरकार की आँखें पूंजी पतियों पर लगी हुई हैं। वह तरह-तरह के टैक्स लगाकर उनसे रुपये ऐंठना चाहती है। और सरकार के क्या कोई भण्डार थोड़े ही भरे पड़े हैं? सुना करता था चक्रवर्तियों के धन के भण्डार भरे रहते थे। पर नेहरू—सरकार के पास खजाना कहाँ से आये? वह तो आप लोगों से ही टैक्स लेने वाली है। इसीलिए तो जहाँ कहीं देखो आयकर, व्ययकर, मृत्युकर, सम्पत्तिकर लग रहे हैं। अत: अब भी समय है, आप लोग सँभल जायें। महारम्भ और महापरिग्रह आदि को छोड़कर जीवन को सादा और पवित्र बनायें।

३० : शांति का मार्ग त्रिवेणी

श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र यह त्रिवेणी है। पर इनमें भी श्रद्धा—दर्शन का स्थान प्रमुख है। इसीलिए कहा गया है—"नादंसणिस्सनाणं"। यह सच है, श्रद्धा की आँख नहीं होती। जबतक श्रद्धा होती है तबतक श्रद्धेय की कोई बात नहीं खलती। और जहाँ श्रद्धा डिग जाती है वहाँ फिर पग-पग पर पैर लड़खड़ाने लग जाते हैं। इसीलिए श्रद्धा के लिए यह आवश्यक है कि वह गहरी होनी चाहिये। श्रद्धा के बारे में सन्तों ने जो इतना गौरव गाया है वह क्या व्यर्थ थोड़ा ही था? गौतम को भगवान् के प्रति कितनी अगाध श्रद्धा थी? इसीसे उनके जीवन में एक अमित आनन्द का प्रवाह सतत् बहता रहता था। ज्ञान की दृष्टि से गौतम कोई कम ज्ञानी थोड़े ही थे। पर श्रद्धा का आनन्द एक और ही आनन्द होता है। उसे भक्त का हृदय ही पा सकता है। वहाँ ज्ञान की पहुँच नहीं है।

आवश्यक सूत्र में श्रद्धा का एक बड़ा ही सुन्दर चित्र खींचा गया है। वहाँ कहा है :

"इणमेव निग्गंथं पावयणं सच्चं अणुत्तरं केवलियं पडिपुण्णं
नेआउयं संसुद्धं सल्लगत्तणं सिद्धिमग्गं मुत्तिमग्गं निव्वाणमग्गं
निज्जाणमग्गं अवितह मविसंधि सव्व दुक्खपहाण मग्गं इत्थं

ठिश्रा जीवा सिज्झंति बुज्झंति मुच्चन्ति परिनिव्वायन्ति
तं धम्मं सद्दहामि पत्तियामि रोएमि फासेमि पालेमि श्रणुपालेमि"
"नादंसणिस्सनाणं" । 'देह दुक्खं महाफलं'

एक उपासक कहता है—मैं निर्ग्रन्थ प्रवचन में श्रद्धा रखता हूँ, आस्था रखता हूँ, उसमें रुचि लाता हूं, उसका पालन करता हूँ और अनुशीलन करता हूँ। यह है श्रद्धा का चरम रूप। सूत्रों में जैन-धर्म का कहीं भी उल्लेख नहीं आया है। जिसे आज जैन-धर्म कहते हैं वही उस समय निर्ग्रन्थ-प्रवचन कहा जाता था। आखिर तात्पर्य दोनों का एक ही है। जिन का धर्म—जैन-धर्म। और जिन वह होता है जिसने अपने राग और द्वेष को जीत लिया है। उसे वीतराग भी कहा जाता है। गुणस्थान की दृष्टि से वीतराग की स्थिति ११ से १४ गुणस्थान तक की है। इधर निर्ग्रन्थ का प्रवचन—निर्ग्रन्थ-प्रवचन। निर्ग्रन्थ अर्थात् जिसने राग और द्वेप की गाँठ को छेद दिया है वह ग्यारह गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान तक है। भगवान् महावीर के लिए अनेक जगहोंपर 'निर्ग्रन्थ' विशेषण आता है। बौद्ध-सूत्रों में उन्हें नियंठ्ठनाय पुत्र कहकर ही बताया गया है। उनका जो शासन होता है उसे निर्ग्रन्थ-प्रवचन कहें या जैन-धर्म कहें इसमें स्वरूप-दृष्टि से कोई अन्तर नहीं आता।

वीतराग का शासन दण्ड का शासन नहीं होता। दण्ड का मतलब है परवशता। वह तो स्ववशता का शासन होता है। इसीलिए उसे आत्मानुशासन कहते हैं। राजनीति के इतिहास में भी पहले पहल दण्ड का शासन नहीं था। एक जमाने में सब लोग स्वतन्त्र अर्थात् स्वयं-शासित थे। किसी में बुरा काम करने की प्रेरणा ही नहीं होती थी। धीरे-धीरे दण्ड-शासन का विकास हुआ।

वह युग युगलियों का युग था। उन्हें कोई कहनेवाला था ही नहीं क्योंकि उनका जीवन स्वयं ही सुन्दर था। अत: उन्हें किसी पर क्रोध करने का अवसर ही नहीं आता था। चलते बैल को कौन पीटता है? अतः अगर वे दूसरों पर अनुशासन करना ही नहीं चाहते तो उन्हें किसी दण्ड की क्यों आवश्यकता पड़ती? आज भी लोग यह चाहते हैं कि उनपर कोई अनुशासन न करे। पर स्वयं वे अपने ही अनुशासन में नहीं चलना चाहते। आज की स्थिति ठीक वैसी ही है:

फलं पापस्य नेच्छन्ति, पापं कुर्वन्ति मानवाः।
फलं धर्मस्य चेच्छन्ति धर्मं नेच्छन्ति मानवाः॥

अर्थात् मनुष्य पाप का फल नहीं चाहता पर पाप करता है। धर्म का फल चाहता है पर पाप करना नहीं छोड़ता। अगर मनुष्य किसी दूसरे का

अनुशासन नहीं चाहता तो स्वयं अपना आत्मानुशासन करे। फिर उसपर दूसरा कोई शासन करनेवाला नहीं रहेगा। धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों युगलियों का युग बीतता गया त्यों-त्यों अपराध भी क्रमशः बढ़ने लगे। 'हकार', 'नकार' और 'धिक्कार' का दण्ड-विधान अपराध-विकास की स्थिति को और भी स्पष्ट कर देता है। पहले-पहल अगर कोई गलत काम कर लेता तो उसका इतना ही दण्ड था—हाँ! तुमने ऐसा काम कर लिया? बस इतने मात्र में अपराधी लज्जित हो जाता था और फिर अपराध करने के लिए सहसा तैयार नहीं होता था। धीरे-धीरे 'हकार' का दण्ड शिथिल पड़ने लगा। लोग इसकी परवाह नहीं करने लगे तब फिर उन्हें अपराध से 'नकार'—मना करने की आवश्यकता पड़ी। कुछ काल तक यह स्थिति और चली पर फिर इससे भी अपराधों की संख्या-वृद्धि न रुक सकी। तब फिर अपराधी को धिक्कारने की आवश्यकता पड़ने लगी। और आज तो इसका विकास होते-होते जीवन इतना गहन हो गया है कि मनुष्य को कानून के मारे सांस लेने की भी फुरसत नहीं रही। फिर भी अपराधों की संख्या कम हुई है ऐसा नहीं लगता। इससे यह तथ्य भी स्पष्ट हो जाता है कि कानून से अपराधों को शान्त नहीं किया जा सकता। इससे तो उलटे दोष उभड़ते हैं।

प्रश्न हो सकता है—पहले जब व्यवस्था इतनी सुन्दर थी तो आज वह बिगड़ी क्यों? इसका सही उत्तर तो केवली ही दे सकते हैं या फिर अपनी-अपनी आत्मा से यह उत्तर पूछा जा सकता है। मुझे तो इसके तीन कारण नजर आते हैं। एक तो आज यहाँ ही नहीं सारे संसार में अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार अपराधों में वृद्धि हो रही है। लगता है, काल ही कुछ ऐसा है जिससे सारे संसार में से न्याय का ह्रास होता चला जा रहा है। यह स्वभाव है, इसके लिए कोई तर्क नहीं हो सकता। पर लगता है, काल के अनुसार प्रत्येक पदार्थों में शक्ति का ह्रास हो रहा है। इसे काल का ही प्रभाव मानना चाहिए। इस दृष्टि से मनुष्य की नैतिक निष्ठा में भी काल का हाथ रहा है ऐसा मानने में कोई बाधा नहीं मालूम पड़ती। एक बात कही जाती है कि नैतिक जीवन के अंकुर यदि नहीं निकलते हैं तो संभव है यह उनके बोनेवालों की कमी हो। एक दृष्टि से यह ठीक भी है। आखिर बीज बोनेवाले भी तो उसी वातावरण में रह रहे हैं जिसमें अन्य लोग रहते हैं। अतः उनकी बात का भी पूरा असर नहीं हो, यह भी सम्भव है। अन्न में भी आज वैसी शक्ति नहीं रही है। पहले अन्न पकाया जाता था तो वह इतनी दूर उछलता था कि छोटे बच्चों को तो उससे काफी दूर रखना पड़ता था। उसमें ताकत भी आज की अपेक्षा

ज्यादा होती थी। इसी प्रकार पुरानी मिट्टी में भी आज की अपेक्षा अधिक ताकत होती थी। और क्या, मनुष्य भी पुराने जमाने में सबल होते थे पर आज तो जन्म से ही निरोग बच्चे कम पैदा होते हैं। सन्तानें भी पहले की अपेक्षा ज्यादा होती हैं। उन स्त्रियों को जिनके मुंह से अभी तक कौमार्य भी पूरी तरह दूर नहीं हुआ है, ४-५ संतानें हो जाती हैं।

पर एक बात और ध्यान में आती है। इसमें अकेले बीज बोनेवाले भी ही क्या कम हैं? जिस प्रकार यदि भूमि ऊसर हो तो उसमें बीज चाहे कितने अच्छे बो दिये जायँ पर अंकुर नहीं निकलेंगे। उसी प्रकार आज का जन-मानस ही कुछ ऐसा हो गया है कि उसमें बात का असर बहुत कम होता है। अतः अकेला बोने वाला क्या कर सकता है? भूमि भी तो उपजाऊ होनी ही चाहिए। गाँधीजी ने इस बारे में अथक प्रयत्न किया पर वे भी इस प्रयोग में पूर्ण सफल नहीं हो सके। कुछ लोगों ने उनकी बात को स्वीकार भी किया था, पर लगता है, आज तो गांधी के भक्त कहलानेवाले लोग भी अनैतिकता में किसी से पीछे नहीं हैं। गाँधी जी के अभी-अभी आँखों से ओझल होते ही ऐसी स्थिति हो गई है तो आगे उनके भक्तों का न जाने क्या होनेवाला है? वे ही लोग जो पहले सादगी और सच्चाई का राग अलापा करते थे आज भ्रष्टाचार में फँसे पड़े हैं। यह काल का नहीं तो और किसका असर है? दूसरी बात है—आज भौतिकता का आवरण संसार पर इतना छा गया है कि मनुष्य अपनी आत्मा की आवाज तो सुन ही नहीं सकता। तीसरी बात है—आज त्याग के प्रति लोगों की श्रद्धा वैसी दृढ़ नहीं रही है। कहने को तो बहुत से लोग आस्तिक भी कहलाते हैं पर हैं वे नास्तिकों के दादे। अतः आज नैतिक जीवन की घोर उपेक्षा हो रही है।

उपसंहार में मैं आपसे यही कहना चाहूँगा कि यदि वास्तव में ही आप शांति पाना चाहते हैं तो श्रद्धावान् बनें। श्रद्धा से जीवन में त्याग आएगा। त्याग ही शान्ति का एकमात्र सही मार्ग है। अतः आप त्याग में आस्था रखें—यही कहूँगा।

३१ : दृष्टि-भेद

लोक-दृष्टि और तत्त्व-दृष्टि ये दोनों भिन्न तत्त्व हैं। लोक-दृष्टि लोकानुगामी है, जबकि तत्त्व-दृष्टि का लक्ष्य मोक्ष होता है। लोक-दृष्टि का ध्येय होगा—लोक कैसे आबाद रहे, और तत्त्व-दृष्टि का लक्ष्य रहेगा—मोक्ष कैसे आबाद रहे। तत्त्व-दृष्टि में लोक-स्थिति की चिन्ता विशेष महत्त्व

नहीं रखती। जहाँ लोक-दृष्टि में विलास और सुविधा को मान्यता है, वहाँ तत्त्व-दृष्टि में 'देह दुक्खं महाफलं' को महत्त्व है। कई दफा ऐसा होता है कि बहुत से लोग उक्त वाक्य के अर्थ का अनर्थ कर देते हैं। अतः इसका अर्थ समझ लेना आवश्यक है। भगवान् ने कहा—जितना शरीर को कष्ट दिया जाये, उसका उतना ही बड़ा फल है। पर इसका मतलब यह नहीं है कि छूरी भोंककर मर जाना चाहिए। इसका मतलब तो यह है कि साधना के द्वारा जो जितना इन्द्रिय-संयम कर सके, वही महाफल वाला होता है।

इसीलिए तो आचार्य भीखणजी ने कहा था : "संसार और मोक्ष दोनों को मार्ग अलग-अलग है।" पर साथ में उन्होंने यह भी कहा था—"साधु प्रत्यक्ष में लौकिक-कामों में मनाही नहीं कर सकता। हजारों विवाह होते हैं, मकान बनते हैं, पाठशालाएँ व कालेज चलते हैं, पुस्तकालय खुलते हैं, साधु किस-किस में मनाही करेगा ? ये सब तो लोक-दृष्टि की बातें हैं। समाज में रहनेवाला इन सब कार्यों के बिना जीवन-निर्वाह नहीं कर सकता। पर मोक्ष-दृष्टि में त्याग और साधना को स्थान है। उनका लक्ष्य मोक्ष प्राप्त करना है, संसार चलाना नहीं। इन दोनों को एक कर देना भोग और त्याग को मिलाना है।

इस समय हमारे सामने एक प्रश्न और आता है कि साधु लोक-दृष्टि का निषेध तो नहीं करते, पर वे लोक-दृष्टि के कार्य में सहयोग क्यों नहीं देते ? प्रश्न ठीक है, पर जो लोग आरम्भ और हिंसा के त्यागी हैं, वे साक्षात् इन हिंसक कार्यों का उपदेश कैसे दे सकते हैं ? जब उन्होंने सर्व सावद्य कार्यों को न करने का व्रत ले लिया है, तब वे अनिरवद्य कार्यों को कैसे कर सकते हैं ? जिस प्रकार दो और दो चार होते हैं, यह गणित-स्पष्ट है, उसी प्रकार इन कार्यों में हिंसा तो स्पष्ट है ही। तब फिर वे अपने व्रतों की सँभाल करें या संसारिक-कार्यों की ?

कई लोग यह कहते हैं कि हमें तो मुक्ति और स्वर्ग नहीं चाहिए, हम तो दुःखी-जनों की सेवा कर सकें, यही हमारा अभीष्ट है।

इस मत से हमारा विरोध है। यह सिद्धान्त मनुष्य को सुखवाद की ओर ले जाता है। सुखवाद लोक-दृष्टि की देन है और वह तर्कसंगत भी नहीं है। क्योंकि प्रत्येक प्राणी की अपने सुख की कल्पना अलग-अलग होती है। यदि सबको सुख दिया जाये, तृप्त किया जाये तो फिर सिगरेट, चाय और रोटी की इच्छावाले को ये चीजें देनी भी धर्म हो जाएँगी। मांस-भक्षी को मांस देना भी धर्म की श्रेणी में आ जायेगा। इतना ही क्यों, जब प्राणिमात्र को सुख देना धर्म है, तब तो शेर या अन्य जंगली

जानवरों की चाह मांस खाने की होगी। उन्हें मांस खिलाना ही धर्म हो जायेगा। अतः एकान्तिक रूप से यह कहना कि सुखी बनाओ—यह सिद्धान्त सिद्ध नहीं होता। पर किसी को दुःखी मत बनाओ—यह सिद्धान्त सर्वथा शुद्ध है। इसमें किसी को कष्ट नहीं होगा। और जब कष्ट नहीं होगा तो सुख अपने आप हो ही जायेगा। सुख के लिए जो कोई भी काम करता है, यह उसकी अपनी आवश्यकता है। पर उसे मोक्ष का मार्ग क्यों मान लिया जाता है? वह सुख जो हिंसा से सम्बन्धित है, उसे मोक्ष-धर्म मान लेना भारी भूल है।

इसके लिए फिर एक प्रश्न आता है कि—अगर हम इन्हें धर्म नहीं कहेंगे तो लोग इन कामों को करेंगे ही नहीं। अतः धर्म के नाम पर लोक-हितकारी कामों को करवाना आवश्यक हो जाता है। पर यह भी गलत बात है। जो चीज जैसी है, उसे वैसी ही मानना जरूरी है। बहुत से लोग अपना कर्तव्य समझ कर लौकिक-कामों को करते हैं, पर वे उनमें धर्म नहीं मानते और यह बिल्कुल ठीक है।

लाडनूं,
ज्येष्ठ कृष्ण ८

३२ : आगमों की मान्यता

'अत्थं भासइ अरहा, गंथं पुण गणहरा निउण'। इस पद्य के अनुसार तीर्थंकरदेव देशना करते हैं और गणधर-गण उसे संकलित करते हैं। जैसे वर्षा बरसती है तो किसी भूमि की उर्वरता को नहीं देखती। वह तो सब जगह एकरस बरसती जाती है उसी प्रकार तीर्थंकर प्रवचन करते जाते हैं। उन्हें उसके उपयोग की कोई चिन्ता नहीं रहती। उनके उपयोग को वे सोचेंगे जिनके लिये लेना उपयोगी है। वह काम है, गणधरों का। अतः ठीक जिस प्रकार कई जगह वर्षा के पानी को व्यर्थ नहीं जाने देकर जलाशय में इकट्ठा कर लिया जाता है उसी प्रकार गणधर भी भगवान् की वाणी को संकलित कर लेते हैं। और वे संकलन ही आगमों का रूप ले लेते हैं जिन्हें गणि-पिटक भी कहा जाता है। गणि-पिटक एक मंजूषा के समान है जिसके अधिकारी अपनी उपस्थिति में तो गणधर होते हैं पर उनकी अनुपस्थिति में यह अधिकार आचार्य के हाथों में आ जाता है। इसीलिए इसका नाम गणि-पिटक है। गणी यानी आचार्य। आचार्य की पीठिका-गणि-पीठिका। आचार्य शास्त्रों के ज्ञाता होते हैं अतः वे उनका

मंथन कर लोगों के सामने तथ्य उपस्थित करते रहते हैं। जनसाधारण ज्ञाता नहीं होने के कारण कहीं पर अर्थ का अनर्थ न कर दें इसीलिए शास्त्रों की कुंजी आचार्य के हाथों में रहती है।

प्रश्न है—आचार्य स्वयं ही अर्थ का अनर्थ कर दें तो? यह भी ठीक है। इससे अनर्थ ही नहीं महान् अनर्थ हो सकता है। पर यह सम्भव नहीं है। भला वह मनुष्य जो बाँध की रक्षा के लिए नियुक्त किया गया है क्या कभी स्वयं बाँध को तोड़ सकता है? इसमे उसका स्वयं का भी तो भला नहीं है। और फिर उसकी रक्षा का भार भी तो उसे ही दिया जाता है जो योग्य हो। अयोग्य व्यक्ति तो फिर क्या-क्या नहीं कर सकता? अतः आचार्य भी योग्य व्यक्ति को ही बनाया जाता है। आचार्य का सबसे बड़ा काम यही है कि वे भावी आचार्य-पद के लिए उत्तराधिकारी के रूप में योग्य व्यक्ति को चुनें। अपने वर्तमान काल में चाहे आचार्य कोई महत्त्वपूर्ण कार्य कर सके या नहीं, अधिक प्रचार कर सके या नहीं, यह उसकी कसौटी नहीं है। उसकी सच्ची कसौटी तो यही है कि वह अपने पीछे योग्य उत्तराधिकारी को छोड़ता है या नहीं। यदि आचार्य ऐसा नहीं करता है तो वह अपना कर्जा नहीं चुकाता है। इसीलिए आचार्य को तब तक चिन्ता बनी ही रहती है जब तक कि वह अपने उत्तराधिकारी को चुन नहीं लेता। क्योंकि उसके आधार पर ही तो पीछे लाखों मनुष्यों की नैया तैरती और डगमगाती है। अतः इतनी सावधानी के बाद निर्वाचित होने पर आचार्य पर शंका का कोई स्थान नहीं रह जाता।

और जो केवल आशंका ही करता रहता है उसके लिए तो फिर कोई समाधान भी नहीं है। क्योंकि आशंका तो पग-पग पर की जा सकती है। ऐसे व्यक्ति के लिए तो फिर जैसा कि गीता में लिखा है: 'संशयात्मा विनश्यति': शंकालु का विनाश हो जाता है—वाली बात लागू हो जाती है। संशयालु यानी त्रिशंकु, जो न इधर का रहा न उधर का। आचार्य जान-बूझकर तो कोई गलत काम करता नहीं। भूल से अगर कोई हो जाता है तो उसके लिए शंका नहीं हो सकती। वैसे आशंका करनेवाले किसको छोड़ते हैं? उन्होंने तो भिक्षुस्वामी जैसे विशुद्ध आचार्य को भी नहीं छोड़ा। उनका यह कहना कि 'भीखणजी कोड़ कसायां बीचे ही भारी' क्या उनके निर्मल आचार के प्रति कीचड़ उछालना नहीं है? सूर्य के सामने धूल फेंकने से सूर्य का क्या जाता है? उल्टी वह अपनी ही आँखों में आकर पड़ती है। अतः ऐसे व्यक्तित्वों की बात पर ज्यादा विचार करने की आवश्यकता नहीं। उन्हें तो बस यही मान लेना चाहिए कि यह उनका स्वभाव है।

हाँ, तो मैं आगमों की बात कह रहा था। मध्यकाल में आगम यतियों

के हाथों में रहकर भी सुरक्षित रहे, यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है, क्योंकि वे लोग यह निश्चित मानते थे कि जान-बूझकर आगमों के एक अक्षर का भी इधर-उधर करना महान् पाप है।

लाडनूं,
३ मई, '५७

३३ : पर्दा और बहनें

मैं इस विवाद में नहीं पड़ता कि आप पर्दा रखें या नहीं रखें। यह अपनी-अपनी इच्छा पर निर्भर है। पर इसके गुण-दोषों को बताना हमारा काम है। अणुव्रत-आन्दोलन के प्रारम्भ में कुछ बहनों ने समझ लिया कि अणुव्रती बहनें पर्दा नहीं रख सकतीं। अतः वे घबड़ायीं और मेरे पास आयीं। मैंने उन्हें समझाया कि अणुव्रत-आन्दोलन में ऐसा कोई नियम नहीं है। इससे पता चलता है कि बहनों में अभी कमजोरी है। यह सही है कि इसके पीछे भी कुछ कारण हैं। समाज का भय, परिवार का भय, तथा अपने सम्बन्धियों का भय उन्हें ऐसा नहीं करने देता। पर मैं आपसे एक बात कहूँगा—आप यहाँ धर्म-स्थान में आती हैं, किसलिये? इसीलिए न कि यहाँ आप साधुओं के दर्शन कर सकें, उनके उपदेश सुन सकें। पर यहाँ आकर भी अगर आपकी आँखों की यह पट्टी नहीं खुली तो मैं समझता हूँ आपने यहाँ आने का लक्ष्य ही नहीं समझा? उधर पंजाब में यह रिवाज है कि औरतें घर में तो पर्दा रखती हैं, पर साधुओं के आगे पर्दा नहीं रखतीं। मैंने उनसे पूछा—तुम्हारे यहाँ यह कैसा रिवाज है? उन्होंने कहा—महाराज साधु तो सारे संसार के माता-पिता होते हैं, उनके सामने पर्दा रखने का क्या मतलब? फिर हम यहाँ उनके दर्शन करने के लिए ही तो आती हैं। यहाँ आकर भी हमारी आँखें बन्द रहें तो फिर हम यहाँ आएँ ही क्यों? मैंने सोचा—इनका कहना ठीक ही है।

आप सामायिक, पौषध आदि करती हैं। उसमें भी आपका यह पर्दा तो साथ ही रहता है और उस समय आप चलती-फिरती न हों, यह बात भी नहीं है। तो मैं आपसे पूछता हूँ कि इस समय आपकी ईर्या-समिति का ध्यान कौन रखता है? क्या उस पर्दे में से आप कीड़ो-मकोड़ों को अच्छी तरह देख सकती हैं? अगर नहीं, तो फिर क्या यह पर्दा आपकी ईर्या-समिति में बाधक नहीं बनता? इसी प्रकार आप दर्शन करने के लिए घर से आती हैं। रास्ते में अगर आप जमीन देखकर चलती हैं तो वह

आपके कर्मनाश होने का साधन बन सकता है। पर अगर यहाँ आप आँखों पर पट्टी रखें तो कर्म कटना तो दूर की बात उल्टे बँधने का हिसाब हो जाता है। अतः इस आध्यात्मिक दृष्टिकोण से मैं आपसे यह कह सकता हूँ कि यह आपकी धर्म-साधना में बाधक है।

आपका यह पर्दा हमारे सम्बन्ध में भी अनेक गलत धारणाएँ पैदा कर देता है। अपनी महाराष्ट्र-यात्रा में मुझे इसका विचित्र अनुभव हुआ। यात्रा में पर्देवाली बहनें भी सेवा में थीं। उन्हें देखकर लोगों ने अनुमान लगाया कि—आचार्यजी स्वयं औरतों को पर्दे में रखना चाहते हैं। नहीं तो भला समाज में जब इनका इतना प्रभाव है तो ये औरतें क्यों पर्दा रखती हैं? मैं यह सुनकर दंग रह गया। मेरे सामने दोनों स्थितियाँ हैं। कहीं तो लोग मुझे कहते हैं—महाराज पर्दे के विरोध में हैं और कहीं कहते हैं—महाराज जान-बूझकर औरतों से पर्दा रखवाते हैं। दिल्ली में चलनेवाले कार्यक्रमों में अनेक शिक्षित लोगों ने हमारी बहनों के मुँह पर पर्दा देखकर उसे अच्छा नहीं माना। एक बहन तो मुझसे कहने लगी—आप सबसे पहले इसी काम को हाथ में लें। जब तक बहनों में यह निर्भयता नहीं आ जाती तबतक आप जो अहिंसा का विकास करना चाहते हैं, वह असम्भव है। क्योंकि अहिंसा का सबसे पहला चरण है अभय बनना। अतः आप बहनों में अभय की भावना पैदा करने के लिए सबसे पहले इनका पर्दा उतारिये। तो इस प्रकार कई तरह के विचार मेरे सामने आते रहते हैं।

पर्दा रखने का आखिर उद्देश्य क्या है? यही न कि उससे लज्जा ढँकी रहती है। पर लज्जा तो आँखों में रहती है। उसे पर्दे में बन्द कैसे किया जा सकता है? और आजकल तो इसका इतना विकृत रूप हो गया है कि देखकर शर्म आती है। बहुत सी बहनें पर्दा रखती तो हैं पर मोटे कपड़े से वे देख नहीं पातीं। अतः इतना झीना (महीन) कपड़ा पहनती हैं, जिससे मुँह तो क्या शरीर का एक-एक अंग देखा जा सकता है। यह पर्दे की विडम्बना नहीं तो क्या है? कुछ बहनें पर्दा रखती भी हैं, पर किससे? केवल अपने सम्बन्धियों व परिचितों से। दूसरी जाति का कोई व्यक्ति क्यों न आ जाये, उसके सामने पर्दे की कोई आवश्यकता नहीं है। मैंने स्वयं बम्बई के मार्केट में देखा है कि वे ही बहनें जो अपने घर में पर्दा रखती हैं, वहाँ खुले मुँह निःसंकोच वस्तुएँ खरीद रही थीं, मुझे देखकर वे शर्मा गयीं और झट पर्दा कर लिया। मुझे लगा—न तो बहनें आधा पर्दा रखना चाहती हैं और न वे पूरा रखती हैं। पर समाज के बन्धनों के कारण बेमन वह उनकी आँखों पर पड़ा हुआ है। साधारण व्यवहार में भी इससे इतनी बाधाएँ आती हैं जिनकी कल्पना नहीं की जा सकती।

एक भाई कहते थे—पहले हमारे घर की औरतों में पर्दा था। अतः बीमारी की अवस्था में भी वे हमारी पूरी परिचर्या नहीं कर पाती थीं। और न हम ही उनकी उचित परिचर्या कर पाते थे। स्थिति तो यहाँ तक थी कि आपस का कुशल पूछने के लिए भी किसी तीसरे व्यक्ति की आवश्यकता रहती थी और इससे कई दफा अनर्थ भी हो जाया करता था। पर अब हमारे घर में पर्दा नहीं है। हम आसानी से एक दूसरे की योग्य सेवा कर सकते हैं। और लगता है—जैसे जीवन कुछ हल्का बन गया है।

हो सकता है कि किसी जमाने में पर्दा आवश्यक रहा होगा पर आज तो इसके लिए उचित वातावरण नहीं है। बहुत सी बहनें भी इसे नहीं चाहतीं। वे अन्दर ही अन्दर घुटती रहती हैं। यह युग का प्रवाह है। पुरुष औरतों से पर्दा रखवाना चाहते हैं पर क्या उन्होंने भी कभी पर्दा रखकर देखा है कि उससे किस तरह जी घबराने लग जाता है और अधिक दिन तक प्रवाह के विरुद्ध चला भी नही जा सकता। अच्छा हो, इसका रास्ता न रोका जाये। नहीं तो पानी तो कहीं न कहीं रास्ता निकालेगा ही। यदि समझदारी पूर्वक पहले ही नाला बना दिया जाये तो उसमे सर्वनाश की संभावनाएँ नहीं रहेंगी और साथ ही साथ उस प्रवाह का अनुचित अपव्यय भी नहीं होगा।

पर्दा रखने में जैसे ये बुराइयाँ हैं, उसी प्रकार पर्दा न रखने में कुछ खतरे हैं। उनकी ओर से आँख मूंदना भी उपयुक्त नहीं है। कई बहनें पर्दा उठा तो देती हैं पर वे फैशनपरस्ती में पड़ जाती हैं। उन्हें रोज नये-नये कपड़े और नई डिजाइनें चाहिएँ। यह बहुत बुरी बात है। जीवन में जबतक सादगी नहीं आएगी, तबतक पर्दा उठाने और नहीं उठाने में कोई विशेष अन्तर हो, यह नहीं दीखता। इसी प्रकार पर्दा उठाने का मतलब स्वच्छन्द हो जाना भी नहीं है। पर्दा उठाकर यह मान लिया जाये कि अब तो हम स्वतन्त्र हैं चाहे जैसे घूमें, फिरें; यह बात उल्टी उनके पतन का कारण बन सकती है। हर चीज की अपनी मर्यादा होती है उसे तोड़कर काम करना विकास का नहीं, पतन का रास्ता है। अतः इस खतरे से भी बचना आवश्यक है। सारांश में इन बाहरी चीजों की अपेक्षा आन्तरिक शुद्धि का महत्त्व अधिक है। बिना आन्तरिक शुद्धि के बाहरी चीजें अनेक बार दिग्भ्रमित कर देती हैं। हमारा काम यही है कि हम हर वर्ग को उनकी बुराइयों के प्रति सजग करते रहें। इसी दृष्टि से पर्दा रखने और नहीं रखने की दोनों स्थितियों पर आज मैंने अपने विचार रखे हैं।

लाडनूं,
१४ मई, '५७

३४ : साधु का विहार-क्षेत्र

जैन-साधुओं के विहार के बारे में जैन-आगमों में विशद विवेचन आता है। उसके अनुसार साधु अनार्य क्षेत्रों में नहीं जा सकते या दूसरे शब्दों में वे ही क्षेत्र आर्य हैं जहाँ साधु विहार कर सकते हैं।

क्षेत्र की दृष्टि से पन्नवणा में २५।। देशों को आर्य-क्षेत्र माना है। इसका कारण उस समय उन क्षेत्रों में साधुओं को अपने आचार-पालन में अनुकूलता थी। बाकी के क्षेत्रों में उस समय अनुकूलता नहीं होने के कारण वे अनार्य क्षेत्र कहलाये। पर उन्हें त्रैकालिक रूप से आर्य या अनार्य मान लेना उचित नहीं लगता। क्योंकि एक समय में एक क्षेत्र साधुओं के आचार के अनुकूल पड़ता है और उसे आर्य-क्षेत्र कहा जा सकता है, पर दूसरे समय में वह अनुकूल ही हो यह कोई नियम नहीं है। इसलिए आज तो २५।। देशों की यह समस्या टेढ़ी खीर हो गई है। क्योंकि आज न तो उन देशों की पुरानी भौगोलिक सीमाएँ ही निश्चित रही हैं और न उनमें बसनेवाले लोगों का आर्यत्व और अनार्यत्व ही। इस स्थिति में किसी देश विशेष को आर्य या अनार्य कैसे कहा जा सकता है?

फिर शास्त्रों में यह भी कहा गया है कि जहाँ ज्ञान-दर्शन की वृद्धि हो वह क्षेत्र साधुओं का विहार-क्षेत्र है। जहाँ ज्ञान-दर्शन की वृद्धि नहीं होती हो वहाँ साधुओं को नहीं जाना चाहिए। कल ही एक भाई ने पूछा—सैद्धान्तिक दृष्टि से कलकत्ता आप का विहार-क्षेत्र है या नहीं? मैंने कहा—क्यों नहीं? जहाँ हमारा आचार सुरक्षित रह सकता हो वहाँ हम जा सकते हैं। इस दृष्टि से हमारा कलकत्ते जाना कोई मना नहीं है। यदि उत्सर्ग आदि की जगह नहीं हो तो कलकत्ता क्या मेवाड़ भी हम नहीं जा सकते और ऐसा होता भी है। कई बार मेवाड़ के उन ग्रामों में जहाँ अनेक श्रावक रहते हैं स्थानाभाव के कारण चातुर्मास नहीं होता। अतः आर्य और अनार्य की बात भी सापेक्ष है। उसे किसी एकान्तिक परिभाषा में बाँध देना उचित नहीं जँचता।

मैं कई दफा कह चुका हूँ, धर्म और धर्म-क्षेत्र को किसी सीमा विशेष में बाँधना हितकर नहीं है। कच्छ का एक धर्म-सम्प्रदाय सीमित क्षेत्र में ही विहार करता है। उसके साधुओं से पूछा गया कि वे बाहर क्यों नहीं आते तो कहने लगे—बाहर साधुपन नहीं पलता। यह उनकी अपनी भावना हो सकती है पर भगवान् महावीर ने यह नहीं कहा। उन्होंने तो कहा है :

"जिस प्रकार पाप का आगमन सभी क्षेत्रों में हो सकता है उसी प्रकार धर्म किसी भी क्षेत्र में किया जा सकता है।"

सामायिक में एक प्रत्याख्यान किया जाता है—"क्षेत्र थकी सर्वक्षेत्र"। इस सर्वक्षेत्र का क्या मतलब ? कई लोग समझते हैं वे सामायिक लेने के बाद सभी क्षेत्रों में जा सकते हैं। पर इसका सही मतलब यह नहीं है। इसका मतलब है सामायिक के प्रत्याख्यान प्रत्येक क्षेत्र में हैं। अगर कोई सामायिक लेकर दूसरी जगह चला जाता है या उसे कोई उठाकर दूसरी जगह ले जाये तो भी उसकी सामायिक पूरी नहीं हो पाती है। वहाँ भी उसकी सामायिक चालू रहती है। इसी प्रकार साधुत्व भी किसी क्षेत्र विशेष में पलता हो ऐसी बात नहीं है। उसके लिए तो सारा संसार ही उपयुक्त स्थान हो सकता है।

प्रश्न हो सकता है—फिर शास्त्रों में २५॥ देशों की सीमा क्यों की गई ? इसका उत्तर है—वहाँ साधुओं को साधुत्व-पालन में सुगमता रहती है। पर इसका मतलब यह नहीं है कि साधु वहीं रहें जहां उन्हें सुगमता होती है। सुगमता की दृष्टि से राजस्थान में साधुओं को कई प्रकार की सुगमताएँ रहती हैं। लेकिन फिर भी साधु राजस्थान से बाहर जाते हैं। हाँ, ऐसा क्षेत्र जहाँ साधुत्व-पालन में बाधा हो वहाँ साधु नहीं जा सकते।

जैसा कि मैंने पहले कहा—अनार्य केवल क्षेत्र ही नहीं होते। मनुष्य भी अनार्य होते हैं। उन अनार्यों में उपदेश करने के लिए अनेक साधु उनके क्षेत्रों में गये हैं। मुनि सुव्रतस्वामी के समय की एक बात रामायण में आती है। खंदक नामक एक साधु अपने ५०० शिष्यों के साथ भगवान् के पास जाते हैं और अपने बहनोई के देश में जाकर उसे सम्यग्-धर्म में प्रव्रजित करने की आज्ञा माँगते हैं। भगवान् ने बताया—वहाँ तुम्हें भयंकर—मरणान्त उपद्रव होंगे। उन्होंने पूछा—भगवान वहाँ जाकर संयम के आराधक होंगे या अनाराधक। भगवान् ने उत्तर दिया—तुम्हारे सिवाय ५०० शिष्य आराधक होंगे।

अपने अशेष शिष्यों का कल्याण जानकर उन्होंने भगवान् से आज्ञा लेकर उस ओर प्रयाण कर दिया। वहाँ पहुँचकर वे एक उपवन में ठहरे। राजा को यह समाचार सुनकर बड़ी खुशी हुई, पर राजा का एक अधिकारी पालक, खंधक से जब वे राजकुमार थे, एकबार चर्चा में हारा हुआ था। उसके मन में अब भी खंधक के प्रति विद्वेष भरा पड़ा था। आज खंधक को अपने देश में आया सुनकर उसका सोया हुआ क्रोध पुनः उद्बुद्ध हो जग गया और उसने उपवन के आस-पास गुप्त रूप से अपने अस्त्र-शस्त्र गड़वा दिये। समय पाकर उसने राजा से झूठ ही यह कह दिया कि—

राजन् ! आप अपने साले को अपने देश मे आया जानकर खुशी मनाते हैं पर आपको पता रहना चाहिए कि वह यहाँ क्यों आया है ? राजा यह सुनकर सहसा विस्मित हुआ। उसने अधिकारी से इसका कारण पूछा। अपनी बात की बड़ी चतुराई से भूमिका बनाते हुए उसने कहना शुरू किया—शायद आप मेरी बात पर विश्वास नहीं करेंगे। पर एक अधिकारी होने के नाते मुझे आपको सचेत कर देना आवश्यक जान पड़ा कि खंधक जी यहाँ उपदेश देने नहीं आये है पर आपका राज्य छीनने के लिए साधुवेष में ५०० सुभटों को लेकर यहाँ आए हैं। राजा एकदम चौंक पड़ा पर अधिकारी के पास पक्के प्रमाण थे। उसने राजा को उपवन के पास गड़े अस्त्रों को निकाल दिखाया। सचमुच ही राजा को अब अविश्वास नहीं रहा। और उसने अधिकारी को यह अधिकार दे दिया कि इस सम्बन्ध में वह जो चाहे करने में स्वतन्त्र है। अधिकारी को और क्या चाहिए था ? उसने वहीं उपवन में ही एक बड़ी घाणी बनवाई और उसमें एक-एक कर ५०० साधुओं को पीस डाला। इसका कथानक और आगे चलता है पर हमें यहाँ इतना ही देखना है कि मुनि इस प्रकार के अनार्य लोगों में भी धर्मोपदेश देने के लिए जाते हैं।

लाडनूं,
१८ मई, '५७

३५ : धर्म, व्यक्ति और समाज

आज संसार में जितने भी धर्म हैं, प्राय: सभी विचार-प्रधान हैं। पर जैन-धर्म विचार-प्रधान न रहकर आचार-प्रधान रहा और आज भी है। आज हमें यह देखना है कि आज के विषम युग में हमारा कर्तव्य क्या है ? पहला कर्तव्य है : हम आत्म-निरीक्षण करें। हम कौन हैं ? यह बहुत आदमी नहीं जानते। वे समझते हैं, हम जो दीख रहे हैं, वही हम हैं। पर यह तो पुद्गलों और हाड़-मांस का पिंड है। यह जलनेवाला है। आत्मा अजर-अमर है। इसे न कोई काट सकता है, न कोई जला सकता है। इसलिए मनुष्य को पहले सोचना चाहिए कि मैं कौन हूँ ? दूसरा : मेरा क्या कर्तव्य है ? उसे यह समझना चाहिए कि मैं मानव हूँ, मुझमें विवेक है, सत्य और असत्य को सोच सकता हूँ, अच्छे और बुरे को सोच सकता हूँ। खाना-पीना, भोग-संभोग करना, आराम करना ये मनुष्य के चिह्न नहीं हैं। ये तो पशु में भी पाये जाते हैं। अगर इसीसे मनुष्य अपने को मनुष्य कहता है तब तो

मनुष्य और पशु में सींग-पूंछ के अलावा अन्तर ही क्या रहा ! पर नहीं, मनुष्य में विवेक है, ज्ञान है, पवित्रता है। इसलिए उसे अपने आपका निर्माण करना चाहिए। उसे अच्छाइयों को ग्रहण कर बुराइयों को छोड़ते रहना चाहिए।

आज के युग में मनुष्य की बड़ी-बड़ी समस्याएँ हैं। वह समस्याओं का पुतला सा बन गया है। गरीबों की तो समस्या इसलिए है कि उनके पास रोटी के लिए पैसा नहीं है। पर पूंजीपति को भी, जिनके पास अपार धनराशि पड़ी है, समस्याओं ने घेर रखा है। रात में उन्हें नींद नहीं आती। इस समय वही आदमी बड़ा होगा जो इस विषमता के युग मे अपना गन्तव्य-पथ तय कर लेगा। शास्त्रों में जो तीन तत्त्व—सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चरित्र—आये हैं, उनमें पहला सम्यक्-दर्शन है। ज्ञानियों ने ज्ञान और चारित्र से पहले श्रद्धा को स्थान दिया। श्रद्धावान् व्यक्ति ही ज्ञान को प्राप्त करता है। अतः हमें पहले श्रद्धावान् बनना चाहिए। आज के मानव ने श्रद्धाशून्य होकर बहुत बड़ा तत्त्व खो दिया है। विद्यार्थियों को अध्यापकों के प्रति आस्था नहीं है, श्रद्धा नहीं है, इसी कारण उन्होंने कलह को मोल ले लिया है। बहुत से लोग जो धार्मिक कहलाते हैं—धर्मस्थान में आ जाना, केवल मन्दिरों में चले जाना, इतने मात्र से ही धार्मिक कहलाने का दावा करते हैं। पर वहाँ जाने के बाद धार्मिक-क्रिया व उसका अपने जीवन में असर ही वास्तविक धार्मिक जीवन कहलाता है। आज तो मानव दूसरे की निन्दा, विवाद आदि तथ्यहीन चर्चा में पड़कर धर्म-विहीन सा होता जा रहा है। उसे धार्मिक झंझटों में न पड़कर दूसरे का वास्तविक गुण ग्रहण करना चाहिए। मंदिर, मस्जिद या और कहीं धर्मार्थ जाना यह कोई विशेष बात नहीं। जिसकी जिसमें श्रद्धा होती है, वह वहीं जायेगा। उसे रोकनेवाला कौन है ?

कई लोग मुझसे कहते हैं—क्या मूर्त्ति-पूजा में आपका विश्वास है ? मेरा विश्वास उसमें है या नहीं, हमें उस पचड़े में नहीं पड़ना है। मैं तो यह मानता हूँ कि—हर व्यक्ति, चाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान, हरिजन हो या महाजन, धर्म मन्दिर, गिरजाघर, बाजार, जंगल, शहर सभी जगह कर सकता है। धर्म किसी विशेष स्थान पर किया जाता हो, यह कोई तथ्य की बात नहीं। क्या मन्दिर में पाप नहीं किये जाते ? मेरे पास आने मात्र से कोई धार्मिक नहीं बन जाता। धार्मिक तो अच्छी क्रिया करने से ही बनेगा।

जयपुर की बात है—एक दिगम्बर वृद्ध सुबह आया और कहने लगा—आपको मन्दिर में जाना होगा। हमने कहा—अभी कुछ काम है। अभी जाना नहीं हो सकेगा। पर उसके जिद्द करने पर हम वहाँ गये।

जाने के बाद जब मैं वापस आने लगा तो वह कुछ कहने लगा—आपने मेरी शान रख दी क्योंकि मैंने जिद्द किया था कि ये महाराज मन्दिर में आते हैं, और बाकी कह रहे थे—ये महाराज मन्दिर के विरुद्ध हैं, मन्दिर में नहीं आते। मैंने कहा—हमें यदि ऐसा पता होता तो एक दफा नहीं दस दफा आते। वहाँ जाने से हमारे विचार थोड़े ही कुचले जाते हैं। वे तो हमारे पास ही रहेंगे।

मैंने कुछ वर्ष पहले साम्प्रदायिक एकता के लिए पंचसूत्री योजनाएँ धार्मिक लोगों के सामने रखी थीं। अगर वे उन्हें पालें तो पारस्परिक धार्मिक झंझटों से किनारा पा सकते हैं। फिर चाहे वे तेरापंथी हों, या बाईस टोला, श्वेताम्बर हों या दिगम्बर, मूर्तिपूजक हों या अमूर्ति-पूजक। साम्प्रदायिक एकता के लिए पंचसूत्री योजनाएँ ये हैं:

(१) प्रत्येक धर्म को माननेवाला अपनी नीति मण्डनात्मक रखे। वह अपने विचारों को रख सकता है। उसे रोकनेवाला कौन है? प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार है कि वह अपनी बात बताये। पर अपने विचारों के साथ दूसरे के विचारों को कुचलना, उनपर लांछन लगाना, गालियाँ देना आदि कार्य वह न करे।

(२) दूसरों के ऐसे विचार, जो हमसे नहीं मिलते हैं या हमारे विरुद्ध हैं, उनके लिए हम सहिष्णु बनें। मैं अभी जो बातें कह रहा हूँ, यह जरूरी नहीं है कि सामने बैठी जनता को जँच जाये। पर आप मेरे विचार को सुन तो लीजिये। अगर जँचे तो मानिए। वह क्या धार्मिक होगा जो दूसरे की बात को सुनना नहीं चाहता।

(३) किसी का भी तिरस्कार नहीं करना।

(४) सम्प्रदाय परिवर्तन के लिए दबाव नहीं डालना।

(५) धर्म के मौलिक सिद्धान्तों का प्रसार मिलकर करें।

पर मुझे लगता है कि धार्मिक लोग सहिष्णु नहीं बने हैं। जैन भाइयों को पता होगा कि हमारा तत्त्व स्याद्वाद है, अनेकान्तवाद है। जिस प्रकार दोनों हाथों को आगे-पीछे किये बिना मक्खन नहीं निकलता, उसी प्रकार अगर हमें किसी भी तत्त्व का मक्खन निकालना है तो हमें मत को कड़ा व ढीला करना ही पड़ेगा। तभी मक्खन मिल सकता है।

कुछ लोग अपने धर्मानुसार तीर्थ-यात्रा करने जाते हैं। वहाँ जाकर गंगाजी में स्नान करते हैं और समझते हैं—जन्म-जन्मान्तर के सारे पाप धुल गये। इसमें मेरा यह अभिमत है कि गंगा में स्नान कर लीजिये या अपने गुरु के पास चले जाइए, सिर्फ जाने मात्र से धर्म नहीं होगा।

तपस्या के बिना कर्म-निर्जरा होती नहीं और निर्जरा के बिना मोक्ष कभी न मिला और न मिलने का है।

आज जन-जन में बुराइयाँ व्याप्त हो गई हैं। उन्हें निकालना अणुव्रत-आन्दोलन का काम है। अणुव्रत कोई नई बात नहीं है। छोटे-छोटे व्रतों के सहारे मनुष्य अपने को ऊँचा उठाये, यही इसका लक्ष्य है। इसके सहारे हम एक आदर्श नागरिक का उदाहरण रख सकते हैं। क्योंकि जब तक व्यक्ति के पास प्रामाणिकता, ईमानदारी, सच्चाई, सत्यनिष्ठा आदि गुण नहीं होंगे तब तक वह आदर्श नागरिक नहीं बन सकता। आज बातें केवल कहने के लिए नहीं करने के लिए हैं। अणुव्रती किसी चीज में मिलावट कर धोखा नहीं दे सकता, अपने आपको बेच नहीं सकता या जाली हस्ताक्षर नहीं कर सकता। ये बातें तभी होंगी जब कि इन्हें जीवन में उतारा जाये। आज हमें धर्मशास्त्रों के धार्मिकपन को आचरणों में लाना होगा। किताबें तो हजारों और लाखों वर्षों से पड़ी हैं।

आज देहली में अणुव्रतों की गूंज है। नेता लोग भी यह मानने लगे हैं कि आज के मानव को इसकी बहुत बड़ी आवश्यकता है।

मैं आपसे पुरजोर शब्दों में अपील करूंगा कि आप और कामों मे इसे ज्यादा महत्त्व दें। हमारा कथन है :

सुधरे व्यक्ति समाज व्यक्ति से, उसका असर राष्ट्र पर हो
जाग उठे जन-जन का मानस, ऐसी जागृति घर-घर हो
'तुलसी' सत्य अहिंसा की जय, विजयध्वजा फहरायें हम
आत्म - साधना के सत्पथ में, अणुव्रती बन पायें हम

इसका मूलमन्त्र है कि व्यक्ति पहले खुद सुधरे। आज चारों तरफ से यह आवाज आती है कि हमारा समाज गिर गया है। योजनाएँ बनती हैं। पर जब सुधार का जीवन देखा जाता है तो बड़ी निराशा होती है। आज देश के नेताओं की बात भी लोग सुनते नहीं हैं। पूजा कहनेवालों की नहीं, करनेवालों की होती है। व्यक्ति से समाज सुधर जायेगा और इसी प्रकार उसका असर सारे देश व विश्व पर पड़ेगा।

मेरा दृढ़ विश्वास है कि जब तक धर्म जाति-पांति के बन्धन में बँधा रहेगा, तब तक वह पनप नहीं सकता। यही कारण है कि अणुव्रत-आन्दोलन चलने के बाद हमारे प्रति जो भ्रान्तियाँ थीं, प्रायः मिट गयी हैं। ऐसा करके हमने कुछ भी न खोकर लाखों का प्रेम पाया है। अगर जैन-समाज को धर्म का विकास करना है तो धर्म का दरवाजा सबके लिए खुला रखना पड़ेगा। मैं समझता हूं इस बात में कोई दो मत नहीं हो सकते।

अभी भारत-सरकार ने जो नये कर लगाये हैं, उससे बहुत से लोग

चिन्ता में पड़ गये हैं। पर हमें किसी प्रकार की चिन्ता नहीं है। क्योंकि भगवान् महावीर ने हमें अपरिग्रह का पाठ पढ़ाया है, शान्ति का पाठ पढ़ाया है। मैं यह मानता हूँ कि आप भिखारी नहीं बन सकते और बनना भी नहीं चाहिये। पर धन-कुबेर भी मत बनिये। धन को छोड़े बिना सुख नहीं मिल सकता और सरकार भी क्या करे। उसके पास कोई खजाना तो है नहीं जो निकालकर काम में ले ले। उसे तो आप ही लोग देनेवाले हैं और वह आपकी ही है।

अन्त में मैं आपसे यह अपील करूँगा कि आप कम से कम प्रवेशक अणुव्रती के व्रत देखें, उनपर मनन करें, अपने सुझाव हमें बताएं और अपने जीवन में ढालकर औरों तक ये विचार पहुँचाएँ।

लाडनूं,
१८ मई, '५७

३६ : अवधान

अवधान भारतीय ऋषियों की देन है। आज यह सबको चमत्कारपूर्ण लगता है पर भारतीय संस्कृति ऐसे उदाहरणों से भरी पड़ी है। यह कोई जादूगर का काम नहीं है। इसमें अवधानकार को बहुत बड़ी साधना करनी पड़ती है। अपने मन व अन्य शक्तियों को काबू में रखना होता है। आप भी इसकी साधना कर सकते हैं पर इसमें ब्रह्मचर्य की साधना भी अत्यावश्यक है।

अवधानकार भी यह न सोच लें कि मैंने कितने व्यक्तियों के सामने स्मृति का चमत्कार किया है। ऐसा सोचने से उसकी प्रगति में ब्रेक लग जायेगी। यह तो सामने जो व्यक्ति सुन रहे हैं, उनका काम है। उसे तो जीवन भर विद्यार्थी बने रहना चाहिए। श्रोताओं को भी इन कार्यक्रमों से शिक्षा लेनी चाहिये। उन्हें भी जीवन की साधना करनी चाहिए। मनुष्य महाव्रती नहीं तो अणुव्रती अवश्य बनें। मानव की मौलिक शक्तियाँ कायम रहें, इसके लिए यह संजीवनी बूटी है। अगर अध्यापकों व विद्यार्थियों ने इसे अपना लिया तो हमारा आधा काम हल्का हो जायेगा। हमें इसमें संख्या का मोह नहीं है कि इससे एक बड़ी जमात इकट्ठी हो जायगी।

आप सभी लोगों को अणुव्रत-साहित्य पढ़ना चाहिए। आज देश के नेता व अन्य सभी इससे बड़ी-बड़ी संभावनाएँ रखते हैं। उनकी संभावनाएँ

तभी पूरी होंगी, जब आप खुद एक आदर्श अणुव्रती बनेंगे और दूसरों में भी इसका प्रचार करेंगे।

लाडनूं,
१९ मई, '५७

३७ : आत्मा सबमें है

मनुष्यमात्र को यह सही तथ्य भुला नहीं देना चाहिए कि अपनी पीड़ा के समान ही दूसरों को पीड़ा होती है। किसी भी जीव की संकल्पपूर्वक हिंसा करना या उसे कष्ट पहुँचाना अमानवीय है। प्रसिद्ध सन्त नामदेवजी की माता ने बचपन में उन्हें पलास के वृक्ष को काटने के लिए कुल्हाड़ी दी। सन्त नामदेवजी ने, वृक्ष को काटने से उसे दर्द होता है या नहीं, और होता है तो कितना, यह मालूम करने के लिए, कुल्हाड़ी अपने पैर पर चलायी और दर्द होने पर कराह उठे। माता के पूछने पर उन्होंने उत्तर दिया—मैंने वृक्ष की पीड़ा को मालूम करने के लिए ही यह परीक्षण किया। आगे चलकर नामदेवजी अहिंसा के बड़े भारी ज्ञाता बने। मेरे कहने का मतलब है कि आत्मा सबमें है, सबको समान दुःख और पीड़ा होती है। अतः कम से कम किसी भी जीव को बिना मतलब के नहीं मारना चाहिए।

मनुष्य का जीवन जितना सुन्दर बन सके, सात्त्विक और सादा बन सके, उतना ही अच्छा है। अपने जीवन को वैसा बनाने के लिए यह आवश्यक है कि अणुव्रती नहीं तो कम से कम प्रवेशक अणुव्रती अवश्य बनें। कोई यह कहे कि महाराज तो सेठ लोगों के ही हैं, तो उनकी गलत धारणा होगी। हमारे लिये अमीर और गरीब सब बराबर हैं। हमारा ध्येय है—मनुष्य मात्र को सही रास्ता दिखाना, फिर चाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान, महाजन हो या हरिजन। धर्म का सही अर्थ वे ही समझ सकते हैं—जिनका जीवन अच्छा है।

जिस प्रकार सन्त तुलसीदासजी को अपनी स्त्री के एक ही व्यंग से, "आप जितना प्रेम मुझ से करते हैं, उतना अगर भगवान् से करते तो आपकी नैया पार हो जाती", सही मार्ग प्राप्त हो गया, उसी प्रकार आपको जितना प्रेम सांसारिक कार्यों से है, और जो समय आप उसमें लगाते हैं, उससे थोड़ा समय भी आप भगवत् भजन, आत्म-चिन्तन में लगायें तो आपको एक रास्ता दिखाई देगा, और आपका जीवन हल्का बनेगा।

लाडनूं,
२० मई, '५७

३८ : मोक्ष का अर्थ

आत्माएँ मुक्त होकर पुनः संसार में नहीं आती। हालाँकि कई लोग यह मानते हैं कि मुक्त होने के बाद भी आत्मा को पुन. संसार में आना पड़ता है। पर यह सही नहीं है। क्योंकि मुक्त होने के बाद उनके संसार में आने का कोई कारण ही नहीं रह जाता। संसार-भ्रमण तो कर्मों के कारण करना पड़ता है। पर मुक्त आत्माएँ कर्मों से सर्वथा मुक्त हो जाती हैं। तब फिर वे संसार में आयें ही क्यों? कई लोग कहते हैं—"गत्वाऽगच्छन्ति भूयोपि भवं तीर्थं निकारतः।" यानी तीर्थ का जब ह्रास हो जाता है तब मुक्त आत्मा के मन में क्षोभ पैदा हो जाता है। अतः तीर्थ-प्रतिष्ठापन के लिए उन्हें संसार में पुनः पुनः आना पड़ता है। पर समझने की बात है—क्षोभ तो मनुष्यों को होता है। उनमें भी जो विशिष्ट मनुष्य होते हैं उन्हें क्षोभ कम होता है। तब फिर राग-द्वेष विजेता मुक्त आत्मा को क्षोभ कैसा? इसीलिये गीता में कहा गया है: 'यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम'। जहाँ जाकर पुनः नहीं आना पड़े, ऐसा है मेरा स्थान। तो इससे स्पष्ट है कि मुक्त आत्मा पुनः संसार में नहीं आती।

प्रश्न हो सकता है—तब फिर अवतारवाद निष्फल हो जायेगा? गीता में भी कहा है:

> यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
> अभ्युत्थानं धर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
> परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
> धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

यदि अवतारवाद असत्य है तो फिर गीता के इन श्लोकों का क्या अर्थ होगा? यह सत्य है कि समय-समय पर अन्धकार में एक प्रगतिशील आत्मा आती है। भगवान् महावीर की भी एक ऐसी ही आत्मा थी। और भी अनेक ऋषि-महर्षियों ने समय-समय पर संसार को प्रकाश दिया था। पर हम यह क्यों मानें कि वे मुक्ति से ही आये थे जबकि हम यह स्पष्ट देखते हैं कि वे साधारण मनुष्यों के बीच ही पैदा हुए और पले-पुसे थे तो उनके मोक्ष से आने का क्या कारण हो सकता है? यहाँ भी अनेक ऐसी आत्माएँ हैं जो नजदीक ही मुक्त होनेवाली हैं और वे इस क्षेत्र में ही काम करती हैं। पर इसका मतलब यह नहीं हो जाता कि हम अवतारवाद को मानें ही।

यदि मुक्त होने पर वापस आना ही पड़े तो फिर इस कठोर तपस्या का क्या फल होगा? फिर साधना ही क्यों की जाए? यदि वास्तव में

वहाँ से वापस आना ही पड़े तो वहाँ जाना ही क्यों ? मोक्ष का अर्थ है—पूर्ण बन्धन-मुक्ति और पूर्ण आत्म-विकास । वह यदि पूर्ण हो गया तो उसके वापस आने का कारण ही क्या रह जायेगा ?

कुछ लोग ईश्वर को संसार का कर्त्ता, हर्त्ता मानते हैं। पर यदि वह ही सब का कर्त्ता है तो फिर हम पुरुषार्थ करें ही क्यों ? किसान खेती क्यों करे ? और प्रत्यक्ष में हो हम देखते हैं कि प्रत्येक मनुष्य अपने काम में संलग्न है। फिर हम यह क्यों मानें कि हमारे सारे कर्मों का ईश्वर ही कर्त्ता है ? वास्तव मे हर बात की कर्त्ता-हर्त्ता हमारी अपनी आत्मा ही है। हम अगर अच्छे काम करेंगे तो हमें उसका अच्छा फल मिलेगा हम अगर बुरे काम करेंगे तो हमें उसका बुरा फल मिलेगा। तब फिर बात-बात में ईश्वर को बीच में लाने का क्या अर्थ हो जाता है ?

आज भी संसार में ईश्वरवाद को माननेवालों की संख्या ज्यादा है। इसका क्या कारण है ? मेरी समझ में इसका यही कारण हो सकता है कि—विद्वानों ने सोचा—हम जो काम करते हैं, उसमें हमें घमण्ड न आ जाए। अतः उन्होंने अपनी सारी कृतियाँ ईश्वर को अर्पित कर दीं। साधारण भाषा में भी जब किसी से पूछा जाता है कि यह मकान किसका है ? तब कहा जाता है—यह आपका ही मकान है। तो क्या वास्तव में ही वह मकान उनका हो जाता है ? इसी प्रकार यदि किसी ने कोई काम किया हो और उससे पूछा जाये—क्या यह काम आपने किया ? वह यही उत्तर देगा—नहीं, मैंने नहीं किया, यह तो आपने ही किया है। हर काम पर से अपना ममत्व हटाने के लिए ही शायद ईश्वर में कर्तृत्ववाद को स्वीकार किया गया हो पर आज तो इसका रूप ही बदल गया है।

यद्यपि ईश्वर सर्वज्ञ है, वह सब कुछ जानता है पर जगत के इस प्रपंच में वह नहीं पड़ता। जैनों और बौद्धों ने इसीलिए ईश्वर कर्तृत्व का खंडन कर एक बहुत बड़ी क्रान्ति की। इसीलिये श्रमण-संस्कृति का घोष है पुरुषार्थवाद। ईश्वर कर्तृत्व मानने का अर्थ है श्रम पर प्रहार। प्रश्न होता है यदि ईश्वर हमें सुखी नहीं बनाता है तब फिर हम ईश्वर का स्मरण क्यों करते हैं ? पर यदि हम सुखी होने के लिए ही ईश्वर का स्मरण करते हैं तो यह तो उसके साथ सौदा है। हम उसका स्मरण करें, अर्घ्य चढ़ायें और वह हमपर खुश हो, हमें धन दे—यह सौदा नहीं तो और क्या है ? हम तो उसकी उपासना इसलिए करते हैं कि इससे हमारा मन टिका रहे। ईश्वर तो एक प्रकार से मेढ़ी है। जिस प्रकार मेढ़ी बैलों को अपने चारों ओर घुमाने में सहायक है, पर चलाती नहीं, उसी प्रकार हमारा चंचल मन वहाँ स्थिरता प्राप्त कर सके, यही हमारे ईश्वर-स्मरण का रहस्य

है। ईश्वर के स्वरूप-चिन्तन के सहारे हम भी उन गुणों को प्राप्त कर सकें, यही उसकी उपासना का लक्ष्य होता है।

यदि हम किसी प्राप्ति के लिए ईश्वर का स्मरण करते हैं तब तो फिर अप्राप्ति पर हमें उस पर क्षोभ हुए बिना नहीं रहेगा। और यह होता भी है। बहुधा यह देखा जाता है कि बहुत से लोग अपने यथेप्सित की प्राप्ति न होने पर ईश्वर को कोसने लगते हैं। "हाय राम! तुमसे मेरा सुख देखा नहीं गया। तुमने मेरे साथ बुरा किया। तुमने मेरे बेटे को उठा लिया।" आदि-आदि वाक्य क्या सचमुच ही ईश्वर पर लांछन नहीं है? बम्बई में एक भाई मेरे पास आया। मैंने उससे पूछा—क्यों भाई! कभी ईश्वर का भजन करते हो? उसने कहा—हाँ महाराज! पहले तो बहुत किया था। उसके उत्तर ने मुझे पुन: प्रश्न करने को बाध्य किया। पहले किया था इसका मतलब यह कि अब नहीं करते हो? उसने कहा—हाँ। मैंने पूछा—क्यों? वह कहने लगा—पहले मैंने ईश्वर का बहुत स्मरण किया था पर उसने मेरी एक न सुनी। तबसे फिर मैंने भी उसकी उपासना करनी छोड़ दी। लगता है ईश्वर साला गुण्डा है। अब आप समझ गये होंगे कि ईश्वर का कर्तृत्व मानने से ही ये सारी गालियाँ ईश्वर के पल्ले पड़ती हैं। नहीं तो भला उस पवित्र आत्मा को क्यों गालियाँ पड़तीं।

ईश्वर का कर्तृत्व नहीं मानने के कारण ही बहुत से लोग जैनों को नास्तिक कह देते हैं। पर जब हम प्रत्यक्ष में यह देखते हैं कि कुम्भकार घड़े बनाता है, कृषिकार खेती करता है, बढ़ई काठ का सामान बनाता है और भी सृष्टि में जितने काम हैं उनका करनेवाला कोई न कोई जरूर है तब हमें फिर यह क्यों मानना चाहिए कि ईश्वर ही संसार का कर्त्ता है? संसार का कर्त्ता स्वयं जीव है। वही अपना संसार रचता है।

लाडनूं,
२१ मई, '५७

३६ : म्याऊँ के मुँह पर

मानव! जरा आँखें खोलकर तो देखो। आज तुम्हारी स्थिति क्या हो गई है? जान-बूझकर क्यों अन्धे बनते हो भलेमानुष? क्या तुम्हें वह कहानी याद नहीं? उस समय जब रास्ते में माता-पिता और पुत्र तीनों जा रहे थे। पुत्र के मन में सहसा विचार आया—ऐसा न हो पर कभी हो भी सकता है कि हम अपने छोटे से परिवार के सारे के सारे प्राणी अन्धे हो जायें। क्या होगा उस समय? कौन आएगा हमारा

सहयोग करने ? अतः भविष्य की बात पहले सोचनी चाहिए और उस आपत्ति को सहन करने के लिए हमें पहले ही तैयारी कर लेनी चाहिए। उसने अपना प्रस्ताव माता-पिता के सामने रखा। उन्हें भी यह बात जँच गई। तीनों ने हाथ में लकड़ियाँ ले लीं और लकड़ी से रास्ता टटोल कर चलने लगे। वह भूमि जिसपर वे चल रहे थे सोने की खदान-भूमि थी। चारों ओर सोने के ढेर लगे पड़े थे। पर वहाँ देखता कौन ? थोड़ी दूर चले और वहाँतक चले जहाँतक खदान की सीमा पूरी हो जाती है। पुत्र खुशी से उछल पड़ा। कहने लगा—"बस पिताजी ! अब आँखें खोल लीजिये। पूरा हो गया हमारा अभ्यास। हमारा परीक्षण सही निकला। इतनी दूर चलकर हमने देख लिया हम ऐसे संकट के समय में भी अपना काम चला सकते हैं।" तीनों आँखें खोल कर चलते गये। पर अब क्या था ? जो बीतना था वह तो बीत चुका। भले ही उन्हें यह ज्ञान न हो कि वे सोने की खदान पीछे छोड़कर आ रहे हैं, भले ही वे अपनी सफलता पर फूले न समाते हों, पर जो कोई भी उनकी कहानी सुनेगा वह उनपर हँसे बिना नहीं रहेगा।

शायद तुम भी उनकी मूर्खता पर हँसे बिना नहीं रहे होगे। पर दूसरों पर हँसना सहज है भाई, अपनी देखो। तुम भी तो वही अभिनय कर रहे हो आज। क्या कभी तुमने अपने दैनिक कार्यक्रम की तरफ आँख उठाई है ? क्या तुम्हें भी कहीं 'पोजीशन' का रोग तो नहीं हो गया है ? दूसरों को अपने ऊँट को फिटकरी देते देख कहीं तुम भी अपने ऊँट को पानी तो नहीं पिला रहे हो जिससे वह भी गड़गड़ाहट तो उसी प्रकार कर सके ? फिटकरी नहीं तो क्या, पानी ही सही। पर गड़गड़ाहट तो वैसी ही होनी चाहिए। दूसरों के बढ़े हुए खर्चों को देखकर क्या तुम भी उनकी बराबरी करने की नहीं सोचते ? तब फिर बताओ तुम्हें उनपर हँसने का क्या अधिकार है ?

हाँ, तुम भी जानने तो सब कुछ लगे हो। देखते हो यह 'पोजीशन' की होड़ बुरी है। पर पहले कौन करे ? म्याऊँ के मुँह पर कौन चढ़े ? पर जरा गहराई से सोचो इस होड़ में क्या धरा है ?

४० : कविता कैसी हो ?

कविता कवि का सहज धर्म है। कवि के हृदय के विचार से ही कविता बनती है और वही साहित्य बनता है। कविता व्यक्ति के हृदय के अन्तस्तल को छूनेवाली व शब्दाडम्बरों से रहित होनी चाहिए। पर आज हम

कवियों को बिल्कुल इसके विपरीत पाते हैं। भगवान् महावीर ने जो विचार का प्रचार किया, वह आज हमारे लिए सबसे ऊँचा साहित्य है। क्योंकि वे उनके हृदय के विचार थे, उनमें नैतिकता की पुट थी। और वैसे ही साहित्य की आज यहां जरूरत है।

हमारे साधु-साध्वियों में भी यह प्रयास काफी गति कर रहा है, क्योंकि हमारा यह लक्ष्य है कि उन्नति इकतरफी न होकर चारों तरफ से होनी चाहिए, क्योंकि वह कभी-कभी लाभ की अपेक्षा हानि भी पहुँचा देती है। केवल प्रवचनकार या लेखक या विचारक न बनकर सभी विषयों का अध्ययन हमें करना है और इस ओर हम जागरूक भी हैं।

लाडनूं,
२३ मई, '५७

४१ : श्रम और संयम

जीवन के दो पहलू होते हैं। पहला आचरण यानी क्रिया और दूसरा विचार यानी ज्ञान। आध्यात्मिक जीवन के लिए इन दोनों का होना आवश्यक है। इसीलिए शास्त्रों में कहा गया है—"ज्ञान क्रियाभ्यां मोक्षः"। पुराने जमाने में शिक्षा-केन्द्र गुरुकुलों के रूप में होते थे। उनका लक्ष्य यही रहता था कि छात्रों को ज्ञान और क्रिया की शिक्षा मिले। पर आजकल तो शिक्षण-केन्द्रों का लक्ष्य यह न रहकर केवल देश की बेकारी दूर करनी है। बेकारी की समस्या तो सामयिक है। आज यह समस्या है, हो सकता है कल इसका नाम-निशान भी न रहे। अतः यह तो शिक्षा का एक अंग है। यह मुख्य ध्येय नहीं हो सकता। शिक्षा का ध्येय होना चाहिए—जीवन की आध्यात्मिक उन्नति। आध्यात्मिक उन्नति का मतलब केवल उपवास और पौषध ही नहीं है। उसके अर्थ हैं—कषाय-मुक्त, सादा और सात्विक जीवन-यापन। वही जीवन ऊँचा है, जिसमें कषाय की हीनता ज्यादा से ज्यादा हो। हमारे शास्त्रों में कहा है—वह विद्या अविद्या है जिसमें आत्म-ज्ञान और धर्म का स्थान नहीं हो।

हां, एक बात यह भी ध्यान रखने की है कि—धर्म केवल रूढ़ि न बन जाये। यदि वह रूढ़ि का रूप धारण कर लेगा तो उसमें भी फिर अस्थिरता आ जायेगी। आज जो श्रद्धा है वह कल न रहेगी। अतः यह आवश्यक है कि धर्म जीवन में पूर्ण श्रद्धा व सोच-विचार पूर्वक उतारा जाये।

आज अनेक कार्य-पद्धतियां संसार में चल रही हैं। एक पद्धति कहती

है—'श्रम ही जीवन है।' इधर अणुव्रत का यह घोष है—'संयम ही जीवन है।' इस घोष के पीछे का चिन्तन यह है कि श्रम में यदि संयम नहीं है, तो वह गलत बात होगी। श्रम तो एक पशु और पागल व्यक्ति भी करता है। पर उसके श्रम का क्या मूल्य है? इधर संयम भी यदि श्रम-रहित हो जाये तो वह भी गलत हो जाता है। अतः जीवन में दोनों का समन्वय आवश्यक है।

लाडनूं,
२६ मई, '५७

४२ : अणुव्रतों की अलख

कैसी विचित्र बात है कि एक तरफ समारोह और दूसरी तरफ विषाद। समारोह तो हर्ष के विषय पर मनाये जाते हैं। पर साधु-सन्तों का आना-जाना सभी के लिए महोत्सव है। साधु तो यह सोचकर ही आते हैं कि एक दिन यहाँ से जाना है, और यह ठीक भी है। ठीक ही तो कहा गया है—बहता पानी और रमता जोगी भला किसका होता है।

अन्त में मैं आपसे यही कहूँगा कि आप मुझे विदाई देते समय लाडनूं मे जो अणुव्रतों की अलख जगी है उसे विदा न करदें। जिस उत्साह से आपने अभी तक कार्य किया उसी उत्साह से करते जायें, तभी कुछ कार्य हो सकेगा।

लाडनूं,
२७ मई, '५७

४३ : साम्प्रदायिक मतभेदों का चिन्तन

आज लोगों में समन्वय की यह जो भावना दिखाई दे रही है यह प्रगति का शुभ संकेत है। यों तो प्रायः सारे भारतवर्ष में ही समन्वय की आवाज है पर उसका क्रियात्मक रूप कुछ कम सामने आ रहा है। पर अपने लम्बे प्रवास में हमने देखा है कि सभी जगह युवकों में समन्वय की भावना कुछ अधिक पाई जाती है। बुजुर्गों में उनकी अपेक्षा यह भावना कुछ कम है। हो सकता है उनमें कुछ रूढ़िवादिता हो, किन्तु युवकों में यह नहीं है। अतः हमें इस ओर जरूर ध्यान देना चाहिए।

इस विषय में सबसे पहली बात है हम साम्प्रदायिक मतभेदों को चिन्तन

का विषय रखें। यद्यपि मैं यह नहीं कहता कि हमें मतभेद हैं ही नहीं; पर यदि वे हैं भी तो बहुत थोड़े हैं अतः हमें उनको लेकर आपस में झगड़ना नहीं चाहिए। उन्हें आलोचनापूर्वक समझने की कोशिश करनी चाहिए। हम आपस में बैठकर यह चर्चा करें कि हरएक मान्यता की बुनियाद क्या है? और जब हम शुद्ध जिज्ञासा लेकर चलते हैं तो फिर चर्चा में कटुता आये ही क्यों? आज तो जब राजनीतिक लोग भी एक स्टेज पर आकर सभ्यतापूर्वक चिन्तन कर सकते हैं तब हम धार्मिक लोग आपस में बैठकर चर्चा क्यों नहीं कर सकते? यदि कहीं कटुता आ भी जाये तो चर्चा को वहीं बन्द कर देना चाहिए। यह ठीक और यह गलत; यह खींचातानी कटुता का कारण होती है। पर जहाँ ज्ञान के लिए विवेचन चलना है वहाँ कटुता आये ही क्यों? मैंने अनेक जगह इसका अनुभव किया है और पाया है कि उनका अन्त बड़ा सरस रहा है।

समन्वय की भावना को मूर्त रूप देने के लिए यह आवश्यक है कि इसकी कुछ रूप रेखा तय की जाए। उसके बारे में मैं आपको दो-तीन बातें सुझाना चाहूँगा। पहली तो यह कि किसी भी सम्प्रदाय का अनुयायी दूसरे सम्प्रदाय की आक्षेपात्मक कटु आलोचना न करे। दूसरी यह कि विचार-विनिमय के लिए समय-समय पर संयुक्त गोष्ठियों का आयोजन किया जाये। तीसरी बात यह कि सामूहिक उत्सवों को सामूहिक रूप में ही मनाया जाये। जिस प्रकार वीर-निर्वाण-दिवस, महावीर-जयन्ती आदि-आदि उत्सव सभी जैनों को समान रूप से मान्य हैं। उन्हें अलग-अलग न मनाकर सामूहिक रूप से मनाये जाएँ। उनके जीवन पर प्रकाश डाला जाये। पर यह ध्यान रखने की बात है कि ऐसा प्रकाश नहीं जो अन्धकार का रूप ले ले यानी जिससे एक दूसरे की मान्यताओं को ठेस पहुँचे।

बहुत से जैन लोग यह प्रश्न करते हैं कि महावीर पर जयन्ती राष्ट्रीय छुट्टी क्यों नहीं होती, जब कि भगवान बुद्ध की जयन्ती में भारत में उनके अनुयायी कम होने पर भी राष्ट्रीय छुट्टी होती है इसके दो कारण हैं—पहला तो यह कि आमलोगों की धारणा है—जैन लोग सब से ज्यादा परिग्रही हैं। सब लोगों की उनपर आँख है कि भला जिन भगवान् महावीर ने सबसे ज्यादा अपरिग्रह का उपदेश दिया उनके अनुयायी ही आज परिग्रह के पंडे कैसे हो गए? यद्यपि मैं मानता हूँ कि सारे जैन परिग्रही, पूंजीपति ही हैं, ऐसी बात नहीं है। यह एक भ्रान्ति है कि जैन लोग ज्यादा परिग्रही हैं। हाँ, यह अवश्य है कि जैनों में ज्यादा भूखे-फकीर नहीं हैं। पर इसका मतलब यह नहीं कि वे सारे पूंजीपति ही हैं। मेरी समझ में जैन लोग मध्यमवर्गीय ज्यादा हैं।

पर तो भी आज परिग्रह की प्रतिष्ठा नहीं रहने के कारण आम जनता की उनके प्रति विशेष श्रद्धा नहीं है। नीति-निष्ठ तो आज जैन क्या और भी बहुत कम लोग हैं पर नाम के लिए जैनों का नाम सबसे पहले आता है। दूसरी बात है जैनों में स्वयं में भी आपसी कलह इतने हैं कि जिससे दूसरे लोगों को उनकी उपेक्षा करने का अवसर मिल जाता है। मन्दिरों, स्थानकों, यहाँ तक कि साधुओं और श्रावकों को भी लेकर कोर्ट में अनेक मुकदमे चलते हैं जिससे लोग मानने लगे हैं कि ये लोग तो लड़ाकू ही हैं। इसी कारण कोई चोटी का नेता उनकी बात सुनने को भी तैयार नहीं होता। वे लोग यह मानने के लिए भी तैयार नहीं हैं कि ये लोग कुछ काम करते हैं। इसीलिए महावीर जयन्ती की बात भी बल नहीं पकड़ती।

यद्यपि जैन-तत्त्व के प्रति लोगों की आस्था है पर जैन-सन्तों के प्रति उनकी भावना बहुत ही नीची है। इसका कारण है—जैन-सन्तों का आज सार्वजनिक परिचय नहीं होता है। जैन-धर्म आज कुछ इतने सीमित दायरे में बँध गया है कि लोग जैन-सन्तों को बनियों का महाराज कहने लगे हैं। वह जैन-धर्म जो सभी कौमों में चलता था आज केवल बनियों का पर्याय बनकर रह गया है। मुझे इस बात से बड़ा दुःख होता है। इन थोड़े वर्षों में हमारे सार्वजनिक कार्य को देखकर बहुत लोग मुझे कहते हैं—महाराज आपने तो बड़ी प्रगति कर ली। पर मैं उत्तर दिया करता हूँ—इसमें प्रगति की क्या बात है? अभी तक तो हमने अपनी गलती को सुधारा है। जैन-धर्म स्वयं ही इतना विशाल है कि उसमें कोई भेद-भाव नहीं। पर समय की गति ने उसे बाँध दिया। अतः आज हमारा सबसे बड़ा काम है कि हम उसे जाति के बन्धन से मुक्त कर सकें। पर जैनों को तो आपसी मतभेद से ही फुरसत नहीं मिलती तब वे जैन-धर्म की उन्नति की बात ही कैसे सोच सकेंगे?

अतः आज समन्वय की बड़ी आवश्यकता है। श्वेताम्बरों में वल्लभ विजय जी महाराज और दिगम्बरों में सूर्यसागर जी महाराज में मैंने समन्वय की बड़ी तड़प देखी। इसीलिए मैं स्वयं उनसे मिलने के लिए उनके स्थान पर गया था। मान और अपमान का भी जैन-मुनियों में आज बड़ा सवाल है, और तो क्या बैठने के लिए उन्हें अगर थोड़ा भी नीचा स्थान मिल जाता है तो उसमें वे अपना अपमान समझने लग जाते हैं। पर सोचने की बात है—साधुओं का क्या मान और क्या अपमान? अभी दिल्ली में बहुत से बौद्ध-भिक्षु हमारे स्थान पर आ गये। पहले मैं स्वयं उनके स्थान पर भी गया था। वे कहने लगे हम आपसे बात तो करना चाहते हैं पर समान आसन हो तभी हम बात कर सकते हैं। मैंने सोचा मुझे इसमें क्या

दिक्कत है ? अगर कोई नीचे बैठने मात्र से मुझसे कुछ ले सकता है तो मुझे इसमें क्या आपत्ति ? मैं नीचे बैठ गया। वे भी नीचे बैठ गये। बहुत देर तक उनसे हमारी चर्चा हुई। हम दोनों को ही उसमें बड़ा रस आया। अतः समस्त जैन-मुनियों के लिए यह सोचने की बात है। अगर वे छोटी-छोटी बातों में ही उलझ जाते हैं तो जैन-धर्म की उन्नति तो बहुत बड़ी बात है।

लाडनूं
२८ मई, '५७

४४ : नैतिक क्रान्ति के क्षेत्र

जो आनन्द वर्ग-विहीन समाज में बोलने में आता है वह एक वर्ग के लोगों में बोलने में नहीं आता। केवल जैन या केवल ओसवालों में बोलकर मैं उतना खुश नहीं होता जितना सर्वसाधारण में बोलकर होता हूँ। उससे भी अधिक खुशी तो मुझे तब होती है जब मैं ग्रामीणों में बोलता हूँ। अभी मैं गाँवों से होकर आ रहा हूँ। वहाँ मुझे बड़ी सरलता दिखाई दी। हालाँकि मैं यह नहीं कह सकता कि वहाँ पाप है ही नहीं। पर शहरों की अपेक्षा वहाँ पाप कम है, यह कहा जा सकता है। और आजकल तो शहरों के सामीप्य ने ग्रामों पर भी हाथ फेर दिया है। पर फिर भी वे सन्तों की बातें सुनने के लिए उत्सुक रहते हैं, यह भी मैंने वहाँ देखा। दोपहर की भयंकर गर्मी में भी वे लोग प्रवचन सुनने के लिए इकट्ठे हो जाते थे। वहाँ टाउन हॉल तो है नहीं, किसी वृक्ष की छाया के नीचे मैं बैठ जाता और वे लोग मेरे चारों ओर बैठ जाते। कितने प्रेम से वे मेरी बातें सुनते। केवल सुनते ही नहीं वे उन्हें अपने जीवन में भी उतारते।

यहाँ शहरी लोगों में मेरे प्रवचन की प्रशंसा करनेवाले बहुत मिल जायेंगे। मेरे स्वागत में लम्बे-लम्बे और लच्छेदार भाषण करनेवाले भी अनेक मिल जायेंगे, पर मैं अगर उनसे किसी व्रत की माँग कर लूँ तो शायद वे धरती कुरेदने लग जायेंगे या आकाश की ओर देखने लग जायेंगे। संस्कृत में एक वाक्य आता है—'वैयाकरण खसूचि'। जब किसी वैयाकरणी को प्रश्न का उत्तर नहीं आता है तो वह आकाश की ओर देखने लग जाता है। उस अवस्था को कहते हैं—'वैयाकरण खसूचि'। शहरी लोग भी शायद किसी व्रत का नाम सुनकर आकाश की तरफ देखने लग जायेंगे। पर गाँव में मैंने देखा पचासों वर्ष से तम्बाकू पीनेवाले लोगों ने भी थोड़ा सा

उपदेश सुनकर उसी वक्त मेरे सामने अपनी चिलमें तोड़ डालीं और आजीवन तम्बाकू नहीं पीने का व्रत ले लिया। यह क्या कम बात है? यहां शहरों में ऐसे उदाहरण कम मिलेंगे।

तेरापंथ के आद्य प्रवर्त्तक भिक्षुस्वामी ने अनेक बार कहा है—वास्तव में कार्यक्षेत्र तो गाँव ही है। एकबार वे किसी शहर में चातुर्मास बिताकर आये। दूसरे गाँव में आने पर किसी ने उनसे कहा—'महाराज! अबकी बार तो आपने शहर में अच्छा उपकार किया।" स्वामीजी ने कहा—'हाँ भाई! अनेक लोगों ने हमारी बाते सुनी, समझीं। हमने खेती की तो है पर वह गाँव के गोरवें (किनारे)। यदि गधे उसे उखाड़ न दें तभी उसकी सफलता है।" कितना मर्म था उनके कहने का। इसका कारण यह है कि शहरों में अनेक लोग रहते हैं। उन सबके विचार भी अलग-अलग होते हैं। बुरे विचारों का असर बहुत जल्द और बहुत ज्यादा होता है। अतः शहरों में व्रत-नियम की बातें कैसे जड़ पकड़ पाएँगी। वहाँ तो अनेक ऐसे आकर्षण रहते हैं कि वे त्याग के प्रति आस्था ही नहीं जमने देते। पर गाँवों में ऐसा नहीं होता। अब भी जहाँ शहरों में दूध में प्रायः पानी मिलाया जाता है वहाँ गाँवों में दूध बेचा तक नहीं जाता। उलटे वे लोग तो यह कहते हैं—दूध और पूत क्या बेचे जाते हैं? अनेक गाँवों में तो हमारे साथवाले गृहस्थ दूध लाने के लिए जाते तो उन्हें दूध नहीं मिलता। वे लोग कहते तुम चाहे जितना दूध ले जाओ पर हम उसके पैसे नहीं लेंगे। श्रावक भी मुफ्त में दूध कैसे लेते। अतः वे घूम-फिरकर वापस आ जाते पर उन्हें पैसों में दूध नहीं मिलता।

यहाँ शहरों का जीवन कितना कृत्रिम हो गया है। जयपुर में हम गये। वहाँ हमें यह भी पता नहीं चलता कि आकाश में चन्द्रमा उदय होता है या नहीं। क्योंकि वहाँ तो हमेशा बिजली की चकाचौंध रहती है। और उस कृत्रिम प्रकाश ने मनुष्य का अन्तर-प्रकाश, सहज प्रकाश छीन लिया है।

तो शहरी-जीवन में आज इतनी विकृतियाँ आ गई हैं कि वहाँ आत्मा की आवाज बड़ी मुश्किल से सुनी जाती है। पर मुझे तो सभी जगह काम करना है। अतः मैं शहरों को भी कैसे भूल सकता हूँ? पर आपसे मैं यह स्पष्ट कह देता हूँ कि केवल शाब्दिक स्वागत को मैं स्वागत नहीं मानता। मेरा स्वागत तभी हो सकता है जब आप अपने-अपने जीवन की बुराइयाँ मुझे अर्पित कर स्वयं हल्के हो जायेंगे।

४५ : जिज्ञासु और जीगीषु

मनुष्य में जिज्ञासा अवश्य रहनी चाहिए। और इसीलिए चर्चा का भी जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान है। पर वह जय और पराजय के लिए नहीं की जाए। जहाँ जय और पराजय का प्रश्न है वह चर्चा अहिंसक चर्चा नहीं होती। साधु किसी की हार-जीत चाहता ही नहीं। यहाँ तक कि शास्त्रों में कहा गया है—'देवाणं मणुयाणं च तिरियाणं च वुग्गहे। अमुयाणं जओ होउ मा वा होउत्ति नो वए।' अर्थात् देव, मनुष्य और तिर्यंचों के आपस के कलह में साधु को यह नहीं कहना चाहिए कि अमुक की जय हो और अमुक की पराजय। तब चर्चा में भी जय-पराजय का प्रश्न उठाना हिंसा है यह स्पष्ट समझा जा सकता है।

यद्यपि साधु यह चाहता है कि सत्य की विजय हो। पर वह विजय की कामना व्यक्तिपरक नहीं। व्यक्तिपरक विजय की कामना राग है। इसी आधार पर तो स्वामीजी ने कहा था—किसी विजय और पराजय में मत पड़ो। निर्बल और सबल का संसार में झगड़ा हमेशा से चला आ रहा है। आज भी तो वाद और राष्ट्र के नाम पर यह निर्बल और सबल का ही तो झगड़ा है। ऐसी स्थिति में शक्तिवान की जय और निर्बल की पराजय हिंसा नहीं तो और क्या है? उन्होंने कहा था—"एकण रे दे चपेटी, एकण रो दे दुख मेटी।" ए तो रागद्वेष नो चालो, दशवैकालिक सम्भालो।' एक आदमी को पुचकारना और एक आदमी को मारना यह राग-द्वेष का परिणाम है। इसी प्रकार शास्त्रार्थ भी जय और पराजय के लिए नहीं होकर ज्ञान-विकास के लिए होना चाहिए। यदि ऐसा हो तो फिर चर्चा ५ दिन भी चले वहाँ उत्तेजना नहीं होगी। उत्तेजना तो वहाँ होती है जहाँ प्रतियोगिता होती है।

प्रतियोगिता बड़ी बुरी चीज होती है। आपने देखा होगा कभी-कभी मोटरों में प्रतियोगिता हो जाती है। इसमें यात्रियों को तो लाभ होता है पर उनका क्या हाल होता है? एक आदमी कहेगा कि वह यहाँ से वहाँ तक का ५ आने किराया लेगा। दूसरा उसे ४ आने में ही ले जाने को तैयार हो जायेगा। उसमें फिर प्रतिस्पर्द्धा पैदा होगी और वह ३ आने में भी तैयार हो जायेगा। यह बदहालत यहाँ तक पहुँच जाती है कि कभी-कभी तो बिना किराये ही सवारी को बैठा लिया जाता है। यह मनका दैन्य नहीं तो और क्या है?

अतः चर्चा का लक्ष्य प्रतियोगिता नहीं होना चाहिए। हर मनुष्य को जिज्ञासु होना चाहिए जिगीषु नहीं। जिज्ञासा तो एक भूख है। मैं समझ

नहीं सकता कि इसके बिना मनुष्य को चैन कैसे पड़ता है? यदि किसी व्यक्ति को भूख नहीं लगती हो तो उसे जगाने के लिए दवा लेनी पड़ती है। तो इस ज्ञान की भूख को जगाने के लिए दवा क्यों नहीं लेनी चाहिए? जिगीषा का मतलब है जीतने की इच्छा। यह अच्छी नहीं होती। इसे मिटाने के लिए सत्संगति की अनुपम औषधि लेनी चाहिए।

४६ : जैन-धर्म जन-धर्म कैसे बने?

साधु लोग एक चलती फिरती हाट हैं। जैसे हाट लगती है, तब तो अनेक लोग वहाँ सामान खरीदने व बेचने के लिए आ जाते हैं और जब वह उठ जाती है तो पीछे से कहीं पत्थर, कहीं ईंट और कहीं कुछ अवशेष रह जाते हैं। इसी प्रकार जहाँ साधु जाते हैं, वहीं लोग इकट्ठे हो जाते हैं। वे अप्रतिबन्ध विहारी हैं। अतः आज यहाँ हैं तो कल कहीं जाकर ठहरेंगे। उनका काम है स्वयं की साधना करना और दूसरों को भी उस ओर आकृष्ट करना। अतः जगह-जगह उपदेश करना भी उनका कर्तव्य है। युग जिसे चाहे और हमारी साधना में उससे अगर कोई बाधा न हो तो वैसा करने में हमारा क्या नुकसान है? इससे अगर एक भी व्यक्ति सन्मार्ग पर आता है तो यह कितना बड़ा उपकार है? केशी मुनि और प्रदेशी राजा का वृतान्त आप लोगों ने सुना होगा। एक व्यक्ति का उपकार होते हुए देख कर केशी मुनि ने कितना लम्बा विहार किया था। मान लीजिये किसी समय लाभ न हो, कोई भी व्यक्ति न समझे पर इससे हमारा क्या नुकशान हुआ? हमारी अपनी प्रवृत्ति का लाभ तो हमें हो ही चुका। अतः केवल पुरानी बू में ही बहते रहना यह कोई तत्त्व की बात नहीं है। जिस काम के करने में फायदा हो उसे करने में कोई सन्देह नहीं करना चाहिए।

जैन साधुओं की तो यह विशेषता रही है कि वे घर-घर में जाकर प्रचार करते रहे हैं। बीच के कुछ काल में इस बात की कमी भी आई, और इसी कमी के कारण मध्यकाल में जैन-तत्त्व जनता तक नहीं पहुँच पाया। जो जैनधर्म इतना व्यापक था, वह आज इतना संकुचित क्यों हुआ? इसीलिए कि उसमें संकीर्णता आ गई। भगवान् महावीर के श्रावक सभी जाति और सभी वर्ग के थे। पर मध्यकाल में यह बात भुला दी गई। यह मान लिया गया कि जैन-धर्म तो ओसवाल महाजनों का ही है। इसी दायरे ने जैनधर्म को संकुचित बना दिया, और दूसरे लोग भी यह मानने लगे कि जैनधर्म उनका नहीं है। यह ठीक है कि ओसवालों ने उस समय

बुराइयों, कुव्यसनों, गलत खान-पान का त्याग किया था। पर इसके बाद में क्या कुछ हुआ, यह भी ध्यान देने की बात है। जबतक धर्म जाति-पाँति के बन्धन से मुक्त नही होगा, तब तक उसका फैलाव असम्भव है। यदि दूसरे लोगों को उसका परिचय ही नहीं होगा तो लोग उसे स्वीकार भी कैसे करेंगे ? आप एक छोटी-सी बात वोट को ही लीजिये। उसके लिए भी जानकारी की कितनी आवश्यकता रहती है। उम्मीदवार को अपना परिचय जनता तक पहुँचाना पड़ता है। अपना सम्पर्क बढ़ाना पड़ता है। बिना जाने-बूझे आखिर वोट दिया भी किसे जाय ? इसी प्रकार धर्म-प्रचारकों का सम्पर्क भी जबतक जनता मे नहीं होगा तब तक उसे कैसे स्वीकार कर सकेगी ? अभी दिल्ली से वापिस जाते वक्त मैं एक गाँव में ठहरा। वहाँ के लोगों ने समझा—महाराज आ रहे हैं। न जाने कितने साधु उनके साथ आएँगे ? कितने सेवक उनके साथ आएँगे ? कितना आटा उनके लिए चाहेंगे आप ? कितना घी ले लेंगे ? और कम से कम सोने के लिए भी न जाने कितने बिस्तरों की आवश्यकता होगी ? इसी चिन्ता में वे बेचारे घबड़ा गये और पहले हमसे दूर-दूर रहे। आहार-पानी कर लेने के बाद जब हम प्रतिक्रमण करने लगे तो उन लोगों ने देखा—इन सन्तों ने रोटी-पानी तो हमसे नहीं माँगा। बाद में वे हमारे पास आये। हमने उन्हें उपदेश सुनाया। सुनकर उनकी आँखें खुल गई और विशेष बात जो उन्होंने सोची थी कि न जाने कितने बिस्तरों की आवश्यकता होगी, उनकी यह शंका भी दूर हो गई। क्योंकि हमलोग अपने ही कपड़े पर सोते हैं। फिर प्रातः जब हम अगले गाँव के लिए प्रस्थान करने लगे तो वे लोग इकट्ठे होकर हमारे पास आये और कहने लगे—महाराज ! हमें तो आपका पता ही नहीं था कि आप ऐसे साधु हैं। हमने तो सोचा था—न जाने ये लोग क्या-क्या करेंगे, पर आपका तो किसी पर एक पाई का भी बोझ नहीं, यह देखकर हमें आपमें बड़ी श्रद्धा हुई है। आप चलिये और हमारे घरों से भिक्षा लीजिये। मैंने कहा—भाई ! हमें अभी आगे जाना है। हम अभी रुक नहीं सकते। भिक्षा लेने में हमें देर हो जाएगी और विशेषतः हम प्रातःकाल भिक्षा लेते भी नहीं हैं। अतः अभी जायेंगे ही। उन्होंने बड़ी भक्तिपूर्वक कहा—अच्छा महाराज ! आज तो आप जायेंगे पर अब कभी इधर से आना हो तो हमारा गाँव भूलना मत। हाँ तो मैं कह रहा था कि बिना परिचय के लोगों में भ्रान्तियाँ रहनी स्वाभाविक हैं।

वास्तव में हमारा धर्म कितना सस्ता है। इसमें एक पाई का भी खर्च नहीं है। अगर कोई हमारा धर्म स्वीकार भी करता है तो हम उसे यही त्याग दिलायेंगे कि हमारे लिये रोटी भी नहीं बनाये। खर्च की तो बात

ही कहाँ रही ? एकबार औरंगाबाद छावनी में भी इसी प्रकार हम एक बड़े पुलिस अफसर के घर ठहरे थे। लोगों ने जगह माँग ली। जान-पहचान का आदमी था। बेचारा अस्वीकारता कैसे ? पर मन ही मन सोचने लगा—इस बड़े हाथी को मैंने अपने घर पर बुला लिया है। न जाने महाराज कैसे आयेंगे, कैसे ठहरेंगे और क्या-क्या करेंगे ? खैर हमलोग वहाँ चले आये। आहार-पानी से हम निवृत्त होकर आये थे। आकर बैठ गये। प्रतिक्रमण किया। पहले वह हमें दूर-दूर से देखने लगा। न जाने ये लोग क्या होंगे ? पर हमारे प्रतिक्रमण करने के पश्चात् कुछ संकोच दूर हुआ और सभ्यता के नाते आकर पूछने लगा—महाराज ! आपके भोजन की व्यवस्था। मैंने कहा—भाई ! हम तो भोजन करके आये हैं। तो दूध पीयेंगे ? नहीं, हम रात को कुछ खाते-पीते नहीं। उसने सोचा होगा—चलो इतनी बला तो टली। थोड़ी देर बाद पूछा—अच्छा महाराज आपको सोने के लिए कितने बिस्तरे चाहिए ? मैंने कहा—नहीं, हम अपने बिस्तर अपने पास ही रखते हैं। दूसरों के बिछौने पर नहीं सोते। उसने दो कमरे हमें दिये थे। उनमें बिजली जल रही थीं। हमने उसे समझाया कि भाई रात को बिजली जलती रहने पर ये कमरे हमारे काम नहीं आएंगे। तो क्या बिजली बुझा दूं ? पर गरमी बहुत है। आप बाहर नहीं सोते ? पंखा तो खोल दूं ? हमने समझाया कि जिस प्रकार हम बिजली के नीचे नहीं सोते, उसी प्रकार पंखे के नीचे भी नहीं सो सकते। उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। रात को तो वह चला गया। दूसरे दिन वह वापिस हमारे पास आया और बोला—अच्छा महाराज ! आप शौच तो लैट्रिन में जाएँगे? मैंने कहा—नहीं, हम बाहर जंगल में जाते हैं। अब उसके अन्तर के द्वार खुल गये। कहने लगा—आचार्यजी ! आप तो गजब हैं। मैंने तो आपके बारे में न जाने क्या-क्या सोचा था पर आप तो और ही निकले। अब मैं आपसे छिपाता नहीं, सारी बात कहना चाहूँगा। मैंने तो यही समझा था कि और-और सन्त-महन्तों की तरह आप भी कोई बड़े ठाट-बाट से आयेंगे। आप की सादगी और आचार देखकर मेरे मन में आपके प्रति श्रद्धा उमड़ पड़ी है और मैं सोचता हूँ कि सारे ही साधु अगर इसी प्रकार के हों तो क्या हमारा देश सुधर नहीं जाये ? रात में हमने उसे और उसकी पत्नी तथा बच्चों को कुछ उपदेश दिया और अणुव्रत-आन्दोलन के बारे में भी बताया। वे लोग बड़े भक्त बन गये और कहने लगे—प्रातःकाल का नाश्ता तो आप को हमारे यहाँ करना ही होगा। हमने उन्हें अपनी विधि बताई और आखिर उनकी भक्ति देखकर थोड़ा दूध तथा एक दो चपातियाँ (रोटियाँ) उनके घर से लीं।

तो कहने का मतलब है कि जबतक लोग परिचय में नहीं आते, तब तक यह भाव रहता ही है। अतः अगर हम जनता के परिचय में आयें तो इसमें हमारे लिये कोई बाधा नहीं और उन्हें यदि एक स्वाभाविक तत्त्व मिलता है तो इसमें हमें आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

आप कहेंगे—आप इतने लोगों के परिचय में आये, कितने लोग जैनी बने? मैं कहूँगा—इन बातों को आप एक दफे रहने दीजिये। यह सोचिये कि कितने लोग हमारे निकट आये और कितने लोगों ने सम्पर्क से अपने जीवन शुद्ध किये? क्या यह कम बात है? मुझे अपनी इस ७००० मील की यात्रा में इस सम्बन्ध के न जाने कितने अनुभव हैं। लोगों के सम्पर्क में आकर मैंने बहुत कुछ पाया है और सोचता हूँ—अगर हमारा थोड़ा प्रयास रहे तो हजारों नहीं लाखों आदमी भगवान् महावीर के संदेश को सुनने के लिए तैयार हैं। पर थोड़ा प्रयास अवश्य अपेक्षित है।

मेरी तरह आप लोगों के सम्पर्क में भी अनेक लोग आते होंगे। हमारी बहनों के सम्पर्क में भी न जाने कितनी बहनें आती होंगी और वे आप लोगों का आदर भी करती होंगी। पर क्या आपने कभी यह कष्ट किया है कि अपने सम्पर्क में आनेवाले लोगों को जैन-तत्त्व की जानकारी दी जाये। आपने तो समझ लिया होगा—शायद धर्म करने का अधिकार तो हमारा ही है। ये छोटी जाति के लोग क्या धर्म कर सकेंगे? समझना तो दूर रहा आपने कहीं यह तो नहीं मान लिया है कि उनसे बात करने से हम नीचे हो जायेंगे। तब तो सबसे नीचे हम साधु ही होंगे। क्योंकि हम प्रत्येक व्यक्ति के सम्पर्क में आते हैं। उनसे बोलते हैं, उन्हें उपदेश देते हैं। अतः आप यह भ्रान्ति अपने दिल से निकाल दें कि ये नीच आदमी क्या धर्म कर सकेंगे? आवश्यकता इस बात की है कि उन्हें साधुओं का सम्पर्क कराया जाय और जैन-तत्त्व की जानकारी करायी जाये। आप उन लोगों को छोड़ दीजिए जो सुनना नहीं चाहते। पर इसके बाद भी एक बड़ी संख्या शेष रह जाती है, जोकि सुनना चाहती है। आप उनको मौका क्यों नहीं देते? माना उनको काम रहता है। पर यह कोई जरूरी नहीं है कि वे रोज ही यहाँ आयें। जब कभी ५-४ दिनों में उन्हें समय मिले वे सम्पर्क कर सकते हैं। तो इसमें उन्हें नुकसान भी क्या है? आज लोगों की दृष्टि में आप हमें बहुत ऊँचे मानते हैं। पर सम्पर्क में नहीं आने के कारण दूसरे लोग उल्टी हमारी खिल्लियाँ उड़ाते हैं। हम यह चाहते हैं कि उनसे सम्पर्क करें और करते भी हैं। पर इनमें हमें समाज का सहयोग नहीं मिलता। इसका मतलब यह नहीं है कि आप हमें आर्थिक सहयोग दें। हम आप का निरवद्य सहयोग चाहते हैं और अगर

आप देंगे तो सहर्ष स्वीकार करने में हम कोई संकोच नहीं करेंगे।

भद्रबाहु का उद्धरण देकर कई लोग कहते हैं—उन्होंने कहा है कि—"वेस्स इत्थो धम्मो भवइ"। पर आप इसकी गहराई को सोचें। धर्म किसी जाति-विशेष के हाथ में नहीं रहता। वह तो उसी के हाथ में रहता है जो उसे अपनाता है और आज तो जातिवाद की शृंखला भी टूटती जा रही है।

दिल्ली में कुछ हरिजन मेरे पास आये और कहने लगे—आचार्यजी! कुछ लोग हमें बौद्ध बनाना चाहते हैं पर हम चाहते हैं कि हम जैन बनें। अतः क्या आप हमें जैन बना सकते हैं? मैंने कहा—भाइयो! मैं यह नहीं चाहता कि आप जैन बनने का प्रदर्शन कर कोई हुड़दंग पैदा कर दें। आप लोगों में जो समझदार हों, वे लोग पहले जैनधर्म का अध्ययन करें और फिर अगर आपको ये विचार अच्छे लगें तो इस से आपको मनाही करने वाला कौन है? उन्होंने कहा—आप कहते हैं, यह बात ठीक है। हम भी ऐसा प्रदर्शन नहीं चाहते। पर हम चाहते हैं कि जैन-समाज का सहयोग हमें मिलता रहे।

मैंने अपने जैन-समाज की ओर देखा। पर वहाँ इतनी तैयारी कहाँ हैं? हम काम करते हैं और काम करके जब समाज की ओर देखते हैं तो बड़ी निराशा होती है। मोर नाचता है और उसे बड़ा अच्छा लगता है। वह घूम-घूम कर नाचता है। अपने लावण्य को देखकर हर्ष विभोर हो उठता है। पर नाच लेने के बाद जब वह अपने पैरों की ओर देखता है, तो उसकी आंखों में आँसू निकल आते हैं। इतने सुन्दर शरीर के साथ इन कुरूप पैरों का क्या संयोग? पर क्या किया जाये, प्रकृति की विचित्रता है। इस प्रकार समस्याएँ एक नहीं अनेक हैं। जैन-समाज के लोग इन तथ्यों के बारे में ध्यानपूर्वक सोचें और अपना दायरा विशाल बनाएँ। जैन-तत्त्व किसी जाति-विशेष का ही नहीं है। यह जन-तत्त्व है। अतः इसे जनता में प्रसूत होने दीजिए। भगवान् महावीर ने अपने उपदेशकी भाषा संस्कृत नहीं रखकर प्राकृत रखी। क्यों? इसलिए कि संस्कृत बहुत थोड़े लोग जानते हैं और प्राकृत जन-भाषा है। अतः उस भाषा में उपदेश कर जनता को उपदेश करना है। मैं आज ही पढ़ रहा था: बुद्ध के एक शिष्य ने उनसे कहा—भन्ते! संस्कृत-भाषा देवभाषा है। अतः आप भी पाली भाषा छोड़कर संस्कृत भाषा में ही अपना उपदेश करें। बुद्ध ने कहा—नहीं आयुष्मान्! मैं यह नहीं चाहता कि मेरी भाषा कुछ एक पंडितों की भाषा रहे जो मठों में ही पढ़ी जाय। मैं चाहता हूँ कि मेरी भाषा को जनसाधारण भी समझें। अतः संस्कृत को

मैं नहीं अपना सकता।" इसी प्रकार भगवान् महावीर ने भी साधारण जनता तक पहुँचने के लिए प्राकृत भाषा को अपनाया था। उन्होंने समझा कि हमारा साहित्य उन भाषाओं में ही होना चाहिए। तो आप सोचिए इसके पीछे जनसाधारण तक पहुँचने की उनकी कितनी गहरी दृष्टि थी।

स्वयं आप तो साधारण जनता में पहुँचते ही कहां हैं? साधु भी कहीं जाते हैं तो उल्टी उनकी आलोचना करने को तैय्यार हो जाते हैं। हालाँकि वे आपकी आलोचना से घबराने वाले नहीं हैं। आपका विरोध देखकर वे सत्य सिद्धान्त को छोड़ देनेवाले नहीं हैं पर तो भी वे देखते हैं, चलो इस कार्य से व्यर्थ ही कोई असन्तुष्ट हो जाता है तो अपने और बहुत सारे कार्य हैं, हम उन्हें ही करें। पर फिर भी इस तथ्य को मैं आपके सामने बिना रखे नहीं रहूँगा कि जैन-धर्म व्यक्ति और जाति विशेष का धर्म नहीं है वह जन-धर्म है और उसे जैनधर्म होने दिया जाये यही मेरी तड़फ है। मैं तो इस तरफ प्रयत्न करने की बात सोच रहा हूँ और आप लोगों से भी मेरा यही कहना है कि आप हमें निरवद्य सहयोग दें। अगर आपने थोड़ा-सा ही प्रयास किया तो मैं समझता हूँ कि आप दो ही वर्षों में इसका फल देख सकेंगे और इसके साथ जो सबसे बड़ी आवश्यकता है वह यह कि आप अपने स्वयं का जीवन-निर्माण करें। यह तो मूल कार्य है ही अगर आपका जीवन ज्वलित होगा तो दूसरे लोग भी स्वयं इससे प्रेरणा पाएंगे और स्वयं ही जैन-धर्म की ओर आकृष्ट होंगे।

४७ : प्रतिष्ठा और दुर्बलताएँ

समाज के बढ़े हुए आर्थिक बोझको देखकर मन में आता है आखिर ये लोग आँखें मूंदे क्यों सो रहे हैं? पर किया क्या जाए? घर में चाहे कुछ भी हो या न हो पर शादी के अवसर पर तो वैसे ही पैसे उड़ाये जायेंगे। सब सोचते हैं, पर देखते हैं घर की 'पोजीशन' नहीं रहेगी। हमारे पिताजी ने हमारी शादी में इतना खर्च किया था तो हम अगर उससे कम खर्च करेंगे तो लोग हमें क्या कहेंगे? एक नहीं, मन ही मन सारे अपने घावों को सहलाते हैं पर आगे कोई नहीं आना चाहता। कोई देखता है—मैंने तो अपनी सारी लड़कियों की शादी कर दी है, एक लड़की की शादी शेष रही है, क्यों अपने किये कराये पर पानी फेरूँ? कोई देखता है—पाँच लड़कियों की शादी करनी है, पहली ही शादी में हाथ कड़ा रखूंगा तो फिर बाकी के इन गट्ठरों को ले कौन जायेगा? कोई देखता है—मुझे

तो एक ही लड़की है. इसकी शादी में भी यदि मैं जी खोलकर खर्च नहीं करूँगा तो फिर करूँगा ही कब ? अतः यही अवसर है जिसमें मुझे खुलकर खर्च करना चाहिए। और इसका असर दूसरे लोगों पर पड़ता है। वे सोचते हैं—उन्होंने इतना किया है तो हमें भी इतना तो करना ही चाहिए। कोई जान-बूझकर करता है तो कोई विवश हो खर्च करता है। उतनी आमदनी नहीं रही है। कोई गहने बेचकर खर्च करता है तो कोई कर्ज लेकर खर्च करता है। और फिर जीवन भर उसके नीचे पिसता है। उसे पूरा करने के लिए तरह-तरह के अनैतिक कार्य करता है और आर्त्त-रौद्र ध्यान की चक्की में पिसता है।

एक भाई से सुना था—मेरा छोटा भाई एक गाँव में छोटी-सी दुकान करता है। बिल्कुल सच्चाई से काम करता है। बड़ा सुखी जीवन है उसका। न तो सेल्सटैक्स की चोरी करता है, न इन्कमटैक्स की, और न गलत खाते रखता है। उसे न तो किसी ऑफिसर का डर है और न किसी नौकर का। ऑफिसर लोग आते हैं तो उसके खाते देखते ही नहीं। कहते हैं—यह ईमानदार है, इसके खाते क्या देखें? ग्राहक भी दूसरों की अपेक्षा ज्यादा आते हैं। देखते हैं वहाँ माल अच्छा मिलेगा। सारे गाँव भर में उसकी प्रतिष्ठा है। वह अपने आप में सन्तुष्ट है। मैंने उससे पूछ लिया—भाई! तुम भी वैसा करते हो या नहीं? उसने उत्तर दिया—"नहीं महाराज! मैं तो वैसा नहीं कर सकता। मैंने पूछा—क्यों? उसका उत्तर था"—"मेरी कमजोरी।"

मैं समझ नहीं पाता कि आखिर आप जानते हुए भी मेरी बात क्यों नहीं मानते? या तो यह बात है कि मैं अपनी बात को आपलोगों के गले नहीं उतार सकता या फिर आपलोग ही ऐसे हैं कि मेरी बात को अपने गले नहीं उतरने देते। कुछ भी हो यह स्थिति अच्छी नहीं है। क्या आप यह सोचते हैं कि ज्यादा कमाकर आप उसे अपने पास रख सकेंगे? पर अब तो सरकार खाया-पिया सब निकलवा लेनेवाली है। पहली बात है कि आप इन्कमटैक्स की चोरी करके रुपये यहाँ ले भी आयें, पर अब तो वह भी पचनेवाला नहीं हैं। अगर आप खर्च करते हैं तो सरकार आपसे पूछेगी यह रुपया आप कहाँ से लाए? दूसरी बात है अब आपके खर्च पर भी टैक्स लगेगा। पहले जमाने में लोग रुपये को खर्चकर यह तो मानते थे कि उन्होंने उसका सार खींचा है पर अब तो वह भी मुश्किल हो गई है। अतः सभी दृष्टियों से मुझे तो यही लगता है कि आप अपने जीवन को हल्का बनाएं।

दूसरे चाहे जितना भी खर्च क्यों न करते हों पर आपको तो अपनी

स्थिति का ध्यान रखना आवश्यक है। पर क्या किया जाये आज तो सारे अपने को इसी बात से तौलते हैं कि उन्होंने क्या किया? उसने यदि बारात में इतने आदमी बुलाये तो मेरे तो इतने से ज्यादा आने चाहिए? उसने यदि बारातियों की इतनी खातिरदारी की तो मुझे भी इतनी करनी चाहिए। उसने यदि बारातियों को तेल, साबुन, रसाल दिलाई तो मुझे तो उससे कुछ नया कार्य करना ही चाहिए। और कुछ नहीं तो उनकी बूट पॉलिश ही करवानी चाहिए। क्या बताया जाये, लोग एक पुरानी रूढ़ि को छोड़ना चाहते हैं पर पाँच नई रूढ़ियों को पकड़ लेते हैं। 'भूत मर कर पलीत हो गया'—वाली कहावत चरितार्थ हो रही है। एक खर्च घटता है तो दूसरे पाँच बढ़ जाते हैं। कैसे पार पाया जा सकता है इनमें?

युवक लोग भी, जो यह कहते हैं—नवयुग का भार हमारे कन्धों पर है, वृद्धों पर नहीं है। जहाँ रूढ़ियों के मिटाने का प्रश्न आयेगा वे बड़ी आतुरता के साथ उन्हें मिटाने की छटपटाहट दिखायेंगे। पर वे स्वयं कितनी रूढ़ियों को जन्म देते हैं यह भी उन्होंने कभी देखा या नहीं? मैं समझ नहीं पाया उनका यौवन और वह तेज आज कहाँ चला गया है। क्रान्ति की बातें बनाने में कुछ लोग आगे भी रहते हैं पर उनके अपने घर में काम पड़े तो वे भी सफलता पूर्वक पीछे खिसक जायेंगे। मैं समझता हूँ उनमें वह ओज भी आज नही रहा है जो नौजवानों में होना चाहिए। नहीं तो भला वे क्या नहीं कर सकते?

मुझे बड़ा दुःख होता है जब मैं यहाँ आनेवाले लोगों के चेहरों पर विषाद की रेखाएँ देखता हूँ। मैं जानता हूँ आप यहाँ सामायिक करने आते हैं पर सामायिक में आपके मन में क्या क्या कल्पनाएँ आती होंगी। आपको हजार तरह की चिन्तायें रहती हैं, यहाँ आने पर भी। कभी आप सोचते होंगे—हमारी दुकान में पीछे क्या हो गया होगा, हमारे घर पीछे से क्या हो गया होगा, हमारे समाज में पीछे क्या हो गया होगा। अतः जब तक आपका जीवन स्वच्छ नहीं हो जाता तब तक ये चिन्ताएँ आपका पीछा छोड़ने वाली नहीं हैं।

कुछ लोग मुझे यह कहते हैं—महाराज को इन बातों से क्या मतलब? वे अपनी धर्म-ध्यान की बातें करें। समाज के बारे में उन्हें बोलने की क्या जरूरत है? पर आप एक बार इन बातों को छोड़ दीजिये। अपनी बातें मैं स्वयं सोचूंगा। जो दूसरों की भूल निकालने जाता है और स्वयं पहले भन्वित नहीं हो जाता वह उल्टा उसके ऊपर आ जाता है। अतः अपनी बात को मैं स्वयं सोचूंगा पर आपसे मैं इतना ही कहना चाहता हूँ कि आप पहले अणुव्रती बन जाइए। फिर हम यह विचार भी करेंगे कि

यह सामाजिक काम है या धार्मिक? समाज और धर्म का आपस में क्या सम्बन्ध है?

आखिर हमारा काम लोगों को प्रेरणा देना है। अपना काम तो उन्हें स्वयं ही करना पड़ेगा। हमलोग कोई आपलोगों को उठानेवाले नहीं हैं। उठना तो आपको स्वयं पड़ेगा। हम तो केवल सहारा मात्र दे सकते हैं। हनुमानजी ने रामचन्द्रजी को लंका-दहन के बारे में कितना सुन्दर कहा :

प्रतापेन तु रामस्य, सीता निःश्वसितेन च।
पूर्वं दग्धा तु सा लंका, पश्चाद्वह्नि वशंगता॥

अर्थात् आपकी प्रतापरूपी अग्नि और सीताजी के निःश्वासों से वह (लंका) तो पहले ही जल रही थी, मैंने तो केवल जलती हुई लंका में कुछ ईंधन डाला था। इसी प्रकार अपनी कमजोरियों को तो आपको स्वयं ही मिटाना पड़ेगा। हम तो आपका थोड़ा बहुत सहयोग कर सकते हैं। वह सहयोग अगर आप लेना चाहें तो हम सहर्ष देने के लिए तैयार हैं।

बीदासर,
५ जून, '५७

४८ : धर्म और सम्यक्त्व

लोगों में नीति के प्रति निष्ठा पैदा हो। कोई अणुव्रती बने या नहीं यह दूसरी बात है पर कम से कम लोगों को इसकी जानकारी मिल जाये यह तो आवश्यक ही है। कुछ लोग कहते हैं—अणुव्रत क्या है जी? यह तो नेतागिरी करने का साधन है। किसी प्रकार देश में प्रसिद्धि हो जाये यही इसका उद्देश्य है। पर यह निरा भ्रम है। धर्म का नाम आज कितना बदनाम हो गया है यह किसी से छिपा नहीं है। आज ही मैं अखबार पढ़ रहा था। एक जगह मैंने पढ़ा—धर्म परिवर्तन के नाम पर हिन्दुओं और बौद्धों के बीच आपस में लड़ाई हो गई। मुझे यह बड़ा खेद हुआ। क्या धर्म वास्तव में दंगा-फसाद पैदा करने के लिए ही है? यदि इसीलिए धर्म है तो फिर और संसार में शान्ति कर ही कौन सकता है? कोई बौद्ध हो जाये इतने मात्र से दूसरे उन्हें कोसें, कोई मन्दिर को न माने इतने मात्र से दूसरे उसे गाली दें, क्या धर्म का स्वरूप यही है? पर आये दिन यह होता रहता है। इसीसे आज धर्म बदनाम हो गया है। अतः धर्म के नाम पर आज लोगों को आकृष्ट करना जरा मुश्किल है। इधर अनीति भी कोई कम जोर पर नहीं है। उसे मिटाना भी आवश्यक है। धर्म

का नाम लोगों को सुहाता नहीं। अतः हमने सोचा कोई ऐसी चीज सोची जाए जिससे लोग साधुओं के सम्पर्क में तो आ सकें। इस विचार ने ही अणुव्रत को जन्म दिया। इसके माध्यम से हम अनेक लोगों के सम्पर्क में आये और उन्हें नैतिकता की ओर आकृष्ट करने में सफल भी हुए।

कुछ लोग कहते हैं—इससे तो आप सम्यक्त्वियों और मिथ्यात्वियों को एक कर देते हैं। पर सोचने की बात है कि क्या पास बैठने मात्र से सम्यक्त्वी और मिथ्यात्वी एक हो जाते हैं। सम्यकत्वी के पास बैठने से ही अगर मिथ्यात्वी में सम्यकत्व चला आता है तो बहुत अच्छी बात है। इससे तो उसका भी कल्याण हो जायेगा। और मिथ्यात्वी के पास बैठने से ही उसका मिथ्यात्व आपमें आ जाता है तब यह तो बड़ी चिन्ता की बात है। मैं ऐसे कच्चे सम्यकत्व को सम्यकत्व ही नहीं मानता जो पास बैठने मात्र से चला जाता हो। वास्तव में पास बैठने मात्र से सम्यकत्व और मिथ्यात्व न तो आता है और न जाता है। यह तो अपनी वृत्तियों पर निर्भर है।

एक भाई ने पूछा—"यह सम्यकत्व क्या है और यह कैसे आता है, तथा कैसे जाता है?" मैंने उत्तर देते हुए कहा—"सम्यक्—ठीक देखने को ही सम्यकत्व कहते हैं। सम्यक् से मतलब है यथावस्थित। जो वस्तु जैसी है उसे वैसी ही समझना, जैसे धर्म-अधर्म आदि तत्त्वों को जिस रूप में वे हैं उस रूप में समझना यही सम्यक्-दृष्टि है। जो जड़ है उसे जड़ मानना, जो चेतन है उसे चेतन मानना यही सम्यकत्व का स्वरूप है। मोहनीय कर्म के उदय होने से मनुष्य को सम्यकत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती। यद्यपि है तो यह आत्मा का स्वभाव ही और इसीलिए वह आत्मा में ही रहता है पर कर्मोदय के कारण वह आवरित रहता है। जिस प्रकार मिट्टी में ही घड़े का आकार छिपा रहता है, काष्ठ में ही कपाट का अस्तित्व रहता है उसी प्रकार सम्यकत्व प्रत्येक आत्मा में रहता ही है। पर जबतक उसके आवरक कर्मों का नाश नहीं हो जाता तब तक वह मनुष्य को प्राप्त नहीं हो सकता।"

अब प्रश्न है वह आता कैसे है? शास्त्रों में उसके दो कारण बताये हैं—"**निसर्गादधिगमाद्वा**।" निसर्ग अर्थात् स्वभाव से और अभिगम अर्थात् प्रयत्न से। जिस प्रकार कुएँ पर प्रतिदिन घड़ा रखने से अपने आप वहाँ एक खड्डा बन जाता है या काठ पर दीमक इस प्रकार से लगी कि वहाँ अपने आप 'क' आदि अक्षरों का आकार बन जाता है उसे निसर्ग कहते हैं। इसी प्रकार बिना ही किसी तीव्र प्रयत्न के स्वयं ही घिसते-घिसते मोह-कर्म जब क्षीण पड़ जाता है तो सम्यकत्व की प्राप्ति हो जाती

है और उसे निसर्ग सम्यकत्व कहते हैं। अधिगम सम्यकत्व का मतलब है प्रश्नोत्तरों के द्वारा या तपस्या के द्वारा मोहकर्म के क्षय होने पर प्राप्त होने वाला सम्यकत्व। जिस प्रकार सम्यकत्व आने के दो प्रकार हैं उसी प्रकार आये हुये सम्यकत्व के जाने के भी दो कारण होते हैं। या तो वह स्वभावतः ही कर्मोदय से चला जाता है या फिर किसी दुर्जन की संगति से चला जा सकता है।

कौन सम्यकत्वी है और कौन नहीं, यह मैं नहीं जानता। यह तो निश्चयपूर्वक केवल ज्ञानी ही कह सकते हैं। पर व्यवहार में ऐसा लगता है कि जिसकी सद्गुरु, सद्धर्म और सदागम में रुचि हो वह सम्यग्-दृष्टि समझा जा सकता है। वैसे जैनी व तेरापंथी बनने मात्र से कोई सम्यकत्वी नहीं हो जाता और न मेरे पास आनेमात्र से ही कोई सम्यकत्वी बन जाता है। यदि मेरे पास आने से ही कोई सम्यकत्वी बन जाता, तब तो यह पट्ट जिसपर मैं बैठा हूँ यही मेरे सबसे पास में है। इसमें ही सम्यकत्व सबसे पहले आना चाहिए। पर सम्यकत्व तो अपने पौरुष से प्राप्त होता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने परिश्रम के द्वारा ही उसे प्राप्त कर सकता है। हम किसी को सम्यकत्वी या मिथ्यात्वी नहीं कर सकते। हम तो उसको प्रेरणा दे सकते हैं।

यदि कोई कहे कि अणुव्रतियों में सम्यकत्वी कितने हैं तो मेरे पास कोई इसका लेखा-जोखा नहीं है। अणुव्रती क्या—जैनी और तेरापंथी लोगों में कितने सम्यकत्वी हैं यह बताया जाना भी असम्भव है। बाहरी लक्षणों के द्वारा हम इसकी पहचान कर सकते हैं।

बीदासर,
१३ जून, '५६

४६ : भगवान् महावीर

जैन-धर्म एक सार्वजनिक धर्म है। इसके सिद्धान्त—अहिंसा और सत्य—जन-जन के अपनाने के लिए हैं। यह किसी की व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं है। लोग कह देते हैं—अमुक धर्म अमुक जातियों का है, परन्तु वास्तव में धर्म किसी जाति-विशेष का नहीं होता। भला आत्मोत्थान का पथ किसी पथिक विशेष के लिए कैसे हो सकता है? जैन जाति नहीं, धर्म है। जैन शब्द का प्रादुर्भाव 'जिन' अर्थात् राग-द्वेष को जीतने वाले शब्द से हुआ है। जहाँ अन्य धर्मावलम्बी ईश्वर का अवतार रूप में जन्म लेना मानते हैं, वहाँ

जैन-दर्शन इसका खंडन करता है। वह तो ईश्वर की स्तुति ही काफी बतलाता है, यदि शुद्ध भाव से की जाय। वह ईश्वर का नहीं, महान आत्मा का अवतरित होना ही मानता है, जो धर्म-प्रचार और अधर्म-विनाश करता है। यदि ईश्वर ही ऐसा करे तो फिर धर्म विनाश हो ही क्यों? महान् भगवान् महावीर देवायुष्य पूर्णकर इस भूमि पर अवतरित हुए जिसका वर्णन आचारांग के २४ वें अध्ययन में है।

भगवान् महावीर के पाँच कार्य एक ही नक्षत्र उत्तरा-फाल्गुनी में हुए—स्वर्ग से च्युत होकर गर्भागमन, गर्भ-संक्रमण, जन्म, दीक्षा और केवल ज्ञान की प्राप्ति। सिर्फ निर्वाण स्वाति नक्षत्र में हुआ।

भगवान् महावीर अवसर्पिणी के चौथे आरे (विभाग) के ७५ वर्ष ६॥ महीने बाकी रहे, तब आषाढ़ सुदी ६ को उत्तरा-फाल्गुनी नक्षत्र में दक्षिण ब्राह्मण कुण्डपुर ग्राम में ऋषभदेव की पत्नी देवनन्दा ब्राह्मणी के गर्भ में आये। उस समय उनमें तीन ज्ञान—मति, श्रुति और अवधि—विद्यमान थे। आसोज बदी १३ को बयासी रात्रियाँ पूरी हो जाने पर उत्तरा-फाल्गुनी नक्षत्र में तिरासवीं रात्रि को देवता द्वारा गर्भ-संक्रमण किया गया; अर्थात् देवानन्दा के गर्भ से बालक को उठाकर उत्तरी क्षत्रिय कुण्डपुर सिद्धार्थ की पत्नी त्रिशला की कुक्षि से अशुभ पुद्गलों को निकाल कर शुभ पुद्गलों का संक्रमण कर महावीर को वहाँ रखा गया। लोगों के मन में यह प्रश्न उठेगा कि यह क्यों किया गया? क्या ब्राह्मण एक नीची जाति है? वस्तुस्थिति ऐसी है कि जितने भी तीर्थंकर हुए, वे सब क्षत्रिय हुए। हो सकता है, इस परम्परा को चालू रखने के लिए देवताओं ने ऐसा किया हो या फिर भवितव्यता—अर्थात् ऐसा ही होना था, मानना पड़ेगा। या ब्राह्मणी का दुर्भाग्य और त्रिशला के सौभाग्य के सिवा और क्या कहा जाय।

जब वे त्रिशला के गर्भ में आये, माता को सिंह, हाथी, वृषभ, अग्नि, समुद्र, सूर्य, चन्द्र, कुम्भकलश, रत्नों की राशि, महेन्द्रध्वज आदि चौदह तरह के शुभ स्वप्न आये। जब कोई महान् आत्मा गर्भ में आती है, तभी ये स्वप्न या इनमें से कुछ स्वप्न आते हैं। ब्राह्मणी माता ने भी स्वप्न देखे, पर उसे ऐसा मालूम हो रहा था, कि स्वप्न जा रहे हैं।

त्रिशला की कुक्षि से ६ माह ७॥ दिन बाद चैत्र शुक्ला १३ को उत्तरा-फाल्गुन नक्षत्र में भगवान् का जन्म हुआ। इस समय भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिषी, वैमानिक आदि सभी देवों ने उद्योग किया, जो तीनों लोकों में फैला। इससे नरकवासियों (नैरियों) को भी कुछ देर के लिए शान्ति मिली। अमृत, सुगन्ध, सोना, चाँदी, फूल, रत्नादि सात प्रकार की वर्षा हुई। देवियों ने प्रसूति-कार्य किया। इनके जन्म के बाद परिवार में धन,

धान्य आदि की अभिवृद्धि हुई, अतः बालक का नाम वर्द्धमान रखा गया। फिर स्नानादि शुद्धि के बाद रिश्तेदारों को भोज और याचकों को भिक्षा दी गई। इस तरह भगवान् महावीर रत्न-जटित आँगन में पाँच दाइयों के द्वारा पाले गये। फिर ये बड़े हुए, ज्ञानी हुए और इनका विवाह भी हुआ।

आपके तीन नाम थे—वर्द्धमान, श्रमण, और महावीर। इनके पिता के भी तीन नाम थे—सिद्धार्थ, श्रेयांस और यशस्वी। माता के भी त्रिशला, विदेह-दिन्ना और प्रियकारिणी—ये तीन नाम थे। काका का नाम सुपार्श्व, बड़े भाई का नाम नन्दिवर्द्धन और बड़ी बहन का नाम सुदर्शना था। भगवान् की पत्नी का नाम यशोदा था, जो कौडिन्य गोत्र की थी। इनकी पुत्री के दो नाम अनवद्या और प्रियदर्शना थे। दौहित्री के भी दो नाम थे। शेषवती और यशोमती।

भगवान् के माता-पिता पार्श्वनाथ भगवान के साधुओं के श्रावक थे। उन्होंने श्रावकाचार का काफी वर्ष तक पालन किया, साधना की। अन्त में आहार-पानी का त्याग (संथारा अनशन) करके बारहवें देवलोक में गये। वहाँ से वे महाविदेह-क्षेत्र में अवतरित होकर निर्वाण प्राप्त करेंगे।

भगवान् महावीर की प्रतिज्ञा थी कि माता-पिता के जीवन-काल में दीक्षा न लूंगा। प्रतिज्ञा पूरी होने पर अर्थात् माता-पिता की मृत्यु हो जाने के बाद वे संयम लेने के लिए तैयार हुए। यहाँ लोग कहेंगे—माता-पिता की मृत्यु होने पर ही संयम लेंगे, यह कैसी प्रतिज्ञा? जब भगवान गर्भ में थे, तब सोचा कि मैं यह जो हलन-चलन किया करता हूँ, इससे माता को दुःख होता होगा और क्रिया बन्द कर दी। इससे माता के मन में सन्देह हुआ कि गर्भ गल गया है या और कुछ हो गया है। यह सुनते ही जहाँ चारों ओर खुशी छाई हुई थी उदासी फैल गई। रंगरलियाँ भंग हो गई। भगवान् यह सब ताड़ गये। किया कुछ और ही विचार कर और हुआ कुछ और ही। अतः हलन-चलन फिर शुरू कर दिया। फिर क्या था, चारों ओर वही खुशी का वातावरण प्राप्त होने लगा। भगवान् ने विचारा—जब इतने से ही माता-पिता बेचैन हो गये, तब संयम लेने से तो और ज्यादा दुःख होगा। अतः आपने प्रतिज्ञा कर ली कि जब तक वे जीवित रहेंगे मैं संयम नहीं लूंगा। उनकी मृत्यु के बाद जब २८ वर्ष की अवस्था में आपने दीक्षा लेने का विचार किया, तब बड़े भाई (नन्दिवर्द्धन) ने कहा—मेरा क्या हाल होगा? एक साथ माता-पिता का वियोग, फिर तुम भी अलग हो रहे हो। ज्येष्ठ भाई के अनुरोध से आपको दो वर्ष फिर रुकना पड़ा। इस तरह आप ३० वर्ष तक गृहवास में रहे, फिर संयम लिया। संयम से एक वर्ष पूर्व आप दान बाँटने लगे। वे दिन के पहले प्रहर तक एक करोड़

आठ लाख सौनैये (सोने के सिक्के) दान देते थे। यह धन (गड़ा निधान, जिसका कोई मालिक नहीं) देवता ला-लाकर देते थे। देवता यह भी कहते—'भगवान जागो' दुनिया दुःखी है, उसको ज्ञान दो, उसका मार्ग-दर्शन करो, सारा संसार संतप्त है, उसे आपके सिवा शांति देनेवाले और है ही कौन ?'

भगवान् ने मार्गशीर्ष वदी १० के सुव्रत नामक दिन व विजय मुहूर्त में उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में दीक्षा ली। नाना प्रकार के अभिग्रह किये और तपस्याएँ कीं। आपने देवों, दानवों और मानवों द्वारा दिये गये कष्टों को समभावपूर्वक सहन किया। दीक्षा लेते ही भगवान् को मनःपर्यव ज्ञान उत्पन्न हो गया था, जिसके द्वारा वे ढाई द्वीप तथा दो समुद्र में रहे हुए संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के मनोगत भावों को जानने लगे। इस प्रकार भगवान के पास चार ज्ञान हो गये।

भगवान् ने एक शिष्य भी बनाया, जिसका नाम गोशालक था। वह बड़ा अविनीत निकला। उसने लब्धि से दो साधुओं को जला डाला। भगवान् का शरीर भी ऊपर से जला दिया, जिसका वर्णन भगवती सूत्र के पन्द्रहवें शतक में आया है।

भगवान् की कष्ट-सहिष्णुता को देखकर इन्द्र ने सभा में आपकी प्रशंसा की, इस पर संगम नामक एक देव इनकी परीक्षा करने आया। उसने छः महीनों में भगवान को वीस मरणांत कष्ट दिये, तो भी आपने समभावपूर्वक उन्हें सहन किया। देव हारकर चला गया।

इस प्रकार साढ़े बारह वर्ष करीब कष्ट सहन करते-करते और तपस्या करते-करते आपने मोहनीय आदि चार कर्मों का वैशाख सुदी १० को उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र में क्षय कर डाला और केवल ज्ञानी हुए। देवता महोत्सव करने आये। इन्द्रभूति आदि पण्डितों ने इसे इन्द्रजाल समझा और वे भगवान को जीतने के लिए आये, परन्तु भगवान ने बिना पूछे ही इनकी नास्तिकता को बताया और आस्तिक विचार उनके दिमाग में बैठाये। इसपर वे भगवान के शिष्य हो गये।

इस प्रकार भगवान् जैन-धर्म का प्रचार करते रहे। अन्त में स्वाति नक्षत्र में भगवान का निर्वाण हुआ। आप के दो पट्टधरों (सुधर्मा स्वामी, जम्बू स्वामी) तक को केवल ज्ञान रहा। भगवान् के निर्वाण चले जाने के बीस वर्ष बाद सुधर्मा स्वामी और चौसठ वर्ष बाद जम्बू स्वामी ने निर्वाणपद प्राप्त किया। इसके बाद छः पाट तक श्रुतकेवली रहे, जिनमें अन्तिम श्रुतकेवली भी भद्रबाहु स्वामी थे। श्री स्थूलीभद्र स्वामी, कालिकाचार्य

(दस पूर्वधर) आगमों को लिपिबद्ध करनेवाले थे। बाद में क्रमशः देवर्धिगणी क्षमाश्रमण तक एक पूर्व का ज्ञान रहा।

बीदासर,
२८ जून, '५७

५० : साधु की श्रेष्ठता

पानी बहता भला, साधु रमता भला। पानी की उपयुक्तता तथा साधु की श्रेष्ठता तभी सुस्थिर रह सकती है जबकि वे दोनों अबाध गति से एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचते रहें। साधुओं के इस प्रकार विचरण में स्व-कल्याण के साथ-साथ परोपकार की भावना भी अन्तर्निहित है।

सन्तों के आगमन से लोगों को एक अनिर्वचनीय आनन्द की अनुभूति होने लगती है पर उनके लिए किसी भी प्रकार की तैयारी अपेक्षित नहीं है। संत तो अपने ढंग के निराले ही मेहमान होते हैं जिनका एकमात्र ध्येय लोगों को सन्मार्ग-दर्शन है।

क्रोध का शमन संतों की सहनशीलता की पराकाष्ठा है। मनुष्य के जीवन में ऐसे प्रसंग उपस्थित हो जाते हैं जबकि उसके हृदय में अनायास ही क्रोध की उत्पत्ति हो जाती है। पर ऐसे प्रसंग-जनित क्रोध को संत सहज भाव से टाल जाते हैं। सन्त तुकारामजी एक गृहस्थ रूप में सन्त थे जो कि गन्ने बाँट देने के कारण अपनी पत्नी के कोप-भाजन बने। अवशिष्ट गन्ने से अपनी पत्नी द्वारा पीटे जाने पर भी सन्त तुकाराम ने उसे विनोद का रूप दिया और प्रहार के फलस्वरूप टूटे हुए एक गन्ने के दो टुकड़ों को आपस में बाँट लेने को कहा।

सन्तों का आगमन लोगों के लिए हितकर अवश्य है परन्तु उनके लिए विशिष्ट तैयारियों का उपक्रम आत्म-प्रवंचना व अहितकर है। अगर अपने लिए की जाने वाली तैयारियाँ हम पसन्द करें तो फिर मठाधीशों और जैन-साधुओं में अन्तर ही क्या रह जायेगा?

बीदासर,
२८ जून, '५७

५१ : निर्भयता का स्थान

एक जमाना वह था जबकि बाजार व्यक्ति की सुरक्षा एवं अभय का स्थान समझा जाता था। गली कूँचों में चलता हुआ अप्रत्याशित आक्रमण

से भयभीत मानव बाजार में पहुँचकर अपने आप को सुरक्षित या सुख की साँस लिया करता था। पर आजकल तो बाजार भय का अड्डा बन गया है कि कहीं दुकानदार कान न कतर लें। बाजार जो निर्भयता का स्थान था, पुनः वैसा ही बने।

सुजानगढ़,
६, जुलाई, '५१

५२ : अणुव्रत की आधारशिला

आधार भेद से व्रत भी अणुव्रत और महाव्रत इन दो भागों में विभक्त हो जाता है। महाव्रत यानी पूर्णव्रत, अणुव्रत यानी छोटे-छोटे व्रत। यह कोई व्रतों का विभाग नहीं है पर ग्रहण करनेवालों की क्षमता के आधार पर व्रत भी महा और अणु इन रूपों में आ जाते हैं। जो महाव्रत का पालन नहीं कर सकता वह अणुव्रतों को ग्रहण करता है। जैसे कोई एक व्यक्ति पूरी रोटी खा लेता है, दूसरा एक साथ पूरी रोटी नहीं खा सकता तो वह टुकड़े-टुकड़े करके कई बार में खाता है। ठीक इसी प्रकार जो महाव्रत का पालन नहीं कर सकता वह अणुव्रतों का पालन करता है। इसीलिये अणुव्रतों को कोई भी ग्रहण कर सकता है। एक किसान, स्वर्णकार, नेता, वैद्य, वकील, कार्यकर्त्ता, भाई, बहन सब कोई अपना-अपना धन्धा करते हुए भी अणुव्रती बन सकते हैं। अणुव्रत का लक्ष्य है—कोई भी चाहे जैसा करता है पर उसमें विकृति नहीं आनी चाहिए। इस प्रकार अणुव्रत हर एक को अपने-अपने क्षेत्र में रहकर जीवन को माँजने की बात बताता है।

अणुव्रत की आधारशिला है—'संयम'। इसलिये हम संयम के आधार पर ही जन-जीवन का परिवर्तन करना चाहते हैं। कई लोग परिस्थितियों को बदलकर जीवन को बदलने में विश्वास करते हैं। पर बाहरी रूप से यह कुछ सही लगते हुए भी अन्ततः पूर्ण सही नहीं है। क्योंकि परिस्थिति के परिवर्तित हो जाने पर जीवन का परिवर्तन हो ही जाये यह एकान्त संभव नहीं है। यद्यपि अत्यन्त विपन्न अवस्था में परिस्थितियाँ मनुष्य को अपने कर्त्तव्य-पथ से विचलित कर सकती हैं। 'बुभुक्षितः किं न करोति पापम्'। पर कुछ ऐसे उदाहरण भी सामने आते हैं जहाँ अति संकट और अभाव में रहकर भी मनुष्य अपनी मानवता की रक्षा करते हैं, और शायद आज तो नैतिक लोगों में उनकी संख्या ज्यादा होगी जो अभाव में पलते हैं। वे देश जो साधन सम्पन्न हैं और जहाँ अभाव शायद बहुत कम है वहाँ भी

अनैतिकता न हो ऐसी बात तो नहीं है। इसलिये अनीति को केवल अभावोत्पन्न मान लेना ही उचित नहीं लगता। फिर भी अभाव को मिटाने के लिए कुछ लोग प्रयत्न करते ही हैं। हमारा काम है—परिस्थिति के रहते हुए भी मनुष्य को संयम की ओर प्रेरित करना। साधना का पहला सूत्र ही यही है कि मनुष्य परिस्थिति के रहते हुए भी अपनी मानवता की रक्षा करे। यद्यपि यह साधना कठिन है, पर है उत्कृष्ट कोटि की। यह कोई बड़ी बात नहीं है कि धन प्राप्त हो जाने पर मनुष्य अनीति करे। पर बड़ी बात तो यह है—'**तच्चित्रं यदि निर्धनोपि मनुजः पापम् न कुर्यात् क्वचित्**'' अर्थात् निर्धन होकर भी मनुष्य पाप कर्म नहीं करे। विकार के साधन रहने पर भी जो मनुष्य विकारग्रस्त नहीं वह महान् है। शास्त्रों में कहा है—

> **वत्थ गन्ध मलंकारं इत्थिम्रो सयणाणिय।**
> **अच्छंदा जे न भुंजन्ति न से चाइत्ति वुच्चइ॥**
> **जेयकन्ते पिए भोए लद्धे विपिट्ठी कुव्वइ।**
> **साहीणे चयइ भोए से हु चाइत्ति वुच्चइ॥**

साधन सामग्री के प्राप्त नहीं होने पर जो उनका उपभोग नहीं करता है वह त्यागी नहीं है। त्यागी तो वह है जो उनके प्राप्त होने पर भी उन्हें ठुकरा देता है। इस दृष्टि से अणुव्रत का लक्ष्य है—परिस्थिति के रहते हुए भी उसका सामना किया जाये।

एक और बात जिसे मैं स्पष्ट कर देना चाहता हूँ वह यह है कि अब तक भी कुछ लोग अणुव्रत को साम्प्रदायिक मानते हैं। पर अब जबकि सारे राष्ट्र में इसे मान्यता मिल चुकी है, इसे तेरापंथ का नवीनीकरण मानना बिलकुल गलत है। अणुव्रत किसी भी धर्म-विशेष का आन्दोलन नहीं है, बल्कि सब धर्मों का समन्वित रूप है। दूसरी दृष्टि से नैतिक पक्ष पर विशेष बल देने से अणुव्रत आन्दोलन धार्मिक की अपेक्षा नैतिक आन्दोलन है। इसीलिये अपने जीवन को नैतिक बना कर एक मनुष्य किसी भी धर्म-विशेष को मानता है तो अणुव्रत उसका हाथ नहीं पकड़ता। एक अणुव्रती यदि वह अपने जीवन को उन्नत बना लेता है फिर चाहे वह मूर्ति-पूजा करता है, चाहे वह मस्जिद में जाता है या और भी किसी धर्म-विशेष की उपासना करता है तो इससे अणुव्रत में बाधा नहीं आती। यद्यपि अणुव्रत को अपना कर मनुष्य धार्मिक बनता है पर वह किसी धर्म-विशेष की मान्यता को प्रधानता देता है या नहीं यह प्रश्न कोई विशेष महत्व नहीं रखता। एक अणुव्रती तेरापंथी हो ही यह आवश्यक नहीं है। इस दृष्टि से अणुव्रत धार्मिक की अपेक्षा नैतिक ज्यादा है।

अणुव्रत-आन्दोलन व्रत का आन्दोलन है। जो अणुव्रती बनता है उसे कुछ व्रत ग्रहण करने पड़ते हैं। पर यह ध्यान रखने की बात है कि केवल व्रत ही सब कुछ नहीं है। व्रत तो जीवन की एक दिशामात्र है। इससे व्यक्ति को आगे बढ़ने का रास्ता मिल जाता है, पर वास्तव में तो यह भावना मूलक है। व्रत का भंग नहीं हो, यह ध्यान रखना आवश्यक है पर इसके साथ-साथ व्यवहार को देखना भी अति आवश्यक है। एक काम करने में व्रत का भंग तो नहीं होता, पर व्यवहार अच्छा नहीं लगता तो अणुव्रती को उससे बचना चाहिए। इस दृष्टि से अणुव्रत नियम से आगे भी बहुत कुछ है और वह है जीवन को सरल बनाना।

एक प्रश्न है—अणुव्रती को कौन-सा व्यापार करना चाहिए? पर इस सम्बन्ध में मैं क्या कहूँ? जब कि मैं स्वयं व्यापार नहीं करता तब इसके बारे में बताऊँ भी क्या? व्यक्ति जो काम करता है उसे उस काम के बारे में बताने का अधिकार हो सकता है। जो व्यक्ति स्वयं कुआँ न बनाये और दूसरों को कुआँ बनाने का उपदेश दे यह कैसा न्याय? अतः जो व्यापार नहीं करता तो उसे व्यापार का उपदेश देने का क्या अधिकार? और वास्तव में अणुव्रत की तो यही दृष्टि है कि कोई व्यक्ति चाहे जो भी काम करे, पर उसमें अनैतिकता नहीं बरते। यह आवश्यक नहीं कि अणुव्रती अपने-अपने क्षेत्रों से उखड़ कर एक ही व्यापार के पीछे लग जायें। इससे अणुव्रत एक क्षेत्र-विशेष में बँध जाता है।

अणुव्रत तो एक खुली चीज है। हर एक व्यक्ति के लिए चाहे वह किसी भी क्षेत्र में हो, अनैतिकता न करे यह आवश्यक है। जो अनैतिक व्यापार हैं वे तो स्वयं पहले ही छूट जाते हैं। अतः उनमें नैतिकता का प्रश्न ही क्या? पर इसके बाद जो व्यापार शेष रह जाते हैं उनमें अनैतिकता नहीं हो यह अणुव्रत का लक्ष्य है। इस दृष्टि से अणुव्रत का क्षेत्र बहुत आवश्यक हो जाता है।

कई लोगों का ख्याल है—अणुव्रती तो वे ही बन सकते हैं जो व्यापार से निवृत्त हैं। जो व्यापार करते हैं उन्हें अनेक प्रकार के अनैतिक काम करने पड़ते हैं। इसलिये वे व्यक्ति जो रिटायर्ड हो चुके हैं, अणुव्रती बन सकते हैं। पर यह विचार सही नहीं है। कल ही एक भाई सुना रहा था : उसने व्यापार में एक बात अपनायी—किसी भी चीज के दो मूल्य नहीं बताना। बच्चा, बूढ़ा, युवक, महिला, ग्रामीण कोई भी खरीदनेवाला आये तो उसे एक ही मूल्य बताना। सच्चाई और ईमानदारीपूर्वक उसे माल देना। तो इसका असर इतना हुआ कि उसकी दुकान सारे गाँव में अच्छी चलने लगी। दूसरे दुकानदार भी इस अनुभव से प्रभावित हुए और

उन्होंने भी अपनी दुकान पर यही विधि अपना ली। इस प्रकार नैतिक व्यापार के द्वारा उसकी अपनी ही दुकान अच्छी नहीं चलने लगी बल्कि सारे गाँव में एक प्रकार का नैतिक वायु-मंडल बन गया। वह भाई कोई रिटायर्ड भी नहीं है। अच्छी तरह से उसका व्यापार भी चलता है। तब यह कैसे कहा जा सकता है कि अणुव्रत तो निवृत्त आदमियों के लिए ही हो सकता है? लोग केवल डरते हैं—अणुव्रत का वे कैसे पालन कर सकेंगे। पर आप मेरा कहना मानें, अणुव्रत डरनेवाली चीज नहीं है। आप उसका अनुभव कर देखें, इसमे आपको एक प्रकार की अनुपम शान्ति मिलेगी।

सुजानगढ़,
७ जुलाई, '५७

५३ : जीवन की सही रेखा

इस अल्प मानव जीवन में परिवर्तन की बड़ी आवश्यकता है। विचार-शक्ति की दुर्बलता के कारण मनुष्य अपने आप को बदल नहीं पा रहा है। अत: सर्व प्रथम विचारों की सुदृढ़ता वांछनीय है। जब एक छोटी सी घटना भी जीवन में आमूल परिवर्तन ला देती है तो इस परिवर्तनशील युग में आप क्यों पिछड़ रहे हैं? अच्छा होगा संसार बदलने से पहले ही आप सँभल जायें अन्यथा युग के थपेड़ों से तो आप को बदलना ही पड़ेगा।

मैं नहीं चाहता कि आप लोग भिक्षुक बन जायें पर कम से कम अपने जीवन में अनैतिकता व भ्रष्टाचार को तो न पनपने दें। आप केवल एक मूलमंत्र अपना लें, बेईमानदारी से "बे" को दूर कर दें। फिर देखिये आप का जीवन कैसा सर्वाङ्गमय सुन्दर हो जाता है। व्यापारियों द्वारा किया जानेवाला शोषण व लूट अमानवीय है। अगर आप अपने भाई को ही ठगना चाहते हैं तो मैं कहूँगा कि साथ ही साथ आप अपनी आत्मा एवं ईश्वर को भी ठगने से वंचित नहीं रखते।

सही जीवन निर्माण के लिए आप अपने आप को अणुव्रत के ढाँचे में बदल डालें। व्यक्ति २ का जीवन किस प्रकार ऊँचा उठे, इसीलिए हमें प्रयत्न करना है और हमारे आगमन का एकमात्र उद्देश्य यही है। मैं आपको केवल मानव बनाना चाहता हूँ, देवता नहीं। आज जब मानवता ही नहीं तो फिर देवता बनने की बात ही क्या?

एक प्रश्न है—'जीवन की परिभाषा क्या है?' पर जीवन जब स्वयं

सामने है तो उसका प्रश्न कैसा ? फिर भी प्रश्न होता है क्योंकि इसके कारण हैं। कारण यह है कि भिन्न-भिन्न लोग उसकी भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ करते हैं। हमारी और आपकी परिभाषा में भी अन्तर होगा क्योंकि सन्तों और साधारण जनों की दृष्टि में जरूर कुछ अन्तर होगा ही। इसीलिए गीता में कहा गया है :

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥

यानी साधारण लोगों के लिए जो रात है उस समय सन्त पुरुष जागते हैं—धर्म-चिन्तन करते हैं। जब दूसरे मनुष्य जागते हैं उस समय सन्त लोग नींद लेते हैं। यह एक रूपक है जिसका व्याप्ति क्षेत्र सारा लोक है। इसके अनुसार सन्तों की और साधारण लोगों की प्रवृत्ति में बड़ा अन्तर पड़ जाता है। साधारण मनुष्य जहाँ भोजन में आनन्द मानता है वहाँ सन्त लोग उपवास में आनन्द मानते हैं। साधारण मनुष्य बगीचे में जाकर फूलों की मधुर-मधुर सुगन्ध प्राप्त कर सुख का अनुभव करता है वहाँ सन्त लोग एकान्त में सुख का अनुभव करते हैं। कितना अन्तर है यह ? यद्यपि सन्त लोग भी सुख का अनुभव करते हैं पर उनके सुख के कारण भिन्न हैं। एक संस्कृत श्लोक में कहा है :

मही रम्या शय्या विपुलमुपधानं भुजलता, ।
वितानं चाकाशं व्यजनमनुकूलोयमनिलः ॥
स्फुरद्दीपश्चन्द्रो विरति-वनिता संगमुदितः, ।
सुखं शान्तः शेते मुनिरतनुभूतिर्नृप इव ॥

इसमें एक मुनि और एक राजा के सुख की बराबर तुलना की गई है। राजा यदि सोता है तो उसके लिये शय्या की आवश्यकता होती है, मुनि भी शय्या पर सोता है किन्तु स्वच्छ भूमितल ही उसकी शय्या है। राजा अपने सिरहाने तकिया रखता है तो मुनि का अपना हाथ ही तकिया है, उसे वह अपने सिर के नीचे दे लेता है। राजा की शय्या के ऊपर वितान होता है तो मुनि के लिए सारा आकाश ही वितान है। राजा को दीपक की आवश्यकता होती है तो मुनि के लिए सुधाश्रावी चन्द्रमा ही दीपक है। राजा को गर्मी में पंखे की आवश्यकता होती है, मुनि के लिए अनुकूल पवन ही पंखा है। राजा अपनी पत्नी को साथ लेकर सोता है तो मुनि भी अपनी विरक्ति रूपी पत्नी को कहीं और जगह छोड़कर नहीं सोता अर्थात् सोते समय भी उसमें विरक्ति रहती है। तब फिर राजा और मुनि के सुख में अन्तर क्या रहा ? अन्तर केवल इतना ही है कि राजा जिन साधनों में सुख मानता है मुनि उनसे भिन्न साधनों में सुख मानता है। इसी प्रकार साधारण लोग जहाँ भोग में

सुख मानते हैं वहाँ मुनि त्याग में शान्ति का अनुभव करता है। यह है साधारण लोगों के और मुनि के दृष्टिकोण में अन्तर। अतएव हमारी और दूसरे लोगों के जीवन की परिभाषा में भी फर्क पड़ जाता है दूसरे लोग खाने-पीने और ऐश-आराम में ही जीवन की सार्थकता मान लेते हैं वहाँ हम कहते हैं—'संयम ही जीवन है।'

पर यदि जीवन की यह परिभाषा सही है तो वह केवल हमारे लिए ही क्यों? दूसरों को भी उस में सुख की अनुभूति होनी चाहिए नहीं तो फिर वह सही परिभाषा नहीं है। इसका उत्तर यही है कि मिश्री मीठी होती है और सब के लिए मीठी होती है पर उस मनुष्य को जिसे साँप काट खाता है, मिश्री भी खारी लगने लगेगी। इसी प्रकार जब तक मनुष्य में वासना का जहर रहेगा तब तक उसे संयम का सुख अनुभव नहीं होगा। जब वह जहर बाहर निकल जायेगा तब उसे भी संयम में सुख का अनुभव हुए बिना नहीं रहेगा। संयम का मतलब केवल सन्यास ही नहीं है। क्योंकि मैं जानता हूँ कि यहाँ अगर मैं सन्यास की चर्चा करूँगा तो वह बहुत कम लोगों के काम की बात होगी। बिना मूल्य के एक शब्द कहना भी गलत है। एक कवि ने कितना सुन्दर कहा है:

वचन रतन मुख कोट है, होठ कपाट बनाय।
समझ-समझ के हरफ काढ़िये, मत परवश पड़ जाय॥

अतः मुझे आप से वही बात कहनी है जो आपके लिए उपयोगी बन सके। सब से पहली बात है—आप खाने में संयम रखें। वास्तव में संयम ही जीवन की सही रेखा बन सकती है। यदि कोई मनुष्य खाने में संयम न रखे और खाता ही खाता चला जाये तो उसकी क्या दशा होगी? स्पष्ट है उसका जीवन खतरे में पड़ जायेगा। अतः यह समझना नितान्त आवश्यक है कि संयम के बिना जीवन भी नहीं चल सकता। तब फिर मनुष्य उसकी ओर ध्यान क्यों नहीं देता? भोजन करने बैठे तब उसे यह ध्यान रहना चाहिए कि ४ ग्रास कम लिये जायें। यद्यपि यह कठिन है। उपवास हो सकता है पर अनुकूल वस्तु सामने आ जाने पर ४ ग्रास कम ले लिए जायें यह बड़ी मुश्किल बात है। इसीलिए शास्त्रों में इसे तपस्या कहा गया है और यह तो नगद धर्म है जो कोई इसका आचरण करेगा तत्काल उसे स्वयं ही एक अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव होगा। थोड़े से खाने के असंवरण के कारण कई बार दिन भर आलस्य आता रहता है। अतः इस ओर थोड़ा-सा ध्यान रखा जाये तो इससे भी बचा जा सकता है। वाणी का संयम भी आवश्यक है। वाणी के थोड़े से अविवेक के कारण कितने दंगे हो जाते हैं, इसका साक्षी इतिहास है। अतः एक-एक शब्द को तौल कर

बोलना चाहिए। इसी प्रकार चलने में भी संयम रखना आवश्यक है बिना देखे चलने पर दूसरे जीव तो मरते ही हैं पर कभी-कभी स्वयं भी ऐसी ठोकर खाता है कि जिसे जीवन भर भूलना मुश्किल हो जाता है। इसीलिए कहा गया है—'**दृष्टिपूतं न्यसेत् मार्गम्।**' सुनने में भी संयम की मात्रा रहनी चाहिए। यद्यपि '**शब्द गुण माकाशं**' के अनुसार आकाश में शब्द तो व्याप्त रहते ही हैं और वे कानों में भी पड़ते हैं। पर वह सब कुछ याद करने का नहीं होता। जो भूलने का होता है उसे तो भुला ही देना चाहिए। प्रश्न है—संयम को स्वीकार कौन कर सकता है? वही, जो उसे स्वीकार करना चाहता है। यह अवश्य है कि संयम उसी मनुष्य में ठहर सकता है जिसका जीवन पवित्र हो। '**धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ**' यह शास्त्र-वाक्य इसी ओर तो संकेत करता है। जिसका जीवन जितना पवित्र और ऊंचा होगा उसमें सुख की मात्रा भी उतनी ही अधिक होगी। फलितार्थ में संयम का विकास ही सुख का विकास है। मैं आप को यह कैसे समझाऊँ कि विलास में सुख नहीं है। यह कोई पदार्थ होता तो उसे मैं आप के सामने रख देता पर यह तो अनुभव है और अनुभव बिना आचरण की प्राप्ति नहीं हो सकती। अगर आप वास्तव में ही सुख चाहते हैं तो मेरी बात मानिये और संयम का रास्ता स्वीकार करिये। फिर आप निश्चित ही भूल जायेंगे कि विलास में भी कभी सुख होता है।

संयम शब्द का अर्थ तो मैं क्या करूँ? यदि किसी को सूर्य को बताने की आवश्यकता होती है तो संयम को बताने की आवश्यकता होगी। वह तो स्वयं ही इतना प्रकट है कि उसे बताने की कोई आवश्यकता नहीं। पर फिर भी शब्दों में उसे आप जानना चाहेंगे तो नियम, प्रतिज्ञा, नियंत्रण निग्रह, अपने पर काबू रखना यही इसका मतलब है।

५४ : धर्म चर्चा का विषय नहीं

अहिंसा नाम आते ही भगवान् महावीर और जैन-धर्म का नाम भी सहसा याद आ जाता है, क्योंकि उन्होंने अहिंसा को जितनी गति से प्रस्तुत किया उतनी गति से शायद औरों ने नहीं किया। पर आज तो ऐसा लगता है जैसे जैनों ने इसे भुला ही दिया हो। अतः आज यह आवश्यकता है कि वे लोग अहिंसा को पुनः जागृत करने में अपना सहयोग दें। जिस जैन-धर्म ने सारे संसार को शान्ति का उपदेश दिया उसके ही अनुयायी आज आपस में लड़ें यह उन्हें शोभा नहीं देता। स्वयं जैनों ने ही आज जैन-धर्म को कितना संकुचित बना दिया है यह देखकर बड़ा आश्चर्य होता है। जैन-

धर्म का आज अर्थ लिया जाता है बनियों का धर्म। इसीलिए हम जहाँ भी जाते हैं पहले हमें यह स्पष्टीकरण करना पड़ता है कि जैन-धर्म बनियों का धर्म नहीं है, वह तो सभी का है और उसीका है जो उसका पालन करता है या करना चाहता है। अन्य लोगों की यह भ्रान्ति उसके अनुयायियों की बड़ी भारी भूल का परिणाम है। जैन-धर्म तब तक जैन-धर्म नहीं बन सकता जबतक आप उसे अपना मान अपने आप से ही चिपकाये रहेंगे। हो सकता है इस प्रकार वह आप का व्यक्तिगत कल्याण करे पर वह समूची मानवता का कल्याण नहीं कर सकता। अतः वस्तुतः ही अगर जैन-धर्म में मानवता के कल्याण की ताकत है तो हमें सभी के लिए उसके दरवाजे खोल देना चाहिए।

अणुव्रत-आन्दोलन के माध्यम से हमने यही काम शुरू किया है। इसमे जैनों की स्वयं की शुद्धि तो होगी ही पर दूसरे लोग भी जैन-तत्त्व से बहुत बड़ा कल्याण कर सकेंगे। कुछ लोगों ने मुझसे कहा—महाराज! आपने तो जैन-धर्म के इस घेरे को तोड़ कर बहुत बड़ा काम किया है। पर मैं समझता हूँ मैंने इसमें कौन सा बड़ा काम किया है? अभी तक तो हमने अपनी भूल को सुधारी है। क्या धर्म में भी कभी सम्प्रदाय के भेद होते हैं? वह तो पतित पावन है। जो भी कोई उसमें अवगाहन करना चाहे करे पर उसपर अपना अधिकार कैसा?

आज तो साधुओं का भी एक समाज बना है, और वास्तव में ही आज उनके लिए एक स्वर्णिम अवसर है कि वे समाज को एक नई प्रेरणा दें। अगर आज उन्होंने इस दिशा में काम किया तो समाज उनका युग-युग तक ऋणी रहेगा। साधु केवल अपने घमंड में बैठे रहें यह आज चलने वाला नहीं है। आज तो उन्हें अपनी अकर्मण्यता को छोड़कर जरूर कुछ सक्रियता अपनानी पड़ेगी। साधुओं की यही बड़ी साधना है कि वे अपने कल्याण के साथ-साथ दूसरों के जीवन को ऊँचा उठाने की कोशिश करें। वह साधु कोई ऊँचा साधु नहीं है जो केवल लाखों का नेतृत्व करे और मठों में बैठा रहे। सच्चा नेतृत्व तो वह है जो अपने अनुयायियों के सुधार के लिए कुछ प्रयत्न करे। केवल समाज बनाने मात्र से ही कुछ हो जानेवाला नहीं है यदि उन्होंने अपने मठों का मोह नहीं छोड़ा।

आज एक विपर्यय भी हो रहा है। लोग समझने लगे हैं कि जैन लोग सारे ही लखपती हैं—धनकुबेर हैं। पर दरअसल बात यह नहीं है। उनमें ज्यादा लोग मध्यम वर्ग के हैं। कुछ लोगों के पास पैसा है भी तो उनको जैन-धर्म की इतनी चिन्ता ही नहीं है जितनी अपनी पूंजी को सुरक्षित रखने की है। वैसे धनिक भी सारे गलत ही हैं ऐसी बात नहीं है। पर

जो लोग अनैतिक तरीकों से अर्जित कर केवल संग्रह ही करना चाहते हैं उन्होंने जैन-तत्त्व को समझा है या नहीं यह सोचने की बात है। केवल नाम से ही तो कोई जैन नहीं हो जाता। मुझे बड़ा दुःख होता है जब कुछ स्वार्थी लोग इस पवित्र नाम का भी दुरुपयोग करते नहीं सकुचाते। कई जगह दुकानों पर लिखा होता है—'जैन-स्टोर'। उन्हें देखकर मेरे मन में आता है कि क्या वहाँ पर प्रामाणिकता बरती जाती है? क्या वहाँ पर अनैतिक तरीके नहीं अपनाए जाते? यदि वहाँ भी ऐसा ही होता है तो क्या सचमुच ही यह 'जैन' शब्द का गलत उपयोग नहीं है? कई महाशय अपने नाम के पीछे 'जैन' की पूंछ लगाते हैं पर जब उनके आचरण देखे जाते हैं तो संकोच महसूस होता है। इसी प्रकार जूतों और बीड़ियों पर भी जैन की छाप लगी देख कर लगता है क्या यह इस नाम का दुरुपयोग नहीं है?

सोही उज्जुयभूयस्स धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ।

अर्थात्—शुद्ध आत्मा धर्म कर सकती है या धर्म करने पर ही आत्मा शुद्ध हो सकती है, यह तो विवाद का विषय है, ठीक वैसा ही जैसा भाग्य और पुरुषार्थ का। भाग्य होने से ही पुरुषार्थ हो सकता है या पुरुषार्थ से भाग्य का निर्माण होता है? हम इस विवाद में अभी नहीं जायें पर इतना तो तय है कि जैसा हम करेंगे वैसा हमें भोगना पड़ेगा और अवश्य भोगना पड़ेगा। इसीलिये कहा गया है : '**यत्कृतं तदऽवश्यं भोक्तव्यम्।**'

उसी प्रकार धर्म भी शुद्ध आत्मा में ही टिक सकता है। फूटे घड़े में पानी कभी नहीं टिक सकता। उसी प्रकार धर्म के लिए भी पात्रता की आवश्यकता है। विद्या के लिए उपनिषद् में कहा गया है :

विद्या वै ब्राह्मण मा जगाम गोपाय मां शेवधिष्टेऽहमस्मि असूयकाय।
अण्टजवे अयताय न मा ब्रूयाः वीर्यवती तथा स्याम्॥

अर्थात—विद्या ब्राह्मण से कहती है—ब्राह्मण मैं तुम्हारी निधि हूँ। तुम मेरी उन तीन प्रकार के व्यक्तियों से रक्षा करो जिससे मैं वीर्यवती बनूं। पहले तुम मुझे किसी ईर्ष्यालु व्यक्ति को मत देना। दूसरे किसी कुटिल को मत देना और तीसरे मुझे आलसी मनुष्य को मत देना। तो जिस प्रकार विद्या भी बिना ऋजु निष्कपट हृदय के नहीं ठहर सकती तो धर्म भी बिना सरल बने कैसे आत्म-स्थित होगा? बचपन में मनुष्य को विद्या ज्यादा आती है, बड़े होने के बाद नहीं आती। इसका क्या कारण है? यही कि बचपन बड़ा निष्कपट होता है। इसलिये उसमें ज्ञान ठहरता है। अतः अगर आपको धर्म-तत्त्व की प्राप्ति करनी है तो पहले अपने आपको निष्कपट तथा सरल बनाना होगा। उसी प्रकार जिस प्रकार बच्चे का हृदय होता है।

उसमें छिपाने की प्रवृत्ति नहीं होती। इसी प्रकार धार्मिक को भी अपने आपको छिपाने की आवश्यकता नही है।

प्रश्न है—वह धर्म है क्या? क्या वही धर्म जिसने इतिहास के पृष्ठ खून से रंगे? क्या वही धर्म जिसने भाई-भाई के बीच दरारें बनाईं? आज भी बहुत से लोग कह देते हैं—मेरे धर्म को बुरा कह दे तो बदमाश की आँख निकाल लूं। पर भाई! यह कहकर तुमने स्वयं ही अपने धर्म को बुरा नही बता दिया है? संसार में लड़ाई की तीन बातें बताई गई हैं। एक कवि ने कहा है :—

तीन बात है बैर की, जर, जोरू, जमीन।
सरूपदास तिहुंपे अधिक मन की बात महीन।।

यानी संसार में धन, स्त्री और जमीन के कारण लड़ाइयां होती हैं। पर इन तीनों से ही लड़ाई होने का एक बहुत बड़ा कारण है—वह है धर्म। इसकी बात बड़ी सूक्ष्म है। पर यह सब धर्म का स्वरूप नहीं है। धर्म तो मनुष्य को मिलना सिखाता है। जो मनुष्य को आपस में लड़ाये वह वास्तव में धर्म ही नहीं है।

आज धर्म के प्रश्न को लेकर अनेक अखाड़े बन गए हैं। पर यह सच्चे धर्म का स्वरूप नहीं है। एक बार सर्वाजित नाम के एक व्यक्ति के सिर पर सबको पराजित करने की धुन सवार हुई। वह सबके पास जाता और चर्चा करके उन्हें हरा देता। इस प्रकार हराते-हराते उसने अपनी दृष्टि से किसी को बाकी नही छोड़ा। अब वह अपनी माँ के पास आया और कहने लगा—माँ! मैंने सबको चर्चा में हरा दिया है, अतः तुम मुझे अब सर्वजित कहो। माँ ने कहा—नहीं, अभी तुमने सबको नहीं हराया है। कबीर अभी तक बाकी है। जब तक तुम कबीर को नहीं हरा देते मैं तुम्हें सर्वजित नहीं कहूँगी। वह कबीर का पता पूछ कर उनके पास आया और बोला—मैं तुमसे चर्चा करना चाहता हूँ। कबीर ने कहा—मुझ से क्यों चर्चा करते हो भाई? उसने कहा—जब तक मैं तुमको हरा नहीं देता तब तक मेरी माँ मुझे सर्वाजित नहीं कहती। तो इसमें चर्चा की क्या बात है भाई! कबीर बोले—लो मैं तुमसे बिना चर्चा किये ही हार जाता हूँ। उसने कहा—नहीं, ऐसा नहीं होगा। तब कबीर ने कहा—अच्छा, तो तुम ऐसा करो, एक पत्र लिख लो "कबीर हारा सर्वाजित जीता" मुझे स्वीकार है—उसने कहा—यह ठीक है और अपने हाथों पर एक पत्र लिख लिया—कबीर हारा, सर्वाजित जीता। उस पत्र को लेकर वह उछलता-कूदता माता के पास आया और उसे वह पत्र दिखाया। माता ने पत्र पढ़ते ही कहा—यह क्या? इसमें तो यह लिखा है—कबीर जीता,

सर्वाजित हारा। उसने भी गौर से पत्र को पढ़ा। फिर दूसरी बार और पढ़ा पर उसमें तो यही लिखा हुआ था। बड़ा हैरान हुआ और वापिस मुड़कर कबीर के पास आया। कहने लगा--आपने मुझे यह क्या लिखाया? कबीर ने कहा—भाई मैं क्या करूँ? तुमने स्वयं अपने हाथ से लिखा था इसमें मेरा क्या दोष? अच्छा ऐसा करो, यह गलत है तो दूसरी बार लिख लो—कबीर हारा और सर्वाजित जीता। उसने वैसा ही किया और उसी प्रकार उछलता हुआ माता के पास आया। माता ने फिर उस पत्र को पढ़ा। पर उसमें भी तो वही लिखा था—कबीर जीता, सर्वाजित हारा। वह फिर कबीर के पास गया। कबीर ने तीसरी बार भी यही कहा। वह पत्र लेकर पुन: माता के पास आया पर उसमें तो फिर वही लिखा हुआ मिला। अब तो उसके आश्चर्य का पार नहीं रहा। माता ने अवसर देखकर कहा—पुत्र तुम भी कितने मूर्ख हो? क्या ज्ञान से कभी किसी को हराया जा सकता है? सोचो और अब तो आंखें खोलो। मनुष्य किसी को हराना चाहे, यह तो पाप का मूल है। जाओ और कबीर के चरणों में पड़ जाओ। उसकी आँख खुली और वह कबीर के चरणों पर गिर पड़ा। तो इस उदाहरण से मैं आपको यह बताना चाहता हूँ कि धर्म चर्चा का विषय नहीं, वह आचरण का विषय है और उसका आचरण वही मनुष्य कर सकता है जिसका हृदय सरल हो, निष्कपट हो।

५५ : क्रान्ति के स्वर

आज का सारा संसार भयाक्रान्त है। इसी भय के कारण भीषण शस्त्रास्त्रों का निर्माण हो रहा है। कहा जाता है कि हम तो अपने बचाव के लिए ही इनका निर्माण करते हैं और वास्तव में ही अमरीका रूस से डरता है और रूस अमरीका से। दोनों आपस में एक-दूसरे से अपने बचाव के लिए डर रहे हैं। सचमुच आज की स्थिति को देखकर वह कहानी याद आ जाती है, जिसे मैं बहुधा कहा करता हूँ—एक शेरनी ने अपने नवजात शिशु से कहा—बेटा! तू वीर्यवान् है, इसलिये जंगल का राजा है, तुझमें असीम पौरुष है। अतः तू कहीं भी निर्भय विहार कर सकता है। मुझे तेरी ओर से जरा भी चिन्ता नहीं है, पर पुत्र एक बात का ध्यान रखना। काले सिरवाले मनुष्य से हमेशा डरते रहना। वह बड़ा चालाक होता है। माता के इस शिक्षा वाक्य को शेरनी के बच्चे ने बड़ी संवेदना से ग्रहण किया। दिन पर दिन बीतते गये। अब वह काफी

बड़ा हो चला था। माता के सहवास की उसे आवश्यकता न थी। अतः जहाँ चाहता स्वतंत्रतापूर्वक विहार करता। एक दिन घूमते-घूमते सहसा उसकी नजर एक काले सिरवाले प्राणी पर पड़ी। उसे समझने देर न लगी कि यह वही प्राणी है, जिसे मनुष्य कहकर माता ने मुझे हमेशा बचने को कहा था। वह कुछ भयभीत हुआ और थोड़ा-थोड़ा पीछे खिसकने लगा। इधर वह मनुष्य जो लकड़ी काटने के लिए जंगल में गया था, शेर को देखते ही सहम गया। सोचने लगा—दौड़कर तो कहाँ जाऊँगा। शेर छोड़नेवाला है नहीं. अतः भयभीत-सा वहीं खड़ा रहा। पर वह देखता है—शेर पीछे की ओर खिसक रहा है। उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। सोचने लगा—बड़ी विचित्र बात है. असीम शौर्यशाली शेर पीछे की ओर खिसक रहा है, जरूर इसमें कोई रहस्य है. उसमें कुछ साहस आ गया और उसने भागते हुए शेर को पुकारा। शेर उसका शब्द सुन कर और भी आतंकित हुआ और तेज गति से दौड़ने लगा। मनुष्य को और आश्चर्य हुआ। उसने इस रहस्य को जानना चाहा। पर मन ही मन वह इससे डरता भी था। तो भी उसने साहस कर शेर को एक बार फिर पुकारा। शेर ने पीछे मुड़ कर देखा : वह स्वयं तो डर ही रहा है। पर मनुष्य भी भय से अपने में सिमट सा रहा है। उसने खड़े होकर सोचा—आखिर ऐसी क्या बात है? वह इतना क्या बलशाली है? वह स्वयं भी तो डर रहा है और वह मुझे पुकार भी तो रहा है। आखिर माता के वाक्यों की परीक्षा भी तो करनी चाहिए। और वह सोच-विचार कर मनुष्य की ओर आने लगा। मनुष्य ने देखा—सचमुच शेर तो आ रहा है। वह डरा और सोचा—मुझे अपना बन्दोबस्त कर लेना चाहिए। अतः वह पास के एक पेड़ पर चढ़ गया। शेर नीचे आकर खड़ा रह गया। दोनों आपस में बातें करने लगे। मनुष्य ने कहा—भाई! तुम इतने बलवान हो, फिर भी डरते क्यों हो? शेर ने उत्तर दिया—मेरी माता ने मुझे एक बार कहा था कि काले सिरवाले मनुष्य से हमेशा डरते रहना। वह बड़ा चालाक होता है। अतः तुम्हारे डर से मैं तो भाग रहा था। पर मेरा तुम से एक प्रश्न है—तुम्हारे अन्दर ऐसी क्या ताकत है, जो मेरी माँ ने मुझे तुम से डरने के लिए कहा था? मनुष्य ने कहा—हाँ, भाई मुझ में ताकत तो बहुत है, पर वह यों दिखाई नहीं जा सकती। शेर ने पूछा—तो वह कैसे दिखाई जा सकती है? मैं उसे देखना चाहता हूँ क्या तुम मुझे अपनी ताकत दिखाओगे? मनुष्य ने कहा—इसमें मुझे थोड़े अवकाश की आवश्यकता है। क्या तुम मुझे इसके लिए कुछ समय देने के लिए तैयार हो? शेर ने 'हाँ' कह दिया। मनुष्य

नीचे उतरा और उसने वृक्ष को बीचोबीच चीर डाला। फिर उसने एक छोटी लकड़ी को तीखी कर कहा—तुम अपना सिर इस चीरी हुई लकड़ी के बीच में डाल दो। शेर ने वैसा ही किया। मनुष्य ने तत्क्षण उस तीखी लकड़ी से वृक्ष के इस टुकड़े से उस टुकड़े तक सिंह के शेर सहित बींध डाला। बस अब क्या था। मनुष्य ने कहा—बस यही है मेरी ताकत। अब तुम चाहे जितना जोर लगाओ, मुक्त नहीं हो सकोगे। शेर को अब भान हुआ। उसके सिर में भयंकर वेदना होने लगी। वह बड़ी करुण चीत्कार करने लगा। पर अब उसकी कौन सुनने वाला था। मनुष्य तो बस उसे वैसा ही छोड़ भाग चला। सोचने लगा—अगर मैं इसे बन्धन मुक्त कर दूंगा तो यह मुझे खाये बिना नहीं रहेगा। यही स्थिति आज रूस और अमेरिका की हो रही है। दोनों एक दूसरे से डर कर दूर भाग रहे हैं। कभी कोई एक दूसरे का आह्वान कर एक जगह इकट्ठे होते हैं, तो वहाँ किसी न किसी प्रकार दूसरे को फँसाने की कोशिश करेंगे। कभी कोई फँस जाता है तो शोरगुल भी मचाता है।

५६ : धर्म का क्षेत्र

अध्यात्मवादी की प्रत्येक प्रवृत्ति के मूल मे अध्यात्म-भावना रहेगी। भूतवादी प्रत्येक बात को भौतिक दृष्टिकोण से देखेगा। यद्यपि प्रवृत्ति दोनों एक ही करते हैं पर लक्ष्य में बहुत बड़ा अन्तर आ जाता है। चन्द्रमा दोनों पखवारों में बराबर प्रकाश देता है पर लोग एक पखवारे को कृष्ण कहते हैं और दूसरे को शुक्ल। लोग जिस पखवारे में उसका प्रकाश देख पाते हैं उनके लिए वह शुक्ल पखवारा है। इसी प्रकार प्रवृत्ति दोनों की बराबर है पर उनके देखने का दृष्टिकोण भिन्न है। यद्यपि कोई नास्तिक यह नहीं कहेगा कि झूठ बोलना चाहिए। बन्धुता को कोई गलत नहीं बताएगा। पर उसकी साधना, उसका दृष्टिकोण रहेगा—यह जीवन सुखी कैसे रहे? अध्यात्मवादी सत्य और बन्धुता का आचरण केवल इस जन्म के लिए नहीं करता, वह उसे अपनी साधना मानकर जीवन शुद्धि के लिए करेगा। उपवास दोनों के लिए लाभप्रद है। पर उसमें अध्यात्मवादी का दृष्टिकोण रहेगा साधना का और भूतवादी का दृष्टिकोण रहेगा स्वास्थ्य लाभ का। लक्ष्य में अन्तर आने से क्रियाफल में भी अन्तर आ जाता है।

बहुत से लोगों की आवाज है—धर्म केवल परलोक के लिए ही है। तो क्यों इसका मतलब यह है कि वह इस जीवन को बिगाड़नेवाला है?

मेरी दृष्टि में वह धर्म ही नहीं है जो अगले जन्म को सुधारने के लिए इस जीवन को संक्लिष्ट बनाये—बिगाड़े। वस्तुत: धर्म की कसौटी अगला जीवन नहीं यही जीवन है। जो मनुष्य धर्म का आचरण करेगा उसी क्षण उसे नवजागरण का अनुभव होगा। उसके मन में एक अभिनव पुलक अबाध गति से बहता रहेगा। नैतिक मनुष्य का रहन-सहन और उसका चेहरा स्वयं उसकी साधना की हामी भरेगा। अत: यह आवश्यक है कि धर्म पहले इस जीवन को सुधारे।

धर्म का क्षेत्र व्यक्ति-सुधार का क्षेत्र है। व्यक्तियों का समूह समाज और समाज की एकता राष्ट्र है। अत: इस दृष्टि से वह समाज सुधार और राष्ट्र-सुधार का भी साधन बन सकता है। धर्म का काम सफाई का काम है। जिस किसी क्षेत्र में बुराई हो उसकी सफाई करना धर्म का काम है। जो धर्म ऐसा नहीं करता है वह चित्र का धर्म है। जिस प्रकार चित्र का मनुष्य जरा भी हलचल नहीं कर सकता उसी प्रकार वह धर्म भी पंगु है जो बुराइयों का प्रतिकार नहीं कर सकता। धर्म मन्दिरों और पुस्तकों में नहीं रहता। वह तो आचरण की वस्तु है—जीवन-शुद्धि का साधन है। अत: वह जब व्यक्ति-व्यक्ति से सम्बद्ध है तो फिर समाज से भी अलग कैसे रह सकेगा? उससे विमुख होकर कोई भी व्यक्ति और समाज सुधर नहीं सकता।

परलोक की बात आप एक दफा छोड़ दीजिए। आपको यह जीवन भी सुखी बनाना है या नहीं? यदि जीवन में सच्चाई नहीं तो उसमें कोई सुख भी नहीं हो सकता। जो ईमानदार नहीं होगा उसके मन में हमेशा डर रहेगा कि मुझे कोई देख न ले। जो व्यक्ति 'ब्लैकमार्केट' करता है उसके मन में हमेशा धड़का रहेगा कि उसकी दुकान पर 'इन्क्वायरी' नहीं आ जाए। दूसरों की दुकान पर तलाशी होती देख कर उसका दिल दहल जायेगा कि कहीं मेरी दुकान में भी तलाशी नहीं आ जाए। इस प्रकार मन ही मन एक अव्यक्त वेदना का अनुभव करता रहेगा।

पर जाने क्यों लोगों को इस बात पर विश्वास नहीं होता। जब उन्हें यह कहा जाता है कि व्यापार में अप्रमाणिकता मत बरतो तो वे कहेंगे आजकल सच्चाई से व्यापार चलता कहाँ है? पग-पग पर झूठ बोलना पड़ता है, चोरी करनी पड़ती है। पर यह गलत धारणा है। अनेक लोगों से बातें कर मैं इस निर्णय पर पहुँचा हूँ कि अप्रमाणिक तरीकों से व्यापार करना अनैतिक ही नहीं व्यक्ति के स्वयं के लिए भी घातक है।

लोग कहते हैं सच्चाई से काम नहीं चलता। पर इतने दिनों तक उन्होंने झूठ से व्यापार करके भी देख लिया। मैं उनसे पूछना चाहूँगा क्या

इतना करने पर भी उन्होंने कोई बहुत बड़ा सुख पाया ? यदि नहीं तो फिर एक बार मेरा कहना भी मानें। प्रयोग के रूप में भी कुछ दिन अप्रमाणिकता नहीं बरतें। संभव है पहले-पहल उन्हें कुछ दिक्कतें भी सहनी पड़ें पर इसका अन्तिम फल सदा सुन्दर रहेगा ऐसा मेरा विश्वास है।

५७ : भोजन और स्वादवृत्ति

मनुष्य को भूख इतनी नहीं सताती जितनी लोलुपता—असंयम सताता है। शरीर की भूख मिटानी तो बड़ी सरल बात है। थोड़ा खाया कि मिट गयी। पर इस अतृप्ति—आकांक्षा को कैसे मिटाया जाये? एक कवि ने कहा है :

तन की तृष्णा तनिक है तीन पाव के सेर।
मन की तृष्णा अमित है गिले मेर का मेर॥

शरीर के लिए ज्यादा से ज्यादा आवश्यक है तो तीन पाव या सेर होगा। पर यह मन की तृष्णा इतनी बड़ी होती है कि मनुष्य इससे कभी तृप्त होता ही नही। ज्यादा खाने से मनुष्य को मृत्यु का डर रहता है। मनुष्य को अगर मरने का डर नहीं होता तो शायद वह भोजन पर से उठता ही नहीं, दिन भर खाता ही रहता। पर यह तो प्रकृति ने स्वयं ही मनुष्य पर अंकुश लगा दिया है। इसीलिए शास्त्रों में कहा है : **'इच्छाहु आगास समा अणंतिया'** अर्थात् मनुष्य की इच्छाएँ आकाश के समान अनन्त हैं। ज्यों-ज्यों प्राप्ति होती जाती है, त्यों-त्यों वे और उद्दीप्त होती जाती हैं। अग्नि में इंधन डालने से वह क्या कभी शान्त हुई है? इसी प्रकार एक आकांक्षा की पूर्ति होते ही दूसरी और शुरू हो जाती है। और जिसको ज्यादा तृप्तियाँ होने लगती हैं उसकी अतृप्तियाँ भी उसी वेग से बढ़ने लगती हैं। मारवाड़ की एक कहावत है—**बड़ी रात का तड़का ही बड़ा।** यानी रातें जितनी बड़ी होती हैं उनका उषाकाल भी उतना ही बड़ा हो जायेगा। बड़ी रातों में प्रकाश हो जाने के कितनी देर बाद सूर्य निकलता है। पर छोटी रातों में पौ फटते ही थोड़ी देर में सूर्य निकल आयेगा। उसी प्रकार जिन्हें थोड़ी आकांक्षाएँ हैं वे बड़ी जल्दी पूरी हो जाती हैं और उससे कुछ सन्तोष भी मिल जाता है। पर जिनकी आवश्यकताएँ बढ़ जाती हैं वे बढ़ती ही जाती हैं और यहाँ तक कि वे पूरी होनी भी बड़ी मुश्किल हैं। यद्यपि अप्राप्ति पर आकांक्षाएँ न बढ़ें यह एकान्त नहीं हैं पर प्रायः बढ़ी हुई आकांक्षाएँ ही उन्हें और बढ़ाती हैं। इसीलिए शास्त्रों में कहा है : **'जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढइ'**।

हाँ, तो शरीर की आवश्यकता तो बहुत थोड़ी होती है। पर स्वाद वृत्ति बड़ी बुरी चीज होती है। मनुष्य जैसी अपनी वृत्ति बना लेता है वह वैसी ही बन जाती है। नमक को प्राय भोजन में लोग आवश्यक मानते हैं। मैं नही कह सकता स्वास्थ्य के लिए यह कितना आवश्यक है और कितना नहीं। पर जीभ को जरूर इसका स्वाद आता ही है। कई महाशय तो ऐसे होते है कि कभी भूल से ही नमक कम या ज्यादा पड़ जाता है तो वे एकदम गुस्सा हो जाते हैं; मान लिया जाये कभी नमक कम या अधिक पड़ जाये तो उसे शान्तिपूर्वक समझाया भी जा सकता है। थोड़ी सी बात के लिए आपे से बाहर हो जाना सचमुच मानवता का नग्न नृत्य है।

लोग स्वाद के लिए शाक में मिर्च-मसाले डालते हैं पर मै समझ नहीं पाता कि इस स्वाद से वे क्या पाते हैं। जब सात्त्विक आहार से भी काम चल सकता है तो फिर इतने तले, भुंजे और मिर्च-मसालों की क्या आवश्यकता है। इसमे तो उल्टा स्वास्थ्य भी ठीक नहीं रहता। हम तो साधु ठहरे। देश-देश में जाते हैं, वहाँ जैसा भोजन मिलता है उसी पर अपना गुजारा करना पड़ता है क्योंकि हमारे लिए कोई अलग भोजन बनता नहीं। जैसा लोग खाते हैं, वैसा हमें मिलता है। अतः कभी-कभी हमको बड़ी दिक्कत हो जाती है। उधर गुजरात में हम गये। वहाँ शाक बड़े सात्त्विक बनते हैं। अतः हमें भी वहाँ काफी अनुकूलता रहती और हमारे कई साधु तो इससे बड़ा सुख मानने लगे। पर हमें एक जगह तो रहना नहीं है। इधर महाराष्ट्र, मध्यभारत और राजस्थान में आये तो फिर वही मिर्च-मसाले शुरू हो गये। इससे कई साधुओं के तो मुँह में छाले हो गये। तब लगा—लोग क्यों व्यर्थ ही स्वाद के वश होकर तामसिक वृत्तियों को बढ़ानेवाला भोजन करते हैं।

इस स्वादवृत्ति-अतृप्ति पर नियन्त्रण रखने के लिए जैन परम्परा में श्रावक के सातवें व्रत-उपभोग परिभोग व्रत का बड़ा महत्व है। उपभोग यानी एक दफा काम आनेवाली चीजें, जैसे—भोजन-पानी। परिभोग यानी बार-बार काम आनेवाली चीजें जैसे—वस्त्र-आभूषण। श्रावक उपभोग-परिभोग की सीमा करे यही इसका उद्देश्य है। वैसे संसार में अनेक द्रव्य हैं पर उन्हें संक्षेप की दृष्टि से २६ में बाँध दिया है। बहुत से जैन लोग तो अपने खाने-पीने पहनने-ओढ़ने तथा और काम आनेवाली चीजों की दैनिक मर्यादा भी करते हैं। यह अच्छा है और इसका अभ्यास प्रत्येक मनुष्य को होना ही चाहिए। अणुव्रतों में शील और चर्या खाने में एक नियम है—प्रतिदिन एक दिन में ३१ द्रव्यों से अधिक द्रव्य नहीं खाऊँगा।

इसका भी यही दृष्टिकोण है कि इसमे मनुष्य की वृत्तियों पर अंकुश रहता रहे। ३१ द्रव्यों की सीमा तो सर्वाधिक दृष्टिकोण से रखी है। पर इसमें भी जितनी कमी रखी जाये यह अच्छा ही है।

५८ : जैन धर्म और तत्त्ववाद

किसी भी धर्म की मूल भित्ति उसका तत्त्ववाद होता है। उसके बिना कोई भी दर्शन स्थिर नहीं हो पाता। जो दर्शन तत्त्वों पर टिका हुआ होता है, उसके अनुयायी चाहे कम हों, पर मूल्य की दृष्टि से वह अधिक वजनदार संगत होता है। इस दृष्टि से जैनधर्म के तत्त्ववाद की हमें मीमांसा करनी है। जैनधर्म किसी व्यक्ति या जातिपरक नहीं है। यह गुण और क्रियापरक है। जैसा कि इसके नाम से ही प्रतिध्वनित होता है। अन्य धर्म जैसे—बौद्ध धर्म और वैदिक धर्म दोनों ही ज्ञानपरक धर्म हैं। **"बुध्यते अनेन इति बुद्ध"** बुद्ध यानी ज्ञानी, उसका धर्म बौद्ध धर्म। इसी प्रकार **"वेद्यते अनेन इति वेद"**—वेद यानी ज्ञान। वेदों को मान्य करनेवाला वैदिक धर्म। पर जैनधर्म आचार-अनुशीलन-प्रधान धर्म है। जैन की व्युत्पत्ति है—**"जयतीति जिन"** यानी जो जीतता है उसे जिन कहते हैं। जैनधर्म यानी विजेताओं का धर्म—जैनधर्म। 'जीतना' यह शब्द युद्ध-फलित सा लगता है। जहाँ विजय होती है, वहाँ युद्ध, संग्राम अवश्य होगा ही, उसके बिना विजय हो नहीं सकती और युद्ध तो एक बहुत बड़ी क्रिया है। उसमें पौरुष अत्यन्त अपेक्षित रहता है। अतः जैन-दर्शन केवल ज्ञानपरक नहीं होकर प्रमुखतया आचरण-परक है। जैन-दर्शन की यह मान्यता है कि ज्ञान होने के लिए तो किसी को पूर्व का ज्ञान भी हो सकता है, पर यदि चरित्र नहीं है तो इतने ज्ञान के होते हुए भी वह मिथ्या-दृष्टि है। जब तक दृष्टि मिथ्या रहती है, तब तक वह मुक्त नहीं हो सकता। इसी प्रकार जैनधर्म जातिपरक भी नहीं है। किसी भी जाति का मनुष्य जैन कहलाने का अधिकारी हो सकता है। बशर्ते कि वह अपनी श्रद्धा और आचरणों को शुद्ध बनाये। बिना आचरण को शुद्ध बनाये कोई भी जैन कहलाने का अधिकारी नहीं हो सकता। इससे यह और भी स्पष्ट हो गया कि जैनधर्म वृत्ति-शोधन पर अधिक बल देता है।

पर सबके सब लोग आत्म-विजेता बन जायें, यह कम सम्भव है। ऐसी अवस्था में जो पूर्ण विजयी हो चुके हैं, उनके पथ का अनुसरण करने वाला भी जैन हो सकता है। इससे सब कोई पूर्ण विजेता हों ही, यह आवश्यक

नहीं रह जाता। पर वे लोग जो पूर्ण विजेताओं के बताये हुए पथ का आंशिक अनुसरण करते हैं, वे भी विजेता ही हो जाते हैं। इससे जैनधर्म में 'अ' से लेकर 'ह' तक और 'एक' से लेकर 'सौ' तक को स्थान है। यानी जिस व्यक्ति की जितनी शक्ति है, वह उतना आचरण करे। पर उसकी दृष्टि सम्यक् होनी चाहिए। उसके सामने यह लक्ष्य रहना चाहिए कि उसे पूर्ण विजेता बनना है।

जैन के लिए पहले जो युद्ध का जिक्र आया, उसका अर्थ यहाँ कोई घमासान नहीं है। घमासान तो बाह्य युद्ध का परिणाम है। पर यह तो अन्तर-युद्ध है, अपने आपसे किया जानेवाला युद्ध है। इसीलिए शास्त्रों में कहा है—**अप्पणा चेव जुज्झाइ, कि ते जुज्झेण बज्झओ। अप्पणा मेव मप्पाणं जइत्ता सुहं मेहए** **'आत्मना युध्यस्व'**—यदि तुम्हें युद्ध ही करना है तो अपने आप से करो। इन बाह्य युद्धों से क्या होने वाला है? हिरण आदि कमजोर प्राणियों को मारकर क्या अपनी शूर-वीरता दिखाते हो? यदि तुम्हें किसी को मारना ही है तो अपने मन को मारो। सारे संसार को जीत लिया और अपनी आत्मा को नहीं जीता तो यह कमजोरी है, नादानी है। अतः वास्तव में ही विजेता बनना है तो अपनी आत्मा पर नियन्त्रण करो।

प्रश्न हो सकता है—आत्मा से युद्ध करो। तो क्या इसका मतलब यह है कि आत्मा को खत्म कर डालो। आत्मा के गुण और क्रिया आखिर आत्मा ही तो हैं। चेतन के गुण और क्रिया चेतन, जड़ के गुण और क्रिया जड़। उसी प्रकार आत्मा के गुण और क्रिया आत्मा ही है। अतः अपनी दुष्प्रवृत्तियों के साथ लड़ना अपनी आत्मा के साथ ही लड़ना है। जिनका भी यही अर्थ है—**'जयति आत्मन इति जिनः'** या **'जयति रागद्वेष इति जिनः'**—जो अपनी आत्मा को जीते या राग-द्वेष को जीते, उनको जो आराध्य मानते हैं, अनुसरण करते हैं, वे भी जैन ही हैं।

पर उनका अनुसरण करने का मतलब यह नहीं है कि उनकी समाधि पर पुष्प-हार चढ़ा दो या वहाँ बैठ कर उनके भजन-स्तवन कर लो। इतने मात्र से उनका अनुसरण मान लेना यह गलत है। ये सब बाह्य लोक-पद्धतियाँ हैं। तत्त्वतः उनके पथ को अपना पथ बनाना ही उनका अनुसरण करना है। जैन-दर्शन बताता है कि कोई मनुष्य यदि जैन बनना चाहता है तो उसके लिए यह आवश्यक है कि वह विजेता के पथ पर अपने कदम बढ़ाये।

जैन का पुराना नाम क्या था, यह कहना कठिन है। बहुत सम्भव है, पहले उसका नाम निर्ग्रन्थ प्रवचन रहा हो। नाम चाहे कुछ भी हो बात

एक ही है। बौद्ध-ग्रन्थों में जहाँ भगवान् महावीर का प्रसंग है, वहाँ उन्हें 'निगंठ नायपुत्त' कहा गया है। ज्ञात-पुत्र उनका नाम है, यह उनके पीछे विशेषण है। इसी प्रकार जैन-साहित्य में भी अनेक स्थानों पर इसी अर्थ में निर्ग्रन्थ शब्द का प्रयोग हुआ है। आज के जैन लोग यह नहीं भूलें कि उनका मूल नाम 'निर्ग्रन्थ' शब्द में ही यह तत्त्व भरा है कि वे धन-कुबेर बनने की चाह न रखें। धन-संग्रह करना उनका लक्ष्य नहीं है। उसके अर्जन के पीछे एक ही तत्त्व रहता है कि वे ऐसा लौकिक जीवन-निर्वाह के लिए ही करते हैं। धन के पीछे पड़ जाना उनका ध्येय नहीं होना चाहिए। आज के जैन यह सोचें कि वे अपने लक्ष्य को याद रख रहे हैं या भूल गए। वे यदि अधिक उपार्जन का लोभ रखते हैं तो यह उनके तत्त्व के अनुरूप नहीं है। आज जैनों को यह भी सोचना चाहिए कि वे निकम्मी रूढ़ियाँ, जिनमें सार कम है, उनको क्यों पकड़े बैठे हैं। शास्त्रों में साधुओं के आहार के बारे में एक प्रकरण आता है कि वह आहार साधु को नहीं लेना चाहिए जिसमें सार तो कम हो और निस्सार अधिक। उसी प्रकार वे रूढ़ियाँ जो व्यर्थ ही जीवन को बोझिल बनाती हैं, उन्हें अपने ऊपर से बुद्धिमानी पूर्वक हटा देनी चाहिए। महारम्भ और महापरिग्रह में अपना जीवन खपाएँ, यह उनके उसूल के अनुकूल नहीं है। यहाँ आरम्भ का अर्थ शुरूआत नहीं है। यहाँ आरम्भ का अर्थ है—हिंसा। हिंसा के बारे में जैन-दर्शन में तीन विकल्प हैं। अनारम्भ, अल्पारम्भ और महारम्भ। जो हिंसा का सर्वथा त्याग कर दे वह अनारम्भ है। वह तो साधु ही हो सकता है। क्योंकि साधु न तो हिंसा करता है, न करवाता है और न करते हुए को अच्छा समझता है। वह हिंसा के सब कार्यों से निवृत्त रहता है। इसीलिए वह भोजन भी न तो स्वयं पकाता है, न दूसरों से पकवाता है और न पकाते हुए को अच्छा ही समझता है। सारांशतः अपने जीवन को चलाने के लिए भी वह किसी प्रकार का आरम्भ नहीं कर सकता। न मन से, न वाणी से और न क्रिया से। जिस काम को वह स्वयं नहीं करता उसका दूसरों को उपदेश भी नहीं दे सकता। अपने आचरण के विरुद्ध उपदेश देना "जहा वाई तहा कारी" के सिद्धान्त के भी विपरीत है।

दूसरी श्रेणी है—अल्पारम्भ की। इस श्रेणी के अन्तर्गत वे मनुष्य आते हैं जो सर्वथा त्यागी नहीं हैं। उन्हें अर्थ—यानी आवश्यक आरम्भ करना पड़ता है। अतः वे अल्पारम्भी कहलाते हैं, पर महारम्भी तो वे हैं जिन्हें हिंसा का कोई भान ही नहीं रहता। उनका कोई लक्ष्य भी नहीं होता। जिस प्रकार तेली के बैल का कोई लक्ष्य नहीं होता,

वह घाणी (धुरी) के चारों ओर सिर्फ चक्कर लगाता रहता है, उसी प्रकार जो दिन-रात हिंसा में तल्लीन रहते हैं, उनमें और "तिल पेल तेल कीगतो" बैल में क्या अन्तर है? चक्की भी जिस प्रकार अपनी कीली के चारों ओर चक्कर लगाती रहती है, कभी रुकती ही नहीं उसी प्रकार वे लोग भी जो दिन-रात आरम्भ में पड़े रहते हैं, कभी अपने जीवन पर ध्यान नहीं देते। चक्की भी रुकती तो है पर या तो पीसनेवाले के थक जाने पर या अन्न समाप्त हो जाने पर। वही गति महारम्भी लोगों की होती है। महारम्भी यानी जिसकी आकांक्षाओं की कोई सीमा नहीं होती और जिनका हिंसा-अहिंसा की तरफ कोई चिन्तन ही नहीं होता।

मोक्ष के पथ में आरम्भ अर्गला है, पर फिर भी गृहस्थ सम्पूर्ण हिंसा से बच नहीं सकता। इसका मतलब यह नहीं कि हिंसा आदेय है या हिंसा के बिना धर्म हो नहीं सकता। हिंसा धर्म का अविनाभावी कारण है—इस मान्यता को जैन-धर्म कभी प्रश्रय नहीं दे सकता। जो हिंसा को धर्म की भूमिका या मोक्ष की सीढ़ी कहते हैं, उन्होंने अभी जैन-दर्शन का अध्ययन ही नही किया है। कुछ लोग कहते हैं—हम साधुओं के दर्शन करने मोटर में जाते हैं, तो क्या साधु-दर्शन के इस धर्म-कार्य में मोटर को साधन रूप मानने से उसका हिंसा जनित परिग्रह भी धर्म नहीं हो जाता? या घर पर साधु भिक्षा लेने के लिए आएँ, तब हम अगर भोजन नहीं पकाते हैं, तो उन्हें क्या देंगे? भोजन बिना हिंसा के बनता नहीं। अतः हिंसा के बिना पात्र-दान कैसे हो सकता है? इस प्रकार एक नहीं अनेक उदाहरण हो सकते हैं, जिनमें हिंसा भी धर्म-कार्य में अपेक्षित रहती है। यहाँ हमारा दृष्टिकोण है कि हिंसा में धर्म मान लेना, यह मार्ग से भटकने जैसा है। हाँ, यह अवश्य है कि गृहस्थ जीवन में सम्पूर्ण हिंसा का त्याग नहीं हो सकता। उन्हें कदम कदम पर हिंसा करनी ही पड़ती है। इसीलिये तो उन्हें अनारम्भी नहीं कहकर अल्पारम्भी कहा जाता है। पर जितनी हिंसा वह करता है, उसको धर्म का साधन तो नहीं माना जा सकता। हाँ, वह सुविधा का साधन हो सकता है। इसी प्रकार मोटर में बैठकर दर्शन करने के लिए आना सुविधा का साधन हो सकता है, धर्म का नहीं। बहुत से लोग मोटरों में बैठकर आए हैं तो बहुत से लोग पैदल भी आए हैं। यदि मोटरें ही दर्शनों का साधन होतीं तो दूसरे लोग कैसे आ सकते थे? इससे पता चलता है कि वह दर्शन करने का कारण नहीं है पर चूँकि मोटर सुविधा का साधन है, अतः उसे धर्म का साधन मान लेना उपयुक्त नहीं होगा। यदि सुविधा और असुविधा का ध्यान न रखा जाए तो बिना हिंसा भी दर्शन हो सकते हैं। अतः मोटरें दर्शन का अनन्तर (अभिन्न) निमित्त नहीं हैं,

हैं, परस्पर निमित्त हो सकती हैं। परस्पर निमित्त तो मोटर क्या और भी बहुत-सी बातें हो सकती हैं, पर वे धर्म नहीं मानी जा सकतीं। इसी प्रकार भोजन के सम्बन्ध में समझना चाहिए। क्योंकि गृहस्थ के घर में हिंसा तो होती ही है, पर वह धर्म नहीं है। धर्म तो उस हिंसा से जो निष्पन्न हो चुका है, उसके त्याग में है। यहाँ पर भी त्याग-वृत्ति धर्म है न कि उसे तैयार करना। अतः हिंसा को धर्म मानना यह एकान्त असत्य है।

अहिंसा, अहिंसाजन्य ही होनी चाहिए। इसी प्रकार हिंसा भी हिंसाजन्य ही है। अतः उसमें धर्म नहीं हो सकता। स्वामीजी ने इस सम्बन्ध में एक पद्य कहा—"हिंसा कियां धर्म हुए तो जल मथियां घी आवे" यदि हिंसा से धर्म हो सकता है, तो जल मथने से भी घी निकल सकता है। इसका मतलब यह नहीं कि गृहस्थ हिंसा से मुक्त हो जाये। उसके साथ वह तो जुड़ी हुई है। इसीलिए उसे धर्माधर्मी—व्रताव्रती कहा गया है। उसमें व्रत और अव्रत का मिश्रण है। गेहूँ और कंकड़ दो हैं, दोनों का अपने अपने स्थान पर उपयोग है। गेहूँ खाने के काम में आता है तो कंकड़ नींव जमाने के काम में आता है, पर जो उपयोग गेहूँ का है, वह कंकड़ का नहीं हो सकता। उन दोनों को मिला देना, यह तो बड़ी भारी भूल होगी। हिंसा का भी अपने स्थान पर उपयोग है, पर वह मोक्ष-साधना का मार्ग नहीं है। मोक्ष-साधन का मार्ग अहिंसा ही है, गृहस्थ को कुछ आवश्यक हिंसा करनी पड़ती है और कुछ अनावश्यक हिंसा भी उसके द्वारा होती है। कुछ हिंसा अज्ञानवश हो जाती है तो कुछ हिंसा प्रमादवश भी हो जाती है। उदाहरण के लिए दातुन की कुछ आवश्यकता हुई तो बहुत सारे दातुन तोड़ लाए। जो काम आया सो काम आया, बाकी को यों ही फेंक दिया। यह अनावश्यक हिंसा है। साग के लिए जो बनस्पति लायी जाती है, वह अनावश्यक हिंसा है। इसी प्रकार पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु की हिंसा भी उसके लिए अनावश्यक हो जाती है। अल्पारंभ गृहस्थ का "छांदा" है, पर वह धर्म नहीं, और महारम्भ तो निश्चित ही नरक का हेतु है। अनारम्भ, अनुपद्रव, अनभिद्रोह, अनाक्रमण और अहिंसा—ये सब धर्म के मौलिक रूप हैं।

किसी को बलात् धर्म का अनुशीलन करवाना भी धर्म नहीं है। किसी को गुलाम व दास बनाना तो बहुत बड़ी हिंसा है। मनुष्य को क्या, किसी पशु-पक्षी को भी बन्दी बनाना अधर्म है, हिंसा है। कहने को बहुत से लोग पशु-पक्षियों की बहुत हिफ़ाजत करते हैं, उन्हें अच्छा खाना देते हैं और कहते हैं—हम उनकी सेवा करते हैं, पर सत्य यह है कि वह उनकी सेवा नहीं,

असेवा ही है। यदि आप किसी की सेवा करना चाहते हैं तो किसी को बन्दी नहीं बनाइये, किसी को मारे पीटें नहीं, यही सबसे बड़ी सेवा है।

हाँ, अहिंसा को भी जितनी शक्ति हो अपनाएँ। किसी भी खेत में यह नहीं होता कि गेहूँ अलग पैदा होता है और भूसा अलग पैदा होता है। बिना भूसे के कभी अनाज पैदा होता नहीं देखा गया और न दोनों को एक भाव बिकते देखा गया। इसी प्रकार धर्म के साथ पुण्य होता है, पर धर्म और पुण्य एक नहीं हो सकते। जो जैसा है, उसे वैसा ही समझना चाहिए। यही सम्यक्त्व है, जो जैनधर्म का मूल है। सब अहिंसक नहीं बन सकते, यह ठीक है। पर हिंसा को अहिंसा तो नहीं मान लेना चाहिये। उससे उल्टा मिथ्यात्व आता है। अतः यह बिना मतलब की गलती तो नहीं करनी चाहिए।

इसी प्रकार अपरिग्रह, अल्प-परिग्रह और महापरिग्रह का हिसाब है। सर्वथा अपरिग्रही तो अकिंचन सन्यासी ही हो सकते हैं, जिनके पास एक कौड़ी भी नहीं मिल सकती। प्रश्न है—यदि काम पड़ जाए तो? पर उनमे किसका काम पड़े? उन्हें कोई विवाह-शादी तो करनी नहीं है। रोटी, कपड़ा मकान आदि वे माँग कर ले लेते हैं! रोटी भी अगर मिल जाती है तो खा लेते हैं, नहीं मिलती है तो उसमें भी आनन्द मनाते हैं। इन सब बातों को वे जान-बूझकर ही इस मार्ग में प्रविष्ट करते हैं।

जब मैंने दीक्षा ली तो मेरे बड़े भाई साहब दीक्षा के दिन मेरी परीक्षा के लिए सौ रुपए का एक नोट देते हुए कहा था—देखो साधु-जीवन में बड़ी कठिनाइयाँ आती हैं। कहीं आहार मिलता है, कहीं नहीं मिलता। अतः तुम पास में यह एक सौ रुपए का नोट रखो और जब कभी आवश्यकता पड़े तो इसका उपयोग करना। मुझे उस समय इतनी हँसी आयी कि वह रोके न रुकी। बाद में मैंने उनसे कहा—यह तो परिग्रह है। साधुओं को परिग्रह से क्या मतलब? वे कहने लगे—इसमें परिग्रह क्या है? यह तो कागज का टुकड़ा है, पर जब मैंने उसे लेने से बिल्कुल इन्कार कर दिया तो उन्हें अन्तिम परीक्षा से और अधिक विश्वास हो गया।

हाँ, तो मैं यह कह रहा था कि साधुओं को पैसे की आवश्यकता ही क्या रह जाती है? यदि साधुओं को भी पैसे की जरूरत हो गयी तो समझना चाहिए, उनकी साधना समाप्त है।

सुजानगढ़,
(क्षमा-याचना-दिवस)
२२ अगस्त, '५७

५६ : योग्य दीक्षा

दीक्षा-महाव्रत एक धार्मिक संस्कार है। उसपर सरकार की ओर से प्रतिबन्ध लगवाने का अर्थ है—धार्मिक स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप। आज तो कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि बालदीक्षा नहीं होनी चाहिए। पर कल शायद यह भी कहा जा सकता है कि अणुव्रती नहीं बनना चाहिए, यह जनता की धार्मिक स्वतन्त्रता पर आघात है। हो सकता है प्रस्ताव बुराइयों को मिटाने के लिए किये जाते हैं, पर उसके साथ-साथ अच्छाइयाँ विकसित नहीं हो सकें, यह उचित नहीं लगता।

कुछ लोग कानून से बुराइयाँ मिटाने की बात सोचते हैं, पर उन्हें ठंडे दिमाग से सोचना चाहिए कि क्या कानून से सब बुराइयाँ मिट ही जाती हैं? मेरा ख्याल है कानून से कहीं कहीं बुराइयाँ अधिक पनपती हैं, क्योंकि जो लोग अच्छे नहीं हैं; वे तो कानून की परवाह करने वाले हैं नहीं, और जो अच्छे हैं उनके लिए कानून अवरोधक बन जाएगा। अतः दोनों ही तरफ से ऐसा लगता है कि इससे समस्या सुलझने वाली नहीं है।

पिछली बार जयपुर में बाल-दीक्षा के विरोध के अवसर पर जब जय-प्रकाश बाबू वहाँ आए थे तो मेरे साथ बातचीत के बीच उन्होंने भी यही कहा था—"मैं यह नहीं चाहता कि कानून के द्वारा बाल-दीक्षा रोकी जाय। वह तो स्वयं धर्माचार्यों के सोचने का विषय है कि वे अपनी व्यवस्था इस प्रकार बना लें कि किसी को विरोध करने का अवसर ही न मिले। आज भी देश के ऊँचे विचारक यही सोचते हैं। भारतवर्ष का संविधान बनाते समय जब बाल-दीक्षा के प्रतिरोध का प्रश्न आया तो सरदार पणिकर ने कहा था—कानून के द्वारा इसका प्रतिरोध करने का मतलब है जनता के मौलिक अधिकारों पर प्रहार। अतः कानून के द्वारा बाल-दीक्षा को रोकना किसी भी दृष्टि से उचित नहीं लगता।

मैं इस बात का कभी समर्थक नहीं हूँ कि बाल-दीक्षा के नाम पर अयोग्य दीक्षा दी जाए। यदि कहीं पर भी बहकाकर, धमकाकर या फुसला कर दीक्षा दी जाती है तो मैं उसका पहला विरोधी हूँ, और यह भी सत्य है कि अनेक जगह अयोग्य दीक्षाएँ भी होती हैं, पर उन्हें रोकने के लिए यह तरीका उचित नहीं लगता। उचित तो यह हो कि स्वयं साधुओं में ही ऐसा विकास किया जाए कि अनुचित दीक्षा देने का अवसर ही नहीं आये।

अपनी बात मैं कह सकता हूँ कि हमारे संघ में दीक्षा पूरी जाँच

के बाद ही होती है। मुझे इस सम्बन्ध में रंचमात्र रड़कन भी पसन्द नहीं। यहाँ अनेक नाबालिग तो दीक्षा की प्रार्थना करते-करते ही बाबालिग हो जाते हैं। उनके माता-पिता भी पूर्णतया सहमत हों तभी मैं दीक्षा के सम्बन्ध में विचार करता हूँ। हमारा आज तक का इतिहास भी इस बात का साक्षी है कि हमारे यहाँ दीक्षा पूरी परीक्षा के बाद ही होती है।

इस अवसर पर मैं धर्माचार्यों से भी यह कहना चाहूँगा कि वे इस बात पर गहराई से सोचें। उनकी जरा-सी भी असावधानी का असर जनता पर बुरा होता है। बाल-दीक्षा के सम्बन्ध में भी अगर पूर्ण सतर्कता नहीं बरती जाए तो वह जनता में आलोचना का विषय बन जाती है। आज जो नाबालिग दीक्षा प्रतिबंधक बिल लोग लाने की सोचते हैं यह उनकी असावधानी का ही परिणाम है। अब भी अगर वे इस ओर ध्यान नहीं देंगे तो समस्या और भी जटिल हो सकती है। अतः आज धर्माचार्यों को अपने-अपने संघ और सम्प्रदायों को टटोलने की आवश्यकता है कि उनके यहाँ कोई अयोग्य दीक्षा तो नहीं होती है? मेरा यह कोई आग्रह नहीं है कि बाल-दीक्षा ही होनी चाहिए। मैं योग्य दीक्षा का समर्थक हूँ। कोई बालक योग्य हो ही नहीं सकता, यह मैं नहीं मानता। अतः बाल-दीक्षा पर प्रतिबन्ध लगाने का अर्थ है सारे संसार के बालकों को अयोग्य करार देना। मेरा आग्रह है योग्य दीक्षा हो। फिर वह चाहे बालक हो, चाहे युवक हो, और चाहे वृद्ध हो।

६० : श्रद्धा : उर्वरा भूमि

बीज विकास पाता है किन्तु उर्वरा भूमि मिले तब। कुछ भूमि सहज उर्वरा होती है, कुछ प्रयत्न से बनायी जाती है। व्रत के लिए भी यही बात है। व्रत के लिए उर्वरा भूमि है श्रद्धा। श्रद्धा की उर्वरा में व्रत शत शाखी बन जाते हैं। सहज श्रद्धा के लिए आन्दोलन जरूरी नहीं होता। किन्तु श्रद्धा को जगाने के लिए आन्दोलन अवश्य चाहिए। शब्द की दृष्टि से यह अणुव्रतों का आन्दोलन है। भावना की दृष्टि से यह श्रद्धा-जागरण का आन्दोलन है। व्रत का स्थान दूसरा है, पहला श्रद्धा का है। हृदय श्रद्धा से बदलता है व्रत से नहीं।

मैं बहुधा कहा करता हूँ—अहिंसा और सत्य की कमी है, यह उतना चिन्तनीय विषय नहीं जितना कि—उनके प्रति श्रद्धा टूटती जा रही है, यह चिन्तनीय है। भौतिक वातावरण में पलनेवाली बुद्धि का विश्वास

हिंसा, कूटनीति, और शस्त्रों में ही जमता है। इसीलिए सत्यदर्शी मनीषियों ने कहा है—आत्मा को देखो, उसे समझो, उससे प्रेम करो, उसमें से समता का स्रोत बहाकर अभय बनो। अभय स्वतन्त्र व्रत नहीं है किन्तु यह व्रत-निर्माता है। भय वहाँ होता है जहाँ श्रद्धा का उत्कर्ष नहीं होता। श्रद्धा का उत्कर्ष ही अभय है। अभय आता है साधना निर्बाध हो जाती है। *कष्ट और मौत का डर मिटता है और अहिंसा निखर उठती है।*

अहिंसा ही व्रत है और सारे व्रत इसी के पहलू हैं।

व्यवहार की दुनियाँ में एक मित्र भी शान्ति और आनन्द का हेतु बनता है। वह दिन कितनी शान्ति और आनन्द का होगा जिस दिन सारे जीव हमारे सच्चे मित्र बन जाएंगे। वैर-विरोध की आशंका से करोड़ों अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण करना पड़ रहा है। वह दिन कितना शुभ होगा जबकि सारे वैर-विरोधों की आशंका धुल जाएँगे। शत्रु-भाव से मैत्री नहीं होती, घृणा से प्रेम, शस्त्रीकरण से अभय, और अशान्ति के साधनों से शान्ति नहीं लाई जा सकती। हमारी श्रद्धा अहिंसा में है, अभय और मैत्री में है। श्रद्धा सब में है, उसके बिना कोई जी नहीं सकता किन्तु जिनकी श्रद्धा हिंसा, भय, घृणा और शत्रुता में है उनकी श्रद्धा बदले इसी लक्ष्य के साथ हम चलें और चलते चलें।

अहिंसा-दिवस, '५७

६१ : समस्याओं का समाधान

आज देश में आचार की बड़ी भारी आवश्यकता है। इसके बिना देश दरिद्र है। पैसा नहीं होने से कोई दरिद्र नहीं हो जाता। वास्तव में तो दारिद्र्य अनाचार ही है। यदि पैसा नहीं होने से ही कोई दरिद्र हो जाता तो सब से बड़े दरिद्र तो साधु होते। पर उनके सामने तो सम्राटों के सिर झुक जाते हैं। अतः वे दरिद्र कैसे? आज मनुष्य का मूल्यांकन पैसे से हो रहा है यह उचित नहीं है। मनुष्य सही स्थिति में सोचेगा तो उसे यह समझ में आ जाएगा कि यह उसने बड़ी भारी भूल की है, पर आज कहा किसे जाए। आज तो सभी यही सोचते हैं कि पैसा बड़ा है। एक राज्य-सभा की बात है—एक बार उसके सारे सदस्यों ने शराब पी ली। इससे सारे सदस्य नशे में झूमने लगे। केवल मंत्री और राजा दो ही ऐसे थे जो उस समय नशे में नहीं थे। दोनों ने ही सदस्यों को बहुत समझाया पर

नशे की हालत में उनपर क्या असर पड़नेवाला था। उल्टे वे लोग ज्यादा नशे में पागल हो गए और जोर-जोर से नाचने-गाने लगे। नशे का वेग यहाँ तक बढ़ गया कि उन्होंने अपने कपड़े भी उतार दिए, और नाचते-कूदते राजा तथा मंत्री की ओर दौड़े। दोनों ने उन्हें फिर समझाया, पर असर उल्टा ही हुआ। उन्होंने सोचा अब खैर नहीं है। आखिर बहुमत का ही जमाना है। यदि और उपदेश देंगे तो जान पर जोखिम है। अतः उन्होंने भी कपड़े उतार दिए और उनके साथ ही नाचने-गाने लगे। आज भी ऐसी ही स्थिति है। सारे लोग पैसे के पीछे पागल से दौड़ रहे हैं। कुछ लोग उन्हें समझाते भी हैं, पर कोई उनकी सुनता नहीं। उल्टे कई लोग तो उन्हें प्रतिकूलगामी तक कह देते हैं, पर समझदार लोग बहुमत के चक्कर में पड़नेवाले नहीं हैं। उन्हें सत्य पर विश्वास है। आखिर नशा उतरने पर संसार को भी यहाँ आना पड़ेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

अर्थ से अनेक समस्याएँ पनपती हैं। यह सब प्रत्यक्ष है। जिसकी जड़ ही समस्या है उसमें से समाधान आएगा कहाँ से? किसी समय एक बाबा घूमते-फिरते राजस्थान के जंगल में पड़ गए। उन्हें भूख बड़े जोरों से लगी थी। वहाँ खाने को क्या मिलता? आखिर ढूंढ़ते-ढूंढ़ते उन्हें एक 'तुम्बे' की बेल नजर आई। उस पर तुम्बे के फल देखकर उन्होंने सोचा यह शायद खाने का ही फल है। भूखे तो थे ही। झट फल तोड़ लिया और खाने लगे। पर एक टुकड़ा मुँह में रखते ही सारा मुँह खारा हो गया। उन्होंने सोचा फल खारा है, शायद पत्ते मीठे होंगे। अतः पत्ते तोड़ कर खाए। वे और भी खारे जहर थे। थू-थू करते हुए उन्होंने डाली तोड़ कर मुँह में डाली, पर वह भी कम खारी नहीं थी। आखिर उन्होंने उस बेल को उखाड़ कर उसकी जड़ को थोड़ा-सा चखा, पर उसने तो सब को मात कर दिया। वह तो हलाहल ही थी। अब उनके समझ में आया कि जिसकी जड़ ही खारी है उसकी डालियाँ, पत्ते और फल मीठे कहाँ से होंगे? इसी प्रकार अर्थ यदि समस्या है तो उसका समाधान कहाँ से आयेगा? अतः आज नहीं तो कल, अन्त में संसार को अपना दृष्टिकोण बदलना पड़ेगा कि अर्थ आखिर में समस्याओं का हल नहीं है। समस्याओं का हल संयम से ही होगा—आचार से ही होगा।

६२ : शान्ति का मार्ग

एक सद्गृहस्थ का जीवन अल्प परिग्रही होता है। उसके लिए पैसे की बस उतनी ही आवश्यकता रहती है, जितनी कि एक रोगी को दवा की

और एक भूखे को भोजन की। गृहस्थ भीख माँगे, यह उसके लिए शर्म की बात है। उसे अपने लिये, अपने परिवार और समाज के लिए श्रम करके कमाना पड़ता है, इसलिए वे अल्प-परिग्रही कहलाते हैं, पर महा-परिग्रही की सीमा की कोई चिन्ता नहीं होती। आज अधिकतर लोगों का यह दृष्टिकोण बन गया है कि जितना धन अधिक होगा, वह मनुष्य उतना ही बड़ा होगा, पर आध्यात्मिक दृष्टि से देखा जाए तो मनुष्य की जितनी आवश्यकताएँ कम होंगी, उसे उतना ही आनन्द मिलेगा। जिसकी जितनी अधिक आवश्यकताएँ होंगी, उसकी शान्ति भी उतनी ही खतरे में रहेगी। यह हमारा भारतीय दृष्टिकोण है। पश्चिम के लोग इससे बिल्कुल उल्टे चलते हैं। वे लोग कहते हैं—**आवश्यकताएँ बढ़ाओ, उससे उत्पादन बढ़ेगा और उससे शान्ति बढ़ेगी।** मैं इस सिद्धान्त को नास्तिकवाद कहता हूँ। क्योंकि वे लोग भोग को बढ़ावा देते हैं। भोग को बढ़ावा देना नास्तिकता नहीं तो और क्या है? यह दूसरी बात है कि मनुष्य को अपने जीवन निर्वाह के लिए कुछ आवश्यक साधन जुटाने पड़ते हैं। खाज आती है तो खुजलाना पड़ता ही है, पर ऐसा खुजलाना क्या, जिससे घाव ही पड़ जाए, यह तो अक्ल का दिवाला ही है।

जैन-दृष्टि के अनुसार जिस प्रकार परिग्रह का संग्रह पाप है, उसी प्रकार उसका व्ययदान या विनिमय भी धर्म नहीं है। कुछ इस तथ्य का दुरुपयोग भी करते हैं। यदि कोई व्यक्ति उनके पास चन्दा मांगने के लिए आ जाए तो वे झट कह देते हैं—भाई! हमारे धर्म में तो चन्दा देने में पाप कहा है, पर मैं उन लोगों से इतना और पूछ लेता हूँ कि आपके धर्म में संग्रह करने में क्या धर्म कहा है? यदि उन्हें पाप का इतना डर है तो अपने पास इतना धन-संग्रह क्यों करते हैं? संग्रह करते समय तो उन्हें पाप का डर भी नहीं लगता और एक सामाजिक काम में चन्दा देते समय उन्हें पाप का ध्यान आ जाता है। यह पाप का डर नहीं है, धन के प्रति आकर्षण है और धर्म के साथ खिलवाड़ है। अपने हाथ से पैसा देना नहीं है, अतः कोई न कोई बहाना तो निकालना ही पड़ता है। हमारी दृष्टि में तो परिग्रह मात्र पाप है। वह चाहे यहाँ रहे या कहीं रहे। उसके यहाँ-वहाँ रहने में पाप-धर्म नहीं हो सकता। आचार्य भीखणजी ने इसी तथ्य को समझाते हुए एक बड़ा सुन्दर उदाहरण दिया—एक मकान में आग लग गई। मकान मालिक ने अपना सामान निकाला और दूसरे मकान में डालना शुरू कर दिया, पर उस मकान में भी आग लग गई। अतः वह सामान वहाँ भी सुरक्षित न रह सका, जलकर भस्म हो गया। यही परिग्रह का हाल है। उसे अपने पास रखना जब पाप है, तब दूसरों को देने में धर्म कैसे हो जाएगा? परिग्रह का

शेष तो हुआ नहीं। देने मात्र से कोई त्याग नहीं होता। उसका तो मोह छूटना चाहिए। नहीं तो फिर और आकर जमा हो जायगा। मोह छूटने के बाद उस धन का क्या होता है, वह कौन काम में आता है, यह चिन्ता उसे नहीं हो यही परिग्रह से मुक्ति का मार्ग है।

पैसा वास्तव में ही पाप का मूल है। वह पास में आ जाने से सचमुच मन में शान्ति नहीं रहती। गरीबी में जितना दूसरों के प्रति प्रेम रहता है, बहुधा पैसा पास में आ जाने से नहीं रहता।

दो भाई थे। बिल्कुल निर्धन। दोनों की रोटियाँ एक दाँत टूटनी थीं। दोनों ने मिलकर सोचा—अब हमें धन-उपार्जन के लिए कौन सा धन्धा करना चाहिए? समाधान रहा—यहाँ देश में काम-धन्धा है नहीं, परदेश में चलें। वहाँ जाकर जीविका का कोई साधन करेंगे। ऐसा ही हुआ। विदेश जाकर दोनों ने अच्छा धन कमाया। अब घर की याद आने लगी तो काम-धन्धा स्थगित कर वे घर की ओर चल पड़े। रास्ते में जब वे चल रहे थे तो बड़े भाई के मन में आया कि जब हम घर पहुँचेंगे तो धन का आधा-आधा हिस्सा हो जाएगा। अतः अच्छा हो, कि छोटे भाई को ही मार दूं। छोटे भाई के मन में भी यही भाव आया। पर वह जल्द ही सँभल गया। अतः एक दिन जब बड़ा भाई सो रहा था, तो उसने रुपयों की झोली को पानी में बहा दिया। उसका शब्द सुनकर बड़ा भाई चौंक कर उठा और पूछने लगा—यह आवाज कैसी हुई? छोटे भाई ने सारा किस्सा कह सुनाया और कहा कि रुपयों को पाकर मेरे मन में पाप घुस आया। मैंने सोचा—यह धन ही पाप का मूल है, और मैंने इसे पानी में बहा दिया। बड़े भाई ने भी अपनी बात कह सुनायी। कहने लगा—यही भाव मेरे मन में आये थे। अतः अच्छा हुआ, तुमने मेरा रास्ता पहले ही साफ कर दिया। नहीं तो न जाने मैं क्या कर बैठता? इसलिये अब हमें धन का संग्रह नहीं करना चाहिए? अब उनके मन का पाप भी धुल गया और प्रेमपूर्वक रहने लगे। यह एक उदाहरण है। पर इसका सत्य भी छिपने जैसा नहीं है। प्रायः देखा जाता है बड़े-बड़े धनवान भाई भी जब आपस में बँटवारा करते हैं तो एक-एक पैसे के लिए कोर्ट चले जाते हैं। यह पैसे के प्रति ममत्व-भावना है। ममत्व ही महापरिग्रह है। एक गृहस्थ को पैसे के साथ ठीक वैसा ही बर्ताव करना चाहिए जैसा कि एक धाय अपने मालिक के पुत्र के साथ करती है। उसका उसमें ममत्व का प्रेम नहीं होता। उसी प्रकार श्रावक को भी अपनी आजीविका का साधन चाहिए। उसमें ममत्व स्थापित नहीं करना चाहिए। यह दर्शन—विजयी का दर्शन है, जैन-साधना का दर्शन है।

विजयी का लक्ष्य मोक्ष होता है। विजय का मतलब है—शरीर के बन्धनों से मुक्ति। इसीलिए नवतत्त्वों में मोक्ष को अन्तिम तत्त्व गिना गया है। यही मौलिक तत्त्व है। जीव भी एक दृष्टि से मौलिक—प्राप्य तत्त्व नहीं है। किसी ने स्वामीजी से प्रश्न किया गया—जीव ग्राह्य है या त्याज्य ? उन्होंने उत्तर दिया—जीव त्याज्य है। उत्तर बड़ा विचित्र था। जीव भी त्याज्य है तब तो फिर प्राप्य रह ही क्या जायेगा ? अतः उन्होंने उसका स्पष्टीकरण किया—हमारा जीव संसारी जीव है। उसमें अभी क्रोध, मान, माया, लोभ आदि दुर्गुण विद्यमान है जीव की प्रवृत्तियाँ भी जीव है। अतः वे यदि त्याज्य है तो जीव ग्राह्य कैसे होगा ? हाँ, जीव का शुद्ध स्वरूप ग्राह्य अवश्य होगा। वह तो मोक्ष होने पर प्राप्त हो सकता है, अतः जीव नहीं, मोक्ष ही हमारा प्राप्य होना चाहिये। उसके साथ मोक्ष के साधन स्वरूप संवर और निर्जरा भी हमारे प्राप्य हैं।

६३ : जैन-धर्म और सृष्टिवाद

एक दृष्टि से सोचें तो सृष्टि क्या है, क्यों है, और कब से है ? आदि प्रश्न हमारे लिए आवश्यक नहीं लगते। जब गौतम बुद्ध से यह पूछा गया कि—आत्मा है या नहीं ? सृष्टि आदि है या अनादि ? तो उन्होंने इस विषय में कुछ नहीं कहा। वे मौन रहे। उनके इस मौन का कुछ लोगों ने यह अर्थ लगाया कि बुद्ध इस तथ्य के जानकार नहीं थे, अतः उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया। कुछ लोग यह भी मानते हैं कि वे इन प्रश्नों को आवश्यक नहीं मानते थे, अतः उन्होंने इनका कोई उत्तर नहीं दिया। जैसा कि स्वयं बुद्ध ने कहा है—**"ऐसा नहीं कि मैं जानता नहीं हूँ, पर साधक जीवन में ये प्रश्न मुझे आवश्यक नहीं लगते। साधना का मार्ग आष्टांगिक मार्ग है। सम्यग्-प्रवृत्ति, सम्यग्-वाणी, सम्यग्-चिन्तन आदि साधक के लिए साधना आवश्यक है।"** अतः साधक को इन अप्रासंगिक प्रश्नों में नहीं उलझना चाहिए। इसीलिए उन्होंने इन प्रश्नों को 'अव्याकृत' कहकर टाल दिया, पर भगवान् महावीर ने ऐसा नहीं किया। वे किसी विषय में मौन नहीं रहे। उन्होंने कहा—**"कोई भी तत्त्व अज्ञेय नहीं है। सब तत्त्व जानने योग्य है।"** अतः उन तत्त्वों से भिज्ञ होना आवश्यक है। यदि आत्मा, परमात्मा, मोक्ष, सृष्टि आदि विषयों को जानेंगे नहीं, तो फिर हमारी साधना ही क्या रह जाएगी। जो हमारा प्राप्तव्य है, उसके ज्ञान के बिना उसकी साधना केवल अन्धानुकरण है। हम अन्धानुकरण नहीं चाहते ?

हम परमात्मा बनना चाहते हैं। परमात्म-स्वरूप को समझना भी आवश्यक है। मोक्ष हमारा प्राप्तव्य है, अत. उसका ज्ञान भी अपेक्षित है। साधना पक्ष को लेते हुए एक जगह भगवान् महावीर ने कहा है—"**जो जीवे वि न जाणइ, अजीवे वि न जाणइ। जीवा जीवे अयाणंतो कहंसे नाहिय संयमं**"—जो जीव को भी नहीं जानता, अजीव को भी नहीं जानता, तो वह संयम को कैसे जानेगा? संयम का मतलब यही तो है कि किसी जीव को दुःख नहीं पहुंचाया जाय, पर जिसे जीव और अजीव का ज्ञान ही नहीं है, वह कैसे और किसकी दया करेगा? इसीलिये भगवान् महावीर किसी विषय में मौन नहीं रहे। छोटे-छोटे प्रश्नों से लेकर बड़े-बड़े प्रश्नों तक का उन्होंने समाधान किया है।

हाँ, ऐसे स्थान पर जहाँ पाप का आगमन होता हो, वहां भगवान् जरूर मौन रहे हैं। उस समय जब अधर्नोतम्भ सूर्याभ नाम का देवता भगवान् के पास आया और बोला—भगवन् आप तो सर्वज्ञ है, सब कुछ जानते हैं। पर गौतमादि १४००० साधु छद्मस्थ हैं. उन्हें मैं अपनी दिव्य दृष्टि दिखाना चाहता हूँ, जो कि अभी-अभी मैंने देवता होकर प्राप्त की है। तब भगवान ने न तो उसकी बात को आदर दिया, न अच्छा समझा. मौन पूर्वक बैठे रहे। शास्त्रों में एक जगह कहा है—"**नो आढ़ाए नो परिजाणइ तुसिणीए संचिट्ठइ**" और न उन्होंने इसका निषेध ही किया है। क्योंकि उस बात को आदर देना तो उनकी साधना के खिलाफ था। हाँ, कहने का मतलब—नाटक का अनुमोदन होता। एक प्रश्न हो सकता है—भगवान् ने उसे 'हाँ' तो नहीं कहा, पर उस पाप-प्रवृत्ति का निषेध तो कर सकते थे। अतः उन्होंने निषेध क्यों नहीं किया? भगवान निरर्थक शब्द भी बोलना नहीं चाहते थे। क्योंकि वे यह जानते थे—मैं यदि निषेध करूँगा तो यह दूसरा बहाना निकालेगा। अतः न तो उन्होंने उस नाटक का समर्थन किया और न निषेध किया। परिस्थितियों को देखते रहे। मौन बैठे रहे, या अगर वे कही मौन रहे हैं तो लड़ाई के स्थान पर मौन रहे हैं। उस समय जब एक साधु के सामने लड़ाई हो जाए तो भगवान् ने उसे अपनी आत्म-रक्षा के तीन उपाय बताए हैं—"**धम्मियाए पडिचोयणियाए, उवेक्षिए पडिचोहत्ता वालिया उठित्तावा, आया एगंत मवक्कमिज्जा।**" यदि साधु के सामने किसी में आपस में संघर्ष हो जाए तो साधु को उपदेश के द्वारा उन्हें समझाना चाहिए। यह पहला तरीका है। यदि उपदेश देने पर भी कोई समझे नहीं तो दूसरा उपाय है—साधु मौन रहे, क्योंकि संसार भर के पाप मिटाने की जिम्मेवारी तो उसपर है नहीं। उनके उपदेश से कोई समझता है तो अच्छी बात है। नहीं समझे तो वे इसका

क्या कर सकते हैं ? अतः जहाँ उपदेश काम नहीं करता है, वहाँ साधु को मौन रहना चाहिए। इस अवस्था में जबकि बैठे रहने से ही अपनी आत्मा में उद्वेग पैदा हो जाता है, तो उसे वहाँ से उठकर एकान्त में चला जाना चाहिए। कोई कहे कि यह तो कायरता है, पर ऐसी वीरता भी किस काम की, जिससे अपनी आत्मा को विक्षोभ पैदा होता हो। अग्नि में पड़ कर मरना ही वीरता नहीं है। हाँ, तो वे ऐसे स्थान पर जरूर मौन रहे हैं, पर तत्त्वों का विवेचन करने में उनकी वाणी अस्खलित रूप में प्रवाहित हुई है।

जब गौतम ने पूछा—**भयवं किं लोए ?** भगवान् लोक क्या है ? तो उन्होंने उत्तर दिया—"**जीवा चेव अजीवाय एस लोए वियाहिए**" जीव और अजीव—जड़ और चेतन का संगम ही लोक है। वास्तव में ही संसार इसके अलावा और है ही क्या ? संसार में जितनी भी चीजें हैं, वे जड़ और चेतन—इन दो तत्त्वों में समाविष्ट हो जाती हैं। जीव यानी चेतन द्रव्य, अजीव यानी जड़। यहाँ जड़ का अर्थ मूर्ख नहीं है, जड़ यानी अचेतन। सर्दी में ठिठुर जाने पर मनुष्य कड़ा हो जाता है, उसे संस्कृत-साहित्य में "जाड्य" कहा है। उसका मतलब भी यही है कि सर्दी के कारण मनुष्य एक प्रकार से अपनी चेतना खो बैठा। आज तो सचमुच ही मनुष्य जड़—अचेतन पदार्थों के सम्पर्क से जड़ हो रहा है। यदि मोटर न हो तो उनका एक मील भी जाना दूभर हो जाता है। पंखा नहीं हो तो उनका बैठना मुश्किल हो जाता है। यह चेतन पर जड़ की ही तो विजय है। इतना न भी हो तो भी प्रत्येक मनुष्य के पास कुछ न कुछ कपड़े तो अवश्य ही होते हैं। यह भी जड़ ही है, और भी सूक्ष्म में जाएँ तो कर्म तो प्रत्येक मनुष्य के हैं ही। वे भी तो जड़ ही हैं। अतः संसार में रहते हुए प्रत्येक मनुष्य को जड़ के साथ कुछ न कुछ तो लगाव रखना ही पड़ता है। उसके पांच भेद हैं—धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल।

धर्म और अधर्म—यह गति और स्थिति सहायक तत्व है। इनके बिना जीव और अजीव कोई भी गति या स्थिति नहीं कर सकता। तत्त्व-निरूपण के क्षेत्र में भगवान् ने इन दो विलक्षण तत्त्वों का प्रतिपादन किया है, जो कि अन्यत्र सिद्धान्तों में अलभ्य है और आज तो विज्ञान भी इस बात की पुष्टि करने लगा है कि बिना किसी सहयोगी तत्त्व के गति हो नहीं सकती। जिस प्रकार पानी के बिना मछली चल नहीं सकती, पटरी के बिना गाड़ी चल नहीं सकती, उसी प्रकार कोई भी पदार्थ धर्म के बिना गतिवान नहीं हो सकता। इसी प्रकार स्थिति में भी अधर्म का तत्त्व अत्यन्त सहायक है। यहाँ धर्म और अधर्म शब्द का प्रयोग पुण्य और पाप के या भले

और बुरे के अर्थ में नहीं किया गया है। यहाँ इसका अर्थ है—गति और स्थिति-सहायक तत्त्व। ये दोनों ही तत्त्व लोक-व्यापक हैं। दूसरे शब्दों में हम इन्हें लोक और अलोक के विभाजक भी कह सकते हैं।

तीसरा तत्त्व है—आकाश। आकाश का लक्षण है—अवकाशदान इसलिए वह अभावात्मक नहीं है। यदि वह अभावात्मक होता तो हमें आकाश कौन देता? यह लोक और अलोक दोनों ही जगह व्याप्त है। यहाँ हम जो बैठे हैं—यह इस मकान का आकाश है। इसी प्रकार जितने आकाश को जो अवगाहन कर लेता है, उसे तदाकाश कह देते हैं, पर तत्त्वत: आकाश एक ही है। जितना आकाश जिस समय घड़े में बद्ध रहता है, वह घटाकाश कहलाता है, पर यदि घड़ा फूट जाए तो वह आकाश कहाँ जायेगा? वह तो यहीं रहेगा। क्योंकि वह व्यापक है। हम उसे घटाकाश की जो संज्ञा देते हैं, वह तो काल्पनिक है।

चौथा तत्त्व है—"काल"। यह भी एक जड़ पदार्थ है। समूचे संसार को वृद्ध तो यही करता है। एक कपड़ा बिना काम में लाए स्टाक में पड़ा-पड़ा ही पुराना हो जाता है। क्यों? क्योंकि काल उसपर से बरत जाता है। उसका लक्षण भी बरतना है। क्योंकि वह इकट्ठा होकर तो रहता नहीं है। काल के सूक्ष्म अंश को "समय" कहते हैं। उसके दो टुकड़े नहीं होते। हमारे एक चक्षु-स्पन्दन में असंख्यात "समय" बीत जाता है, यह इसकी सूक्ष्मता का एक परिचय है।

अजीव के पाँच भेदों में काल के सिवाय चार अस्तिकाय हैं। अस्तिकाय यानी सावयव-द्रव्य। उदाहरण के लिए एक कपड़े को ले लें। कपड़ा सूक्ष्म-सूक्ष्म तन्तुओं का एक संघात है। एक-एक तन्तु भी सावयवी है। क्योंकि वह भी अनेक परमाणुओं से बना है। इसलिए एक छोटे-से-छोटा टुकड़ा भी अस्तिकाय है। कुछ तत्त्वों के टुकड़े काल्पनिक ही हो सकते हैं और कुछ के वास्तविक। अस्ति यानी सद्वस्तु, काय यानी समूह। इसके पीछे धर्म आदि तत्त्वों को लगाने से उनका धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय नाम बन जाता है। काल द्रव्य अस्तिकाय नहीं है।

जितने पुद्गल स्कंध हैं, वे अस्तिकाय हैं। परमाणु अस्तिकाय नहीं होता। क्योंकि उसके प्रदेश नहीं होते। जिनके प्रदेश होते हैं, उन्हें ही अस्तिकाय कहा जा सकता है।

काल अस्तिकाय नहीं है। क्योंकि वह संगठित नहीं हो सकता। और सब चीजें संगठित हो सकती हैं, पर काल संगठित नहीं हो सकता।

इस प्रकार जहाँ जीव और अजीव दोनों हों, उसे लोक कहते हैं।

जहाँ केवल एक अजीव हो, उसे अलोक कहते हैं। लोक का यह स्वरूप बताने के बाद प्रश्न आता है—वह बना कैसे? इसका उत्तर देते हुए भगवान् ने कहा है—"सासए, निच्चे अवट्ठिए" कभी ऐसा समय नहीं था जब यह लोक नहीं था। यह शाश्वत है, ध्रुव है, नित्य है। जब षट् द्रव्य शाश्वत है, तब उनकी आदि कैसे निकाली जा सकती है? कांच की चूड़ी को हाथ में देकर कोई कहे—इसका किनारा निकालो, तो यह कैसे सम्भव है? जब उसकी कोई आदि है ही नहीं, तब वह निकाली कैसे जाए। अतः जब लोक अनादि है तो उसकी आदि कैसे बतायी जा सकती है?

फिर प्रश्न होता है—यदि आदि नहीं तो नहीं सही, पर इसका बनाने वाला तो कोई होगा? पर जब हम इसे अनादि मान लेते हैं, तब बनाने का प्रश्न ही कहाँ रह जाता है। यदि कोई बनाने वाला मानें तो फिर अनेक समस्याएँ सामने आएँगी। पहली समस्या तो यह आएगी कि यदि सृष्टि को किसी ने बनाया है, तो उसको किसने बनाया? अगर वह अनादि है तो फिर सृष्टि को अनादि मानने में क्या आपत्ति है? अतः जैन-जगत् किसी को सृष्टि का कर्त्ता-हर्ता नहीं मानता। वह तो अनादि है। सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ परिणमनशील है, उसमें क्षण-क्षण परिवर्तन होता रहता है। पर पदार्थ की दृष्टि से वह शाश्वत है। क्योंकि जो पदार्थ परिवर्तनशील होते हैं, वे समूल नष्ट नहीं हो जाते। पदार्थ का यदि समूल नाश हो जाए तो पदार्थ नाम का कोई तत्त्व ही नहीं रह जाता। पर चूँकि उसकी पर्यायें ही बदलती हैं, वह स्वयं स्थिर रहता है। अतः उसका अस्तित्व रहता है। सापेक्ष दृष्टि से उसमें परिवर्तन भी होता है और स्थैर्य भी रहता है। उस परिवर्तन को ही यदि उत्पाद और विनाश मान लिया जाता है तो हमें कोई बाधा नहीं।

हाँ, तो यदि सृष्टि अनादि है तो क्या महाप्रलय नहीं होता? इसका समाधान है कि—वैसे तो प्रति क्षण सृष्टि में प्रलय हो ही रहा है। पहले क्षण जो है, वह दूसरे क्षण नहीं रहता। उसकी सारी पर्यायें बदल जाती हैं। इस दृष्टि से प्रत्येक पदार्थ प्रति क्षण मरता ही रहता है, और जो मर जाता है, उसके लिए तो संसार में प्रलय ही हो गया। उससे भी बड़ा एक प्रलय होता है—बाढ़, भूकम्प आदि और आज तो बम भी एक प्रलय का रूप ही बन गया है। हिरोशिमा और नागासाकी में जो बम फूटे थे, वे क्या किसी प्रलय से कम थे? इस प्रलय का मनुष्य ने अपने हाथों निर्माण किया है। भूकम्प भी कभी-कभी इतने बड़े होते हैं कि जल के स्थान पर स्थल हो जाता है और स्थल के स्थान पर जल हो जाता है। यहाँ राजस्थान में पहले कहते हैं—समुद्र था। पर अब तो

बालू के टीले ही टीले नजर आते हैं और सबसे बड़ा प्रलय तो छठे आरे के आदि में होगा। अभी पाँचवाँ आरा चल रहा है। इसका काल-मान २१ हजार वर्ष है। इसके बाद एक महाप्रलय होगा, पर वह स्वाभाविक पुद्गलों का परिणमन है। उसका करने वाला कोई नही होता। कई लोग कहते है प्रलय करनेवाला ईश्वर है, पर हम ईश्वर के माथे पाप मढ़ना नहीं चाहते। जब एक मनुष्य को मारना ही पाप है तो सारी सृष्टि के प्रलय का पाप तो जाने कितना भारी हो जाता होगा। जैन-दृष्टि से वह प्रलय प्राकृतिक है। एक निश्चित अवधि पर पुद्गलों की तद्नुरूप परिणति हो जाना असम्भव भी नहीं है।

वह प्रलय भी सारी सृष्टि में नहीं होगा। विश्व के एक सीमित क्षेत्र में ही होगा। उसमें भी सारे प्राणियों का नाश नहीं हो जाना। बीज रूप में वहाँ भी प्राणी गिरि-कन्दराओं में लुक-छिप कर अपने प्राणों की रक्षा करेंगे। एक निश्चित काल के बाद फिर सृष्टि का विकास शुरू होगा। धीरे-धीरे पृथ्वी में उर्वरत्व आने लगेगा। सूर्य और दूसरे प्राकृतिक साधन भी जीवन के अनुकूल स्थिति पैदा करने लगेंगे। तब फिर एक महापुरुष पैदा होगा। मानवों में जो प्रकृति से ही अतिक्रूर हो जाते हैं, पुनः मानवता का आरोपण करेंगे। सामाजिक और धार्मिक जीवन पुनः प्रतिष्ठित होगा। इस प्रकार प्राकृतिक, धार्मिक और सामाजिक जीवन के पुनरुत्थान से सभ्यता का अरुणोदय होगा और सृष्टि वर्तमान रूप में स्थिर हो जाएगी। जैन-दृष्टि के अनुसार कालक्रम के प्रभाव से विकास और ह्रास हमेशा से चलता आया है। अभी भी चलता है और आगे भी चलता रहेगा यही सृष्टि का स्वरूप है।

६४ : जैन-धर्म और साधना

जीवन विकास में ज्ञान का स्थान कम नहीं है, पर बिना आचार का ज्ञान इतना महत्त्व नहीं रखता। साधना कोई नयी चीज नहीं है। जितने तीर्थंकर हुए हैं उन्होंने इसका विशद् विवेचन किया है। अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर ने भी इस विषय पर बहुत कुछ कहा है। पर उनका शासन-काल वक्र-जड़ता का काल था। वक्र-जड़ यानी तर्कबाजी। जिनकी बात में सार कम और निस्सार ज्यादा, तर्क ज्यादा। दुकानदार के पास जाकर कोई भावताव पूछे यह बुरा नहीं है, पर कोई मनुष्य बात तो पूछे ज्यादा और खरीदे बिल्कुल नहीं, उससे उसके मन में भी झुंझलाहट सी आ जाती है। इसी प्रकार जो कोई तर्क के लिए तर्क करे, आचरण कम

करे, उसे वक्र-जड़ कहा जाता है। इसीलिए इस जमाने की साधना को कठिन साधना कही गई है। पहले तो साधना ही कठिन है। कोई दूसरा साधुत्व ले भी लेता है तो उसका पालन कठिन है, और पालन भी करता है तो उसे ठेट तक पहुँचाना और भी कठिन है, पर साधना आखिर साधना ही है। उसके लिए मर्यादा अत्यन्त अपेक्षित है। बिना मर्यादा का साधक जीवन निभना मुश्किल है। जहाँ मर्यादा होती है, वहाँ संघ तो स्वयं ही बन जाता है, पर संघ का स्थिरत्व उसी अवस्था में रह सकता है जबकि मर्यादाएँ सुव्यवस्थित हों। इस दृष्टि से भगवान् महावीर ने बहुत बड़ा काम किया है। उनके सामयिक धर्म-संघों में जितना स्थिरत्व भगवान् महावीर का रह सका है उतना किसी का नहीं रह सका। बौद्ध-संघ में तो बुद्ध के निर्वाण के बाद ही अव्यवस्था हो गयी थी। इसका कारण भी यही था कि पहले तो उन्होंने इस ओर ध्यान दिया नहीं। फिर पानी आ जाने के बाद पाल कैसे लगायी जा सकती है?

साधना के मौलिक नियम हैं वे तो हैं ही, पर भगवान् महावीर ने साधना के व्यवहार पक्ष को भी कम महत्त्व नहीं दिया। इसीलिये उन्होंने यह व्यवस्था दी कि साधुओं और साध्वियों को अलग-अलग स्थान में रहना चाहिए। ब्रह्मचर्य की नवबाड़ का विधान भी इसी दृष्टिकोण का फल है। यद्यपि स्त्री का स्पर्श हो जाने मात्र से, अकेली स्त्री से बात करने मात्र से ब्रह्मचर्य खण्डित हो जाये, ऐसी बात नहीं है, पर फिर भी साधना की सुरक्षा की दृष्टि से और व्यवहार की शुद्धि की दृष्टि से उन्होंने यह विधान कर दिया कि साधुओं को स्त्री का स्पर्श नहीं करना चाहिए तथा अकेली स्त्री से बात नहीं करनी चाहिए। यही नहीं उन्होंने साधु-साध्वी के लिए यहाँ तक नियम बना दिया है कि उन्हें ऐसे गाँव में नहीं रहना चाहिए जहाँ साधु और साध्वियों के जंगल जाने का एक ही मार्ग हो। क्योंकि एक मार्ग होने से शरीर बाधा से निवृत्त होने के लिए एक ही स्थान पर जाना पड़ेगा। अतः ब्रह्मचर्य की साधना के लिए उन्होंने ऐसा नियम बना दिया। साधना को अक्षुण्ण रखने के लिए उन्होंने यह भी कहा कि—साधु को अकेला विहार नहीं करना चाहिए। साध्वियों को ३ से कम विहार नहीं करना चाहिए। शरीर चिन्ता के लिए किसी साधु को रात में बाहर जाना पड़े तो अकेला नहीं जा सकता। साध्वियाँ दो से कम नहीं जा सकतीं। यही कारण है कि आज २५० वर्ष हो जाने के बाद भी जैन-शासन में ये बुराइयाँ पनप नहीं पायीं। गौतम बुद्ध ने पहले तो स्त्रियों को प्रव्रजित नहीं किया। और प्रव्रजित किया तब इतनी सुन्दर व्यवस्था नहीं रह पायी। जिससे उनके संघ में अनेक बुराइयों ने हमला कर दिया और

भिक्षुओं की भावना सुरक्षित नहीं रह पायी। भगवान् महावीर ने साधुओं और साध्वियों को समान महत्त्व दिया। उनकी दृष्टि में साधुओं की तरह साध्वियों को भी उपदेश और आत्म-शुद्धि करने का अधिकार था, पर नियन्त्रण उन्होंने शुरू से ही रखा। साधुओं और साध्वियों का उतना ही सम्पर्क जितना उचित और आवश्यक समझा रखा और बाकी का निषेध कर दिया।

यद्यपि केवल मर्यादाएं ही कोई त्राण नहीं हैं। उनके पीछे भावना रहनी जरूरी है, पर केवल भावना से व्यक्ति चल सकता है, संघ नहीं चल सकता। भावना नहीं होने के कारण मर्यादाएं चाहे कितनी ही हों, फिर भी कभी-कभी गलती हो सकती है। अतः भावना तो रहनी ही चाहिए, पर मर्यादा से भावना को वेग मिलता है।

इस प्रकार कुछ मर्यादाएं तो मौलिक होती हैं, पर कुछ मर्यादाएँ साम्प्रदायिक होती है। साम्प्रदायिक मर्यादा का मतलब है—सम्प्रदाय विशेष की मर्यादा। इस दृष्टि से भिक्षु स्वामी ने तेरापंथ की अनेक विशेष मर्यादाएँ बाँधी हैं। भगवान् महावीर के बाद शायद ही कोई ऐसा आचार्य हुआ हो जिसने संघ-संगठन को इतना मजबूत किया हो। पिछले आचार्यों ने मर्यादाओं का संकलन किया है पर अपनी तरफ से नयी मर्यादाएँ बनाने वाले बहुत कम आचार्य हुए हैं। इस दृष्टि से स्वामीजी ने निश्चय ही एक बहुत बड़ा काम किया है। भगवान् ने यह कहा कि—साधु-साध्वियों को उस गाँव में इकट्ठा नहीं रहना चाहिए जहाँ जंगल जाने का एक ही मार्ग हो, उन्होंने यह नहीं कहा कि जहाँ अलग-अलग दरवाजे हों वहाँ साधु और साध्वी को इकट्ठा नहीं रहना चाहिए, पर स्वामी जी इससे भी आगे बढ़े। उन्होंने कहा कि—साधुओं को उस गाँव में नहीं रहना चाहिए जहाँ पहले से साध्वियाँ ठहरी हुई हों और न साध्वियों को वहाँ रहना चाहिये जहाँ साधु पहले से ठहरे हुए हों। अगर रास्ते चलते कभी वहाँ ठहरने का मौका भी पड़ जाये तो एक रात से अधिक नहीं ठहरना चाहिए। गुरु तथा बड़ों की आज्ञा से यदि अधिक दिन रहने का मौका पड़ जाए तो भिक्षा के घरों का अलग-अलग बँटवारा कर लेना चाहिए। हाँ, पहले दिन जब वे आवें तो उनकी भक्ति करनी चाहिए। उन्हें गोचरी में नहीं जाने देना चाहिये। भिक्षा में जो भी पदार्थ आये उसमें से अच्छा उन्हें देना चाहिये, पर इसके बाद सिवाय पक्खी के साध्वियों का साधुओं के स्थान पर और साधुओं का साध्वियों के स्थान पर आवागमन नहीं रहना चाहिए। यदि कारणवश कोई साध्वी आ भी जाए तो उसे अपने स्थान पर खड़े रहने देना, बैठी रहने देना, चर्चा-वार्ता आदि नहीं करनी चाहिए। साध्वियों

को कोई भी चीज लेनी देनी नहीं। इसमें गुरु-आज्ञा का अपवाद तो है ही। पर बिना विशेष आज्ञा के संघ के सभी सदस्यों पर यह मर्यादा लागू होती है।

जहाँ आचार्य रहें वहाँ उनसे आज्ञा लेकर साधु केवल अपने पूर्व सम्बन्धी साध्वियों को सेवा करा सकते हैं, पर बिना ज्ञातियों के किसी को किसी की सेवा करने और कराने का अधिकार नहीं है। यदि किसी कारणवश किसी से बात करनी भी पड़े तो दूसरे दिन 'गत दिवस वार्ता' सुनाने के समय सारी बात आचार्य को निवेदन करनी चाहिए। एक बार जयाचार्य के पास एक साधु ने कहा—साध्वियों के पास जो बात हुई उसे पूर्णत: याद कैसे रखा जा सकता है? जयाचार्य ने कहा, मर्यादा आखिर मर्यादा है। उसका पालन तो करना ही पड़ेगा। यदि किसी को याद नहीं रहता है तो उसे पन्ना और पेन्सिल अपने साथ ले जानी चाहिये। जो बातचीत, हो, उसी समय उसे लिख ली जाय ताकि दूसरे दिन वह आचार्य को निवेदन की जा सके।

ये सब मर्यादाएँ करने का उनका एकमात्र लक्ष्य था, जैसा कि उन्होंने स्वयं लिखा है—'सुखे साधुपन पालवानों उपाय कियो छै'—साधुपन किस प्रकार सुखपूर्वक पाला जा सके। यद्यपि अनेक साधु ऐसे हो सकते हैं कि जिनके सामने देवांगनाएँ भी शृंगार करके आ जाएँ तो विचलित नहीं होते, पर तो भी उनके लिए भी यह विधान है कि उन्हें एकान्त में स्त्री के साथ नहीं रहना चाहिए। स्वामीजी ने नववाड़ की चौपाई में कहा है:

देवांगना को देखकर, उसे चित्रवत् मानकर जो विचलित नहीं होता, उसे भी स्त्री के साथ एकान्त नहीं रहना चाहिए। और '**हत्थपाय पडिच्छिन्नं कन्ननास विगप्पियं। अविवास सयं नारी बंभयारी विवज्जए**' नाक, कान, हाथ, पैर कटी हुई १०० वर्ष की बूढ़ी स्त्री के पास भी ब्रह्मचारी को अकेला नहीं रहना चाहिए। क्योंकि—'**बलवान् इन्द्रियग्रामो**'—इन्द्रिय समूह बलवान है। अग्नि के पास पड़ा हुआ मक्खन का पिघलने से बचना कम सम्भव है। अतः ब्रह्मचारी को स्त्री-प्रसंग से बचने पर अध्यात्म-अनुभूति प्राप्त सन्तों ने जोर दिया है।

सझ सिणगार देवांगना आई चलावन तिण आगे चलियो
नही तोही रहिणो एकान्तवासी हो ब्रह्मचारी

इसका यह मतलब नहीं कि साधुओं पर अविश्वास है। पर यह एक व्यवस्था है। वह चाहे छोटी भी क्यों न हो पर उसका पालन होना आवश्यक है। आज कोई छोटी व्यवस्था—मर्यादा की परवाह नहीं कर भंग कर देगा तो कल वह बड़ी मर्यादा की भी क्या परवाह करेगा? अतः

मर्यादा के क्षेत्र में छोटी और बड़ी का विभेद नहीं होता। मर्यादा के प्रति लापरवाही का मतलब है उनके निर्माता पर अविश्वास। यदि उनपर अविश्वास हो गया तब तो फिर सब कुछ साफ है। वहाँ क्या साधना होगी और क्या संयम होगा ?

साधु को अगर वह आचार्य के पास हो तो प्रतिदिन गत दिवस वार्ता सुनानी चाहिए—यह स्वामीजी ने कहा था। गत दिवस वार्ता यानी कल उसने क्या-क्या किया था उसका आचार्य को निवेदन। प्रमुखतया इसमें यह रहता है—**कालोकाल स्वाध्याय की, आवस्सही, निस्सही, चउविसत्थव,** यथासमय किया, बड़े साधुओं को यथासमय वन्दना की, लिखत में मिति की तथा गोचरी में पानी की धार बँधी। दीखने में तो ये बातें छोटी-छोटी लगती हैं पर इनका महत्त्व कम नहीं है। आगमों में कहा गया है—**'अंगाणं किं सारो ? आयारो।'** अंगों का सार क्या है ? आचार ही अंगों का सार है। उसी प्रकार हमारे लिए स्वामीजी की मर्यादा सार है। इसीलिए प्रत्येक 'हाजरी' में और प्रतिदिन लेखपत्र में हम इसका स्मरण और प्रत्याख्यान करते हैं। यह त्याग केवल प्रथा रूप से नहीं होना चाहिए। प्रथा रूप से होनेवाला त्याग केवल प्रदर्शन है। प्रदर्शन में आत्मा नहीं होती। हमें आत्मश्रद्धा से त्याग करना चाहिए।

श्रावकों का भी यह कर्तव्य है कि वे साधुओं की दिनचर्या और आचार-व्यवहार से परिचित रहें। इसका मतलब यह नहीं कि वे छिद्रान्वेषी बनें। पर सहज रूप से आचार-व्यवहार में यदि किसी की गलती ध्यान में आ जाए तो उसे नागवार करना भी उचित नहीं है। इसके लिए श्रावकों को साधुओं के आचार से परिचित रहना भी आवश्यक है। इसीलिए प्रकट में श्रावकों को सारी आचार-विधि बतायी जाती है।

६५ : आत्मशुद्धि का साधन

यह बात सही है कि कोई मनुष्य किसी को उन्नत नहीं बना सकता। और हमारी तो यह निश्चित मान्यता है कि स्वयं ईश्वर भी किसी को उन्नत नहीं बना सकता। यह कहकर मैं ईश्वर की अवज्ञा नहीं कर रहा हूँ, पर वस्तु-स्थिति ही ऐसी है कि मुझे यह बताना ही पड़ेगा। यदि ईश्वर ही किसी को उन्नत या सुखी बना सकता है तो संसार में सुखी और दुःखी दोनों क्यों ? उसे तो सब को सुखी ही सुखी बनाना चाहिए था। पर संसार में अनेक दुःखी भी हैं। और फिर ईश्वर तो समदर्शी है। वह किसी को सुखी या दुःखी बनाएगा ही क्यों ? अतः स्पष्ट है कि अपने भाग्य

का निर्माता मनुष्य स्वयं ही है। हम जो ईश्वर से प्रार्थना करते हैं उसका उद्देश्य भी यही होना चाहिए कि हम उनसे प्रेरणा पाएँ। उनके बताए मुक्ति पथ का स्मरण करें। ईश स्तुति का यदि हमने यह सही अर्थ समझा और आचरण किया तो निश्चय ही हम अपने कर्तृत्व को दुनिया के समक्ष प्रस्तुत कर सकेंगे। इसी प्रकार प्रवचनकार भी किसी को उन्नत कर सकें यह सम्भव नहीं है। वे तो केवल प्रेरणा ही दे सकते हैं। उन्नत तो मनुष्य स्वयं अपने आप होता है। हाँ, यह सही है कि प्रेरणा देनेवाला पहले स्वयं सुधरा हुआ हो, नहीं तो फिर उसके उपदेश से प्रेरणा मिले यह कम सम्भव है।

आज बहुत से लोग कहते हैं कि हम संसार की सेवा करना चाहते हैं। यह सही है या नहीं—यह तो मैं नहीं कह सकता, पर जबतक अपने जीवन को वैसा नहीं बनाया जायगा तब तक यह कहना भी ढोंग है। सुधारक होना बहुत छोटी बात नहीं पर वास्तव में सुधरा हुआ होना और बहुत बड़ी बात है। इसीलिए भारतवर्ष में यह माना गया है कि उपदेश देने का अधिकार उन्हें ही है जो पारदर्शी-सर्वज्ञ (Omniscient) हैं। हम भी जो उपदेश देते हैं वह पारदर्शियों द्वारा बनाये गए तत्त्वों के आधार पर ही दे सकते हैं। अन्यथा हमें भी उपदेश देने का कोई अधिकार नहीं है।

अणुव्रत धर्म का आन्दोलन है या नहीं? यह प्रश्न अनेक बार आया करता है। मैं इसका उत्तर दिया करता हूँ यह धर्म का आन्दोलन है भी और नहीं भी। एक धर्माचार्य के मुंह से ऐसी बात सुन कर शायद आप चौंकेंगे, पर मेरा तो सिद्धान्त ही स्याद्वाद जो ठहरा। अतः इस प्रश्न को भी मुझे इस दृष्टिकोण से देखना पड़ेगा—एक अणुव्रती यदि अहिंसक बनता है, झूठ बोलना छोड़ता है, अपरिग्रही बनता है—यह धर्म नहीं तो और क्या है? दूसरी दृष्टि से यह जैन, बौद्ध, वैदिक और ईसाई आदि किसी एक का आन्दोलन नहीं है। अतः यह धर्म का आन्दोलन भी नहीं है। इस दृष्टि से वह एक नीति का आन्दोलन है—सदाचार का आन्दोलन है, पर आज स्थिति दूसरी है। धर्म का नाम आते ही लोग नाक-भौंह सिकोड़ने लग जाते हैं। खेद का विषय है कि जो धर्म अमृत बनकर आया था उसे आज लोगों ने विष बना दिया है। जो धर्म मनुष्य की आत्मोन्नति का साधन बन कर आया था उसे आज आत्म-पतन का रास्ता बना दिया गया है। इसीलिए धर्म का नाम आते ही बुद्धिवादियों के विचार हिल उठते हैं। उसके कुछ कारण भी हुए हैं। किसी को कोई भी काम कराना हुआ वह सीधे तो होना सम्भव नहीं था। अतः हर काम को धर्म का जामा पहना दिया गया। धर्म के नाम पर खून की नदियां बहीं। धर्म के

नाम पर देश का विभाजन हुआ। सती प्रथा जैसी कुप्रथाएँ भी धर्म के नाम पर प्रचलित की गयी। आज भी धर्म के नाम पर अनेक काम करवाए जाते हैं। यह धर्म को ठीक प्रकार से नहीं समझने का ही परिणाम है। बहुत से लोग आज भी यह समझते हैं—गुरु का चरणामृत पीने मात्र से ही उनका कल्याण हो जाएगा, पर वास्तव में यह धर्म नहीं। कल्याण तो तब होने वाला है जब धर्म गुरुओं के द्वारा बताए गए मार्ग का अनुसरण किया जाएगा। उन्होंने जो पथ अपनाया है, उसे अपना पथ बनाया जाएगा।

धर्म के साथ यह बहुत बड़ा अन्याय हुआ है कि उसमें सब प्रकार के अनिवार्य कार्यों से समेट लिया गया। जिस कार्य को करने से अपना काम चले उसे ही धर्म मान लिया गया। यह धर्म के साथ अच्छा व्यवहार नहीं हुआ। जो धर्म आत्म-शुद्धि का साधन था उसे जीवन चलाने का साधन मान लिया। व्यापक अर्थ में वह कर्तव्य जो संसार के लिए आवश्यक होता है उसे भी धर्म मान लिया जाता है, पर उस दृष्टि से फिर हिंसा भी धर्म हो जाएगी। देश पर आक्रमण होने पर प्रतिरक्षा के रूप युद्ध में होने वाली हिंसा भी धर्म हो जाएगी। कौरवों और पाण्डवों का युद्ध 'धर्म-युद्ध' कहलाया था, वह इसका ही परिणाम था। व्यापक परिभाषा में यह चलता है, पर वास्तव में तो आत्म-शुद्धि का साधन ही धर्म है। जहाँ तलवार चले वहाँ धर्म होना मान लेना धर्म के वास्तविक अर्थ को नहीं समझने का सूचक है।

इसी प्रकार अनेकों की रक्षा में थोड़ों की हिंसा को भी कई लोग क्षम्य मान लेते हैं। हिंसा आखिर हिंसा है। थोड़ी भी हिंसा अहिंसा नहीं हो सकती। अहिंसा का दृष्टिकोण है कि एक की भी हिंसा नहीं हो। इसीलिये तो साधु थोड़ी सी भी हिंसा में अपना आत्मोत्सर्ग कर देते हैं, पर हिंसा नहीं कर सकते। राजनीति में यह चलता है, पर मुश्किल तो यह है कि लोग एक लाठी से सबको हाँकना शुरू कर देते हैं। यहाँ तक कि कई जैनाचार्यों ने भी यह कह दिया है कि **"चुण्णिज चक्कवट्टी सेणा सवि संघ कज्जम्मि"**—संघ की रक्षा के लिए भले चक्रवर्ती की सेना को नष्ट कर दो, वह हिंसा नहीं है। यह उस युग की वाणी है जबकि धर्म सम्प्रदायों में आपसी संघर्ष चलते थे। अपने सम्प्रदाय और जाति की रक्षा के लिए ऐसा कह दिया गया था, पर यह अहिंसा की वाणी नहीं है। वास्तव में तो वह धर्म की रक्षा है ही कहाँ? हिंसा के द्वारा की जानेवाली रक्षा में अधर्म तो पहले ही हो चुका। अतः उसे धर्म माना ही कैसे जाये? गांधी जी ने भी यह कहा था—'अहिंसा से भले १०० वर्षों बाद स्वराज्य

मिले वह मंजूर है। पर हिंसा से यदि आज भी स्वराज्य मिलता है तो मुझे वह नहीं चाहिये, क्योंकि साध्य-शुद्धि में वे साधन-शुद्धि को भी उतना ही महत्त्व देते थे। इसी प्रकार निर्बल की रक्षा के लिए सबल को मार देना भी धर्म नहीं है।

अतः आज प्रत्येक बुद्धिवादी को यह सोचना है कि वह धर्म को बुरा नहीं बताए। तथाकथित धर्मात्माओं ने जिन्होंने अपने स्वार्थ से धर्म को बदनाम किया, जरूर इसके कारण बने हैं। यह अपने स्वार्थ का ही परिणाम है कि कुछ लोगों ने धर्म को भी जाति-विशेष में बांध दिया। अमुक जाति को ही धर्म का अधिकार है, यह कहकर उन्होंने निश्चय ही धर्म का गला घोंटा है। धर्म एक जाति में क्या समूची मानव जाति में भी नहीं बँधता। वह प्राणिमात्र के लिए है। क्योंकि धर्म कही दूसरी जगह नहीं रहता। अपनी आत्मा में ही रहता है। अतः किसी को भी उससे वंचित नहीं किया जा सकता। बन्धुओ! मै आपसे क्या कहूँ—मुझे तभी अत्यधिक प्रसन्नता होगी जब धर्म में जाति-पाति के भेद-भाव को बिल्कुल मिटा दिया जाएगा। जब कोई भी मनुष्य प्रत्येक स्थान को अपना घर मान कर धर्म करने में स्वतन्त्र होगा। अणुव्रत संसार में यही काम करना चाहता है। उसने कुछ काम किया है, बहुत कुछ करना बाकी है। अतः आज के दिन में आपलोगों से यह कहना चाहूँगा कि आप उसकी भावना को समझें और अपने जीवन में उतार कर आन्दोलन को उत्तरोत्तर सफल बनाने की कोशिश करें।

अणुव्रत-प्रेरणा दिवस, '५७

६६ : शान्ति का निर्दिष्ट मार्ग

आज की दुनिया में शान्ति कौन नहीं चाहता? आज प्रश्न तो यह है कि शान्ति के माने क्या? शास्त्रों में इस प्रश्न के उत्तर में कहा है—**"संति निरोह माहु"**—निरोध ही शान्ति है। जब तक वृत्तियाँ खुली रहेंगी तब तक शान्ति का निर्बाध पथ पाना भी असम्भव है। अतः कोई शान्ति चाहेगा तो उसे निवृत्ति का पथ अपनाना पड़ेगा पर अगर कोई पूर्ण निवृत्ति नहीं कर सके तो क्या करना चाहिए। उसके लिए शास्त्रों में कहा गया है—**'सुद्धेण उवेइ मोक्ख'** शुद्ध क्रिया के द्वारा मोक्ष—शान्ति पायी जा सकती है। शुद्ध क्रिया करने का अर्थ है—अशुद्ध से निवृत्ति। उसका

निवृत्यंश तो शान्ति का साधन है, और शुद्धत्व भी शान्ति का साधन है। यथशक्ति अगर कोई अशुद्ध क्रिया से पूर्ण निवृत्त नहीं हो सकता तो कम से कम अशुद्ध प्रवृत्ति का त्याग करे। उसके त्याग के बाद शुद्ध स्वयं शेष रह जायेगा। वह भी शान्ति का ही सन्देशवाही है।

बहुत से लोग कह देते हैं कि जैन तो केवल निवृत्ति-त्याग में ही विश्वास करता है। उनमें निषेध ही निषेध है, विधेय कुछ भी नहीं। अणुव्रतों के बारे में भी कुछ लोगों का कहना है कि उसके नियम निषेधपरक अधिक हैं, विधेयक कम। यह सच है कि जीवन का विरोध पक्ष निर्बाध है। पर उसका विधेय पक्ष भी बन सकता है। इसीलिए कहा गया है—यदि तुम प्रवृत्ति भी करो तो शुद्ध करो। उसमें तुम्हें शान्ति—शाश्वत शान्ति प्राप्त होगी। अतः आर्षवाणी के आधार पर मैं आपसे कह सकता हूं कि आप अपनी वृत्तियों का निरोध करें और यह यदि सम्भव नहीं है तो ज्यादा से ज्यादा सत्-प्रवृत्ति करें, यही अणुव्रत का सही मार्ग है।

इसी भावना को हम हिंसा और अहिंसा शब्द में समझ सकते हैं। अहिंसा यानी निवृत्ति तथा शुद्ध प्रवृत्ति। हिंसा यानी—अशुद्ध प्रवृत्ति। प्रश्न हो सकता है कि व्यापक हिंसा है या अहिंसा? कुछ लोग हिंसा को व्यापक मानते हैं। मेरी दृष्टि में अहिंसा व्यापक है। क्योंकि यदि आप हिंसा करेंगे तो सम्भवतः अपने शत्रुओं की करेंगे। या कहीं आवश्यकतावश करेंगे। ज्यादा हुआ तो कुतूहल या, प्रमादवश किसी की हिंसा कर लेंगे। पर दिन के २४ घन्टों में से वह तो केवल सीमित काल के लिए हुई। कोई भी मनुष्य क्रिया रूप से प्रतिक्षण हिंसा नहीं कर सकता। अहिंसक—यदि वह चाहे तो प्रतिक्षण बन सकता है। तब व्यापक हिंसा हुई या अहिंसा? इस दृष्टि से अहिंसा के नियम बता दिये जायें तो हिंसा तो अपने आप निरुद्ध हो जायेगी।

निषेध तत्त्व व्यापक होते हुए भी वह थोड़े समय में बताया जा सकता है। विधायक तत्व उस अपेक्षा कम व्यापक होते हुए भी थोड़े में नहीं बताया जा सकता। इसलिये अणुव्रतों में निषेध को अधिक स्थान दिया गया है। वैसे निषेध और विधेय के दोनों रास्ते मैंने आपके सामने रख दिये हैं, आप अपनी शक्ति के अनुसार अपना निर्माण कर सकते हैं।

जबतक मनुष्य अणुव्रत-आदर्श को नहीं अपनाएगा, तब तक न तो उसका जीवन शुद्ध बनेगा और न उसकी दिशा। आज मनुष्य अतिशय क्रूर बन गया है। जो लोग रक्षक थे वे भी आज भक्षक बन गये हैं। एक जंगल में एक बार कुछ पशुओं ने सोचा—हम नाताकत हैं। अतः

कोई भी मार डालता है, पर अब हमें कोई ऐसा उपाय करना चाहिए जिससे कोई भी जानवर हमारी तरफ आँख उठाकर भी देख न सके। यह सोच उन्होंने अपनी सुरक्षा के लिए पितृहीन एक शेर के बच्चे को पाल लिया। इससे जानवर उससे डरने लगे, और उनके पास नहीं आते। इस प्रकार एक प्रकार से वे सारे अभय हो गये। थोड़े दिन तक यह क्रम रहा। शेर का बच्चा भी अब धीरे-धीरे बड़ा होने लगा, पर अकस्मात् उस शेर ने—एक शेर को दूसरे जानवरों को मारते देखकर उसके भी सुप्त हिंसा-वृत्ति जाग्रत हो उठी। उसने भी अपना पंजा उठाया और पास खड़े एक पशु को एक पंजा दे मारा। वह उसी क्षण धराशायी हो गया। शेर के बच्चे को भी अपनी शक्ति का भान हुआ और साथ ही साथ मांस का स्वाद उसे अच्छा लगा। अब वह प्रतिदिन अपने गिरोह के जानवरों को मारने खाने लगा। जो रक्षक था, वही भक्षक बन गया। अब आप ही सोचिए—उन पशुओं की क्या स्थिति हुई होगी? क्या वैसी ही स्थिति आज के संसार की नहीं हो रही है? वे ही लोग जिन्हें रक्षा के लिए रखा गया है, दूसरों का विनाश करते नहीं सकुचाते। वे ही वैज्ञानिक साधन, जिनका निर्माण सुरक्षा के लिए हुआ था, आज मनुष्य के ध्वंस के साधन बन गए हैं।

मनुष्य के हाथ में सब कुछ है। वह चाहे तो अपने प्राप्त साधनों का दुरुपयोग कर सकता है और चाहे तो सदुपयोग कर सकता है, पर आज उसका अधिकतर दुरुपयोग ही हो रहा है। आवश्यकता है—उस दुरुपयोग को सुधारा जाए, पर यह भी तो एक बहुत बड़ी समस्या है कि जो सुधारने वाले हैं, वे स्वयं जो बिगड़ गए हैं। अतः आज सुधार का काम किसी व्यक्ति विशेष पर नहीं रहा है। वह तो सबका है। यह सोचकर ही हमने अणुव्रत-आन्दोलन की शुरुआत की थी, पर इस ओर लोगों का ध्यान कम जाता है।

ध्वंस की ओर मनुष्य की सहज गति है। आज भी अनेक लोग हिन्दी-आन्दोलन के सम्बन्ध में जेलों में जाते हैं। वहाँ कोई लड्डू थोड़े ही मिलते हैं, पर फिर भी ध्वंस में लोगों का आकर्षण है। विद्यार्थी भी तोड़-फोड़ के कामों में आगे रहते हैं। उनको यदि चरित्र-निर्माण की बात कही जायेगी तो झट पीछे हट जाएंगे। ध्वंस सहज है, निर्माण कठिन है। घड़ा फोड़ना सहज है, पर बनाना मुश्किल है।

अनेक लोगों से यह पूछा जाता है—आजकल क्या करते हो? तो उत्तर मिलता है—व्यापार करते हैं। आजकल व्यापार करना तो जान को जोखिम में डालना है। कर की कारा और ब्लैक की कालिमा से बचना

तो आज असंभव-सा हो गया है। मुझे उनकी दुःख भरी कहानी सुनते-सुनते हँसी आ जाती है। रोटी-कपड़े के लिए मनुष्य जब इतने कष्ट सह सकता है, तो जीवन विकास की ओर उसका ध्यान क्यों नहीं जाता? जीवन-विकास में आने वाले कष्टों से वह क्यों घबड़ा जाता है?

ब्लैक का पैसा भी आज लोगों के लिए 'बुढ़िया के घर में शेर कैसे समाये' वाली कहावत सिद्ध हो रही है। सचमुच पाप का पैसा हजम नहीं हो सकता। हम इस बात को लोगों को रोज समझाते थे, पर हमारी बात को अमल में नहीं लाए। उसी का यह परिणाम है कि आज डण्डे के बल पर वे बातें माननी पड़ रही हैं। खैर, जो हुआ सो तो हुआ, अब भी समय है, मनुष्य चेते। जब मनुष्य पैसे के लिए तिल-तिल कर मरने को तैयार हो जाता है तो अणुव्रत के इस राजपथ पर चलने में उसे झंझट क्यों लगता है?

आप सच मानिए, अपनी छलना स्वयं के लिए घातक होती है। राजा जी की वह कहानी मुझे याद आ जाती है। एक बार राजा ने अपने कारीगर को जो कि उसके यहाँ काम करता करता बूढ़ा हो चला था, एक भव्य प्रासाद बनाने का आदेश दिया। उसके लिये पर्याप्त साधन भी जुटा दिए। कारीगर ने तुरन्त काम शुरू कर दिया। मन में पाप आ गया। उसने बेईमानी की। प्रासाद को बाहर से अति सुन्दर बना दिया, अन्दर में घटिया माल लगा दिया। आधे रुपयों का गबन कर गया। कारीगर ने प्रासाद में राजा को पधारने व उसका उद्घाटन करने के लिए कहा। राजा ने देखा—महल बहुत सुन्दर बना है। उसने सभा मण्डप में बोलते हुए कहा—कारीगर ने महल बहुत ही सुन्दर बनाया है। मैं पूर्णतया खुश हूँ और यह महल मैं इसे ही इनाम स्वरूप देता हूँ। वह तो मन में छटपटाने लगा। उसने सोचा—मैंने राजा के साथ छलना की थी, पर वह तो मेरे साथ ही हो गयी। यह सुन्दर प्रासाद कुछ ही वर्षों में ढह जाएगा। इसी प्रकार अनेक परिस्थितियों में मनुष्य अपने आप छला जाता है। अतः अणुव्रत आपको यह बताता है कि आप कम से कम अपने साथ तो धोखा न करें।

बहुत-से लोग अणुव्रत के प्रशंसक हैं, पर मुझे यह जानकर खेद होता है कि उनमें से ऐसे भी अनेक लोग हैं, जिनको यह पता नहीं कि अणुव्रत के नियम कितने हैं? ऐसा लगता है—मानो लोगों का साहित्य से सम्पर्क रहता ही नहीं। इन छोटी-छोटी बातों के लिए उन्हें बार-बार कहा जाए, क्या यह उचित होगा? एक बार बम्बई में भूदान की कार्यकर्त्री बहन विमला ठक्कर से मेरे सामने किसी भाई ने भूदान के बारे में प्रश्न पत्र

लिया। बहन ने तड़क कर कहा—क्या आपने भूदान साहित्य भी नहीं पढ़ा है? उसने उस प्रश्न का जवाब नहीं दिया। अतः सबसे पहले अणुव्रतों के समर्थकों का यह कर्तव्य है कि वे उसके साहित्य को पढ़ें। बहुत सी बातें स्वयं ही समझ में आ जाएँगी। फिर अपने को भलीभाँति तोलकर नियम को ग्रहण करें, इसमें ही सार्थकता है।

सुजानगढ़,
पर्युषण पर्व, '५७

६७ : अहिंसा दिवस का उद्देश्य

आज अहिंसा दिवस का कार्यक्रम है, पर इसका उद्देश्य इतना ही नहीं है कि सिर्फ हम एक दिन या कुछ घण्टों के लिए यहाँ इकट्ठे हो जाएँ और बातें कर लें। वस्तुतः इसका अर्थ यह है कि हम अहिंसा की भावना को व्यापक बनाएं। यहाँ इकट्ठा होना तो इसका एक रास्ता मात्र है। आज जैसे यहाँ अनेक लोग प्रेरणा पाने के लिए एकत्र हुए हैं वैसे ही अनेक जगह सहस्रों नर-नारी इसी सादगी के साथ अहिंसा की प्रेरणा पाएँगे, इस माध्यम से लोग एक दिन के लिए अहिंसा का अवलंबन करेंगे, पर वास्तव में यदि उन्होंने सही रूप में अहिंसा का रसास्वादन किया तो यह कार्यक्रम स्वयं आगे बढ़ जाएगा। वे जीवन के प्रत्येक क्षण में अहिंसक बनने का प्रयास करेंगे। यही आज के अहिंसा दिवस का उद्देश्य है।

अणुव्रत-आन्दोलन के अन्तर्गत यह कार्यक्रम प्रतिवर्ष देश भर में मनाया जाता है। अणुव्रत का लक्ष्य है जन-जन में सदाचार की ज्योति जलाना। इसी के लिए कि सदाचारपूर्ण—अहिंसक जीवन कितना सुखदायी होता है लोग इसका एक दिन के लिए प्रयोग करें और यदि यह सही है तो फिर जीवन में उससे पाएँ।

अहिंसा शब्द सबके लिए समान रूप से प्यारा है। अहिंसकों के लिए वह प्यारा हो इसमें तो कोई बड़ी बात है ही नहीं, पर हिंसकों के लिए भी यह समान रूप से प्यारा है क्योंकि हिंसक भी यह नहीं चाहेगा कि उसके लिए हिंसक शब्द का व्यवहार किया जाए। दिन में पचास बार झूठ बोलनेवाला व्यक्ति भी झूठा कहलाते शर्माएगा; उसी प्रकार हिंसक से हिंसक व्यक्ति को भी प्यारा तो अहिंसक शब्द ही लगेगा। यह दूसरी बात है—कि वह इसे वास्तव में ही चाहता है या केवल ढोंग रूप में ही। प्रायः देखने में आता है कि हरेक शब्द का तत्त्व कम लिया जाता है, आभास ज्यादा

काम में आता है। यदि वाणी जैसी ही अहिंसा-निष्ठता व्यवहार में आ जाए तो स्वर्ग स्वयं पृथ्वी पर नहीं उतर आए। स्वर्ग या नरक चाहे कोई मानता है या नहीं पर स्वर्गीय आनन्द और नारकीय जीवन ये शब्द स्वयं हमें अपने अस्तित्व की ओर संकेत करते है। यदि कोई मुझे पूछे कि स्वर्ग और नरक कहाँ है? तो मैं कहना चाहूँगा कि वे इसी पृथ्वी पर हैं। नारकीय जीवन तो आज लोग व्यतीत कर ही रहे हैं। जगह-जगह किये जाने वाले ईर्ष्या, द्वेष आत्म-प्रवंचना से बढ़कर और नारकीय जीवन क्या हो सकता है? मैं बहुधा कहा करता हूँ—लोग सिनेमा देखने क्यों जाते है? इसीलिए न कि वहाँ उन्हें नए नए दृश्य देखने को मिलते हैं, पर आज तो घर-घर में सिनेमा चल रहे हैं।

"पुत्र-पिता कहीं चढ़े अदालत, पति-पत्नी की भी यह हालत" तब फिर सिनेमा और क्या होगा? ऐसे पुत्र बहुत कम होंगे जो अपनी माता के प्रति सम्मान की भावना रखते हों। सम्भव तो यह है कि आज माता को गाली देने वाले अनेक लोग मिल जाएँगे। जिस माता को शास्त्रों में **'देवयं गुरु जननी'** कहकर बहुत बड़ा सम्मान दिया है, उसे गाली देकर तिरस्कृत करना नया दृश्य नहीं तो और क्या है? छात्र और अध्यापकों में आज प्रेम नहीं है। मुनीम और सेठ में आज विश्वास नहीं है। यत्र तत्र-सर्वत्र ऐसे दृश्य प्रायः मिल ही जाते हैं। सब कोई एक दारुण वेदना सहते चले जा रहे हैं पर चाहता कोई नहीं। सब की स्वर्गीय आत्मा अन्दर से रोती है, पर यदि आप स्वर्गीय सुख चाहते हैं तो अहिंसा की छोटी-छोटी बातों को जीवन में उतारें। मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ, इसमें कोई विशेष कठिनता नहीं। सिर्फ भावना के, परिवर्तन का सवाल है। यदि आपने अपनी भावना को परिवर्तित कर लिया, परिमार्जित कर लिया तो सचमुच स्वर्ग इस धरती पर उतर आएगा।

अहिंसा का अर्थ—भगवद् वाणी में कहा गया है—**न हणे पाणिणो पाणे, भयवेराओ उवरए**—अहिंसक वह है जो किसी प्राणधारी के प्राणों को नहीं लूटता है। प्राणधारी से मतलब केवल मनुष्य ही नहीं है। बल्कि संसार में जितने भी जीवधारी प्राणी हैं उन्हें नहीं मारता वह अहिंसक है और जो भय से निवृत्त है। जो अभय नहीं है वह क्या अहिंसक? दूसरों के डर से जो घर में छुप कर यह कहे कि मैं किसी को मारता नहीं वह दूसरों को क्या मारे स्वयं मरा हुआ है। इतना ही नहीं अहिंसक का तीसरा लक्षण है वैर से उपरत—निवृत रहना। किसी को नहीं मारना ही अहिंसा नहीं है, उसकी पूरी व्याख्या है—अव्यापादन, अभय और अवैर। इस त्रिपदी में अहिंसा का सारा सार समा गया है। जिस प्रकार भगवान् ने—**उपन्नेवा,**

विगोहेवा धुवेवा"—इस त्रिपदी में गौतम को सारा तत्त्व-दर्शन दे दिया उसी प्रकार इस त्रिपदी में अहिंसा का भी सारा विवेचन समाया हुआ है।

अव्यापादन का स्वरूप समझाते हुए शास्त्रों में कहा गया है—**'सव्वे पाणा सव्वे सत्ता सव्वे भूया सव्वे जीवा न हंतव्वा न परितावेयव्वा न अज्झो-इव्वा'**—अर्थात् किसी भी प्राणी को मारो मत, परिताप मत पहुँचाओ, कष्ट मत पहुँचाओ—यह अहिंसा का आदर्श सूत्र है। पर इसे पूर्णतः तो वे ऋषि महर्षि ही अपना सकते है जो किसी कार्य के लिए हिंसक नहीं बनते। यहां तक कि अपने शरीर निर्वाह के लिए भी वे किसी प्रकार की हिंसा नहीं करते। सुविधाजनक और वैज्ञानिक आविष्कारों का भी उपयोग नहीं करते। यह एक लम्बा विवाद का विषय है कि वे भी पूर्ण अहिंसक बन सकते हैं या नहीं। पर आज के दिन हमें विवाद में नहीं जाना है। अहिंसा दिवस हमें विवाद मिटाने की सलाह देता है तो आज तो कम-से-कम हम इस विवाद में पड़ते ही नहीं, पर इतना तो तय है कि अहिंसा में हम सबका विश्वास है।

यदि कोई पूर्णतः अहिंसा को नहीं अपना सकता तो कम से कम निरपराध प्राणी की हिंसा तो मत करो। अपना संरक्षण करते कोई जीव मर जाता है, यह दूसरी बात है पर आक्रांता बनकर तो किसी को मत मारो। चलते-फिरते निरपराध प्राणी की घात तो मत करो। आप कहेंगे यह बात तो ठीक है, पर हम खेती करते हैं, हल के नीचे कोई जीव आकर मर जाता है। उसने हमारा क्या अपराध किया था? रात के वक्त चलते समय कोई जीव पैरों के नीचे आकर मर सकता है उसने हमारा क्या अप-राध किया था? फिर भी उसकी मृत्यु तो हो ही जाती है। आप यदि उससे नहीं बच सकते तो नहीं बच सकते पर कम से कम संकल्प पूर्वक तो किसी को नहीं मारो।

अहिंसा का दूसरा रूप मैत्री है। कई लोग किसी भी प्राणी को मारते तो नहीं पर किसी दूसरे की प्रगति देख कर जलते हैं या नहीं? व्यापारी लोग शायद जीवन में कभी हथियार नहीं उठाते, पर उनकी कलम किस तलवार से कम है? गरीबों को चूसने में क्या हिंसा नहीं होती? किसी को मार देना ही हिंसा नहीं है, मन वचन और वाणी से कोई भी असद् प्रवृत्ति करना भी हिंसा ही है। लोग जीव मारने वाले व्यक्ति को कसाई कहते हैं, पर जैन-परिभाषा में क्रोध करने वाले को भी कसाई कहा है। जाति मात्र से कोई कसाई और चंडाल नहीं हो जाता वह तो अपने आचरणों से होता है। गौतम बुद्ध के बारे में एक प्रसंग आता है—एक बार एक सम्राट् ने किसी चोर को चोरी के अपराध में मृत्यु दण्ड दे दिया। चोर को

मारने के लिए एक चाण्डाल को बुलाया गया। उसका नाम था उत्पल। वह आया। चोर को मारने से उसने इन्कार कर दिया। उसे बहुत समझाया गया, पर वह माना नहीं। आखिर राजा ने आदेश दिया—राजाज्ञा के विरुद्ध आचरण करने के कारण इसे भी मौत के घाट उतार दिया जाए। फिर उसके छोटे भाई को बुलाया गया। उसने भी मारने से इन्कार कर दिया। राजा ने उसे भी मृत्यु-दण्ड दे दिया। फिर उससे छोटे भाई को बुलाया गया, पर आश्चर्य कि उसने भी अपने बड़े भाइयों का अनुसरण किया। इस प्रकार पाँच भाई बुलाए गए पर पाँचों ने ही ऐसा घृणित कार्य करने से इन्कार कर दिया। आखिर छोटे से छोटा छठा भाई बुलाया गया। उसने भी मारने से इन्कार कर दिया तो राजा ने उसे भी मारने का आदेश दे दिया, पर इतने में उसकी बूढ़ी माँ आ पहुँची और हाथ जोड़ प्रार्थना करने लगी—राजन्! आप इसे मारने का आदेश न दें। राजा को इससे और भी आश्चर्य हुआ। वह कहने लगा—तुम्हें अपने पाँच पुत्रों को मरने पर जरा भी दुःख नहीं हुआ और छठे पुत्र के मरने का इतना दुःख हुआ इसका क्या कारण? वह कहने लगी—इन पाँच पुत्रों पर तथागत का उपदेश पूर्णरूप से काम कर गया था। अतः वे मर भी जाते तो मुझे दुःख नहीं होता, पर यह छोटा लड़का अभी बच्चा है, कुछ कच्चा भी है। तथागत का उपदेश अभी इसपर पूर्ण रूप से जम नहीं पाया है। अतः देखती हूँ मरते वक्त यह अपनी भावना को दूषित बना कर कहीं अधोगति में नहीं चला जाए। अतः इसके जीवन-दान को मैं आप से प्रार्थना करती हूँ। राजा ने यह सुना तो उसका क्रोध एकदम शान्त हो गया और उस बुढ़िया से कहने लगा—माता! तुमने मेरी आँखें खोल दी हैं। मुझे जल्दी बताओ, तथागत कहाँ हैं? उसने कहा—और तो मुझे पता नहीं वे मेरे घर भिक्षा के लिए आते है। उसी समय उन्होंने हमारे परिवार को उपदेश से आप्लावित किया था। राजा को अब प्रकाश हुआ और वह भी तथागत की शरण में आ गया तथा अनुपम शान्ति का रसास्वादन किया। तो आप ने देखा, चाण्डाल और कसाई कोई जाति से नहीं होता। अपने आचरण से होता है। महाभारत में भी कहा है:

सर्वजातिषु चाण्डालाः, सर्वजातिषु ब्राह्मणः।
ब्राह्मणेऽपि चाण्डालाः, चाण्डालेष्वपि ब्राह्मणः॥

अतः जो जैसा आचरण करेगा उसकी जाति भी वैसी हो जायेगी। चाण्डाल का मतलब है क्रूरकर्मी। वह किसी भी जाति में हो सकता है।

अहिंसा का तीसरा रूप अभय है। अव्यापादन और मैत्री अगर नहीं होती है तो मनुष्य अभय भी नहीं होता।

संसार जब तक अहिंसा के पथ पर नहीं चलेगा तब तक विश्वशान्ति असम्भव ही है। यह बात आज मैं क्या कहूँ कोटि-कोटि कण्ठों में ये स्वर गूंज रहे है। बैर से बैर नही मिट सकता। शस्त्र भी शस्त्रों से मिटने वाले नहीं हैं। प्रतिस्पर्धा, प्रतिस्पर्धा से बढ़ती हैं उसी प्रकार शस्त्र भी शस्त्रों से कम होने वाले नहीं हैं। इसीलिए शास्त्रों में कहा है—**अत्थि सत्थं परेण परं नत्थि असत्थं परेण परं।** शस्त्र पर से पर है—एक से एक बढ़ कर हैं, पर अशस्त्र में पर से पर नहीं है। कितना अच्छा हो, यह प्रतिस्पर्धा आज शस्त्रों से उठ कर चरित्र पर आ जाए। एक बार काशी और कौशल देश के राजा एक तंग गली में आमने-सामने हो गए। सारथियों ने एक दूसरे से कहा—हटो! हमारे रथ में कौशल-नरेश हैं—हमारे रथ में काशी-नरेश हैं, पर दोनों में कम कौन होता। कोई भी पीछे हटने के लिए तैयार नहीं हुआ। आखिर दोनों ने युक्ति निकाली। जो बड़ा हो वह आगे निकल जाए, पर मौका ऐसा आया कि अवस्था और राज्य-क्षेत्र की दृष्टि से दोनों बराबर निकले। दोनों ३० वर्ष की अवस्था और ३०० योजन क्षेत्र के अधिपति थे। आखिर कौशल-नरेश के सारथी ने कहा—हमारा रथ आगे निकलेगा। क्योंकि हमारे राजा कुशल शासक हैं। वे अच्छे के साथ अच्छा व्यवहार करते हैं और बुरे के साथ बुरा। नहीं हमारा रथ आगे निकलेगा। काशी-नरेश के सारथी ने दृढ़तापूर्वक कहा—क्योंकि हमारे नरेश अच्छे के साथ तो अच्छा व्यवहार करते ही हैं, पर बुरे के साथ भी अच्छा बर्ताव करते हैं। उसने बाजी जीत ली और उसका रथ पहले निकल गया। आचार-पक्ष में यह प्रतिस्पर्धा सचमुच आदरणीय है।

आज भी यदि बड़प्पन की यह परिभाषा बन जाए तो कितनी सुलझन हो जाय, पर समस्या है यह बने कैसे? इसका एक ही मार्ग है, बड़े लोग इसे अपने से शुरू करें। वे यदि बड़प्पन के मापदण्ड को अर्थ और सत्ता से हटा कर चरित्र पर ले आए तो स्वयं ही देश में एक चारित्रिक वातावरण पैदा हो जाएगा। इस अवसर पर मैं मंत्रियों से भी यह कहना चाहूँगा कि वे अपने जीवन की दिशा को मोड़ें और देश के लिए दिशा दर्शन का स्थान ग्रहण करें। व्यापारियों से यदि मैं यह कहूँगा तो वे कहेंगे हमें छोड़ता कौन है? टैक्स के भार से हम तो आगे ही दबे जा रहे हैं और उससे भी अधिक हमें अधिकारी लोगों की जेबें भरनी पड़ती हैं। हम लाइसेन्स के लिए घूमते हैं, तब तक घूमते ही रहते हैं जब तक ऑफिसरों की जेबें गर्म नहीं हो जातीं। हम स्वयं अनीति नहीं करना चाहते, पर सरकार स्वयं हम से अनीति करवाती है। इस अवस्था में मन्त्रियों

को यह आवश्यक है कि वे अपने जीवन को इस प्रकार व्यवस्थित बनाएँ कि दूसरे लोग स्वयं उनसे शिक्षा ग्रहण करें। हम एक-एक कर कितनों को समझाएँगे। आखिर तो ऊपर के लोग जैसा करेंगे नीचे के लोगों पर वैसा असर पड़ेगा। अतः ऊपर के लोगों को अपना जीवन सुधारना अत्यन्त आवश्यक है।

देहली से एक पत्र लोगों का यहाँ आया था जिसमें एक भाई ने लिखा है—इधर देश में अहिंसा दिवस मनाया जा रहा है, उधर सरकार हिंसा को प्रोत्साहन दे रही है। जगह-जगह कसाईखाने खोले जा रहे हैं। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पहले यहाँ जितनी हिंसा होती थी उससे कहीं अधिक अब हो रही है। अतः उसका प्रतिकार, हाँ इसकी पूर्णरूपेण आवश्यकता है। वैसे हिंसा को बन्द कर देना मेरे हाथ की बात नहीं है। मैं अपने विचार जरूर व्यक्त कर सकता हूँ और वह यह कि धर्मप्रधान देशों में हिंसा को यह बढ़ावा मिलना, उचित तो नहीं कहा जा सकता। उधर पश्चिम में तो शाकाहार की तरफ लोगों का ध्यान आकर्षित हो रहा है और भारतीय लोग मांसाहार में विटामिन मान कर उस तरफ दौड़ रहे हैं। यह सचमुच चिन्ता का विषय है।

अतः आज के दिन सारे लोग सबसे पहले यह सोचें कि उनकी निष्ठा हिंसा में है या अहिंसा में। यदि उनकी निष्ठा हिंसा में है तब तो शेष कुछ कहने को नहीं रह जाता। यदि उनकी निष्ठा अहिंसा में है तो वे यह दृढ़ संकल्प करें कि हम आज से चोरी, असत्य, और आत्मप्रवंचना नहीं करेंगे। अहिंसा के उपासकों के लिए आज यह अवसर है कि वे अहिंसा की ताकत को सक्रिय रूप से दुनिया के सामने रखें।

६८ : साधना बनाम शक्ति

साधना अपनी शक्ति के अनुसार ही की जा सकती है। क्योंकि उसका अन्तिम छोर वहाँ तक जाता है जहाँ तक साध्य की प्राप्ति नहीं हो जाती। इसीलिये साधक को संकेत है कि 'चलते चलो'। उस स्थान से आगे जहाँ साधना पूर्ण हो जाती है। चलने की कोई आवश्यकता नहीं होती। पर जब तक साध्य प्राप्त नहीं हो जाता तब तक साधक को विराम कहाँ? हाँ, वहाँ तक पहुँचने में कठिनाइयाँ भी तो कम नहीं आतीं। इसीलिए वहाँ तक पहुँचने के पहले बहुत से लोग कड़ी साधना से घबड़ा जाते हैं। अतः अनन्त अनुकम्पावान भगवान् ने उनके लिए सुगम रास्ता भी बताया है। प्रश्न हो सकता है क्या रास्ते को सुगम करने का मतलब उसकी सुगमता

का अनुमोदन नहीं है ? समाधान है कि रास्ता तो कठिन से कठिन बताया जा सकता है, पर उस पर चलनेवालों में भी तो सामर्थ्य होना चाहिए। इसीलिए पथ-प्रदर्शक पथ पर चलनेवालों का सामर्थ्य देख कर ही पथ-दर्शन करते हैं। जो लोग कठिन साधना कर सकें उनके लिए तो कठिन रास्ता है ही, पर जो उस रास्ते मे चल नहीं सकते उनके लिए उन्होंने सरल मार्ग का निरूपण भी किया।

भगवान ने कहा—उपवास करो, अनशन करो और यहाँ तक कि अनशन में पानी भी मत पीओ। तब फिर उसमें फलाहार की तो बात ही कहाँ रह जाती है ? उन्हें ऐसा कहने का अधिकार भी था। क्योंकि अपने जीवन में उन्होंने ऐसी अनेक लम्बी तपस्याएँ की थीं जिनमें उन्होंने न तो कुछ खाया और न कुछ पिया। यहाँ तक कि छः महीने की लम्बी तपस्या भी उन्होंने बिना पानी के की थी। जिसे जैन-परिभाषा में 'चौविहार तपस्या' कहते हैं। पर स्वयं भगवान् ने यह उपदेश भी दिया है कि यदि तुम पानी नहीं छोड़ सकते तो तिविहार तपस्या ही करो—खाना तो छोड़ो। इसका मतलब है, उन्होंने साधना में ढिलाई नहीं की थी, पर वे चाहते थे कि कोई भी व्यक्ति साधना से वंचित न रह जाए। क्योंकि वे जानते थे कि हरेक व्यक्ति के लिए साधुत्व का उपदेश काम का नहीं हो सकता। बहुत से व्यक्ति तो ऐसे भी हो सकते हैं जिन्हें साधुत्व का उपदेश अप्राकृतिक भी लगे। उनके सामने ऐसी बात कहने का क्या अर्थ ? इसीलिए भगवान् ने केवल महाव्रत का उपदेश ही नहीं दिया अणुव्रत का उपदेश भी दिया। जो महाव्रतों को पालन कर सकें उनके लिए महाव्रतों का उपदेश और जो अणुव्रतों का पालन कर सकें उनके लिए अणुव्रतों का उपदेश।

आज भी कई लोग कह देते हैं—महाराज अणुव्रतों का उपदेश क्यों देते हैं ? अणुव्रतों में ब्रह्मचर्य का नियम है—महीने में कम से कम २० दिन ब्रह्मचर्य का पालन करूँगा। तो इसका मतलब अब्रह्मचर्य की १० दिन की छूट तो महाराज ने भी दे दी, पर मै समझ नहीं पाया मैंने इसमें क्या छूट दे दी। यदि कोई व्यक्ति २५ दिन ब्रह्मचर्य का पालन करे और उसमें मैं २० दिन की कहूँ तो छूट का भी कोई अर्थ हो सकता है, पर जिस व्यक्ति के महीने में ५ दिन का भी त्याग नहीं है उसे यदि मैं २० दिन का त्याग दिलवाता हूँ तो इसमें छूट कैसी ? मैं तो उसे उल्टा अधिक दिनों का त्याग, दिलवाता हूँ। २० दिन में भी मेरा दृष्टिकोण यह नहीं है कि शेष १० दिनों का ब्रह्मचर्य नहीं पाला जाए। बल्कि मैं तो यह चाहता हूँ कि प्रत्येक व्यक्ति पूर्ण ब्रह्मचारी बने, पर अगर कोई पूर्ण ब्रह्मचारी नहीं बन सकता है तो मैं उसे यह कहता हूँ कि कम से कम २०

दिन तो ब्रह्मचर्य का पालन करो। अतः यह छूट नहीं है। सामर्थ्य के अनुसार व्रत का पालन है। इसी प्रकार भोजन के बारे में जानना चाहिए। कोई दो वक्त खाये और उसे ३ वक्त खाने का कहा जाये तो यह छूट मानी जा सकती है। पर दो वक्त खानेवाले को एक वक्त से अधिक नहीं खाने को कहा जाये तो इसमें छूट कहाँ है? भगवान् महावीर ने तो यहाँ तक कहा है कि अगर तुम भोजन भी नहीं छोड़ सको तो कम से कम 'अनोदरी' यानी कुछ भूख तो रखो। यदि तुम अधिक प्रकार की चीजें खाते हो तो उनका भी नियंत्रण करो, यदि तुम अनेक बार खाते हो तो उसमें भी संयम करो और खाते भी हो तो—

रसा पगामं न निसेवियं, पायं रसा दित्तिकरा नराणं।
वित्तं च कामा समभिद्दवंति, दुम्मं जहा साउ फलं व पक्खी॥

अर्थात् प्रकाम रस भोजन नहीं करना चाहिए। क्योंकि यह मनुष्य के लिए तृप्तिकर होता है। तृप्त होने पर काम-वासना चारों ओर से मनुष्य पर आक्रमण कर देती है। ठीक उसीप्रकार जिसप्रकार स्वादिष्ट फलवाले वृक्ष पर पक्षी। जिस शरीर से हम काम लेते हैं उसे उसका भाड़ा भी चुकाना पड़ता है यह सही है, पर अत्यन्त गरिष्ठ भोजन चित्त को असंतुलित बना देता है यह तो स्पष्ट ही है। चिन्तन पर भी इसका असर आता है। इसीलिए कहा गया है—'जैसा खाये अन्न, वैसा होवे मन'। पुष्ट शरीर में वासना को उभरने का अधिक अवसर मिलता है। भला शुष्क वृक्ष पर कौन पक्षी क्या खाने बैठेगा?

कुछ लोग उठते ही बिछौने पर ही नाश्ता (Bed tea) लेते हैं। कुछ लोग उस समय नहीं खाते हैं तो प्रातः नाश्ता करने से तो शायद ही चुकते हैं पर मुझे आश्चर्य होता है लोग उस समय खाते कैसे हैं? यदि खाते भी हैं तो पचाते कैसे हैं? लोगों को शायद मेरी बात पर आश्चर्य हो सकता है पर मैं अनुभव करता हूँ कि मैं तो कभी सुबह खा भी लेता हूँ तो फिर मुझे दूसरे वक्त भूख ही नहीं लगती। हो सकता है मेरी शारीरिक स्थिति ही ऐसी हो पर मुझे यह बुरी नहीं लगती। बार-बार खाना निश्चय ही रोग को बुलावा देना है। मेरी अपनी प्रकृति स्वयं ही इस प्रकार की बन गई है। इससे मुझे सन्तोष है। बहुत-से लोगों ने यौवन में अपने स्वास्थ्य का दावा कर अधिक खा भी लिया तो उस समय तो वे अपने हठ से खा गये, पर बुढ़ापे में वे अपने स्वास्थ्य को सन्तुलित नहीं रख सके ऐसा मेरा अनुभव है। स्वास्थ्य को एक दफा अलग भी रख दें, पर बार-बार खाने से खाने में वह आनन्द भी नहीं रह जाता। जो कम समय खाने से मिलता है। मेरा तो यह अनुभव है कि मुझे सुबह नाश्ता नहीं

करने से स्फूर्ति रहती है और आनन्द मिलता है। इसी प्रकार कम लेकर मैं सन्तुष्ट रहता हूँ उतना अधिक द्रव्य आहार लेकर नहीं रहता। यही कारण है बहुत दबाव देने पर भी मैं अधिक आहार लेना पसन्द नहीं करता। मैं यह सब अपने आनन्द के लिए करता हूँ। बिना आनन्द के अधिक दिनों तक ऐसा होना सम्भव भी नहीं है। मेरे निकट रहनेवाले बहुत-से लोग मेरी इन बातों को प्रकट करना चाहते हैं, पर मैंने परसों ही मना किया था कि वे ऐसा नहीं करें। क्योंकि मैं समझता हूँ अन्दर रही हुई साधना जितना फल देती है उतना वह बाहर आकर नहीं दे सकती। उससे कुछ-कुछ प्रतिष्ठा की भावना आ जाती है और अधिक लोगों में प्रकट होकर साधना स्वयं भार भी बन जाती है। यद्यपि मैं यह भी नहीं मानता कि दूसरे लोग कोई साधना में बाधक बन सकते हैं। अपनी साधना व्यक्ति के अपने हाथ की बात है, पर उससे कोई प्रेरणा प्राप्त करे तब तो उसे प्रकट करने का भी कोई अर्थ रहता है। यदि नहीं होता तो फिर उसे गुप्त रखने में ही ज्यादा लाभ है।

मेरा स्वल्पाहार होने का एक कारण यह भी है कि मैं जब कम खाने का उपदेश दूँ और स्वयं सब कुछ खाता रहूँ तो उपदेश में इतना निखार नहीं आ सकता और कहते वक्त भी अन्दर से आत्मा कचोटती रहती है। मेरी तो यह प्रकृति हो गई है कि जिस बात का मैं स्वयं आचरण नहीं करता उसका उपदेश भी बलपूर्वक नहीं कर सकता। अतः जिस बात को मैं अच्छी मानूँ तो पहले उसका प्रयोग मुझे अपनी आत्मा पर ही करना चाहिए। उसमें मैं यदि सफल होता हूँ तो मुझे दूसरों को कहने का भी अधिकार है। अतः अपने अनुभव के बल पर मैं आपसे यह कह सकता हूँ कि कम आहार लेना स्वास्थ्य के लिए तो लाभकर है ही, साथ ही उससे आत्मानन्द भी कम नहीं मिलता। इसीलिये भगवान् ने सर्व साधारण की सुलभता देखकर अनोदरी का उपदेश किया। यदि कोई इतना भी नहीं कर सकता है तो मैं समझता हूँ कि त्याग-भावना अभी तक उसमें खिली नहीं है। लम्बी-चौड़ी परिषद् से धर्म स्थान भर जाये यह कोई बड़ी बात नहीं है। पर इसका परिणाम भी सुन्दर आना चाहिए। अन्यथा इतने लोगों का इकट्ठा होना भी मुझपर भार हो जाता है। भार इसलिए कि एक इतना बड़ा जनसमूह बिना कष्टों की परवाह किये मेरे पास आता है और मैं उसकी शुद्धि नहीं कर पाता। जब कभी मैं इस चिन्तन में लग जाता हूँ तो सचमुच हृदय में दुःख होता है।

आप भी दिन में चार दफे मेरे पास आते हैं सिर्फ इसलिए नहीं कि सुन्दर शब्दों में मेरी प्रशंसा करें। थोथी प्रशंसा मुझपर भार है। कोई

भी व्यक्ति अगर मेरी प्रशंसा करता है तो पहले वह यह सोचे कि वह ऐसा हृदय से करता है या नहीं। यदि प्रशंसा वास्तव में ही हृदय से होती है तो आप मुझे अच्छा मानते हैं और अच्छा मैं इसलिए हूँ कि मैं जो कुछ करता हूँ वह अच्छा है। मैं जो काम करता हूँ वह अगर मेरे लिए अच्छा है तो आपके लिए भी वह बुरा कैसे होगा? पर प्रायः देखा जाता है कि थोड़ा-सा कष्ट का काम सामने आते ही लोग असफलता पूर्वक पीछे हट जाते हैं। यदि आपकी मेरे में वास्तव में ही श्रद्धा है तो मैं जैसे सहर्ष कष्ट सहता हूँ वह भावना आपमें क्यों नहीं? व्यापार में जो अनैतिकता की जाती है वह क्या मेरी प्रशंसामात्र से धुल जाने वाली है? दिन भर की जाने वाली ईर्ष्या, आलोचना, एक दूसरे को गिराने की भावना का पाप क्या मेरे पैरों पर सिर रखने मात्र से साफ हो जायेगा? ये प्रश्न मुझे बड़ा बेचैन किये देते हैं। मैं मानता हूँ सारे आदमी आदर्श पर नहीं चल सकते। पर उस तरफ जाने की भावना ही मनमें न हो तो लगता है आपने यहाँ आने का अर्थ ही कहाँ समझा है? अणुव्रती बनना एक बात है। सम्भव है आज अणुव्रती बनने में अनेक कठिनाइयाँ हैं। पर अणुव्रत आदर्श के प्रति श्रद्धा तो रखें। मैं आप से फिर कह देता हूँ यदि आपने इन प्रश्नों का समाधान नहीं पाया है तो और दूसरे समाधान भी विषम हो जाएँगे। अब केवल "तदत् वचन" कहने से काम चलने वाला नहीं है। बल्कि आवश्यकता यह है—उन बातों पर जो मैं आपसे कहता हूँ, आप अमल करें। मुझे जिस बात में आनन्द आता है वह यदि सही है तो आपको भी उसमें आनन्द आना चाहिये। आवश्यकता नहीं है कि मैं ये बातें आप से दस दफे दोहराऊँ। पर इतना जरूर कहूँगा कि बिना इस आदर्श तक आये जीवन-जीवन तो नहीं है। मैं आपसे यह नहीं कहता कि आप गुणवानों की प्रशंसा न करें, पर जिनकी प्रशंसा आप करते हैं उनके आदर्शों को जीवन में पहले उतारें पूरे आदर्शों को न भी उतार सकें तो थोड़ा उतारें। इससे भी जीवन हल्का होगा।

६९ : व्यक्ति का मूल्य

अपने भले-बुरे, हित-अहित, उत्थान-पतन का उत्तरदायी स्वयं व्यक्ति है, कोई दूसरा नहीं। उसका अपना पुरुषार्थ और प्रयत्न ही उसे विकास के ऊँचे शिखर तक पहुँचा सकता है। अणुव्रत-आन्दोलन व्यक्ति-व्यक्ति में आत्म-जागृति पैदा करना चाहता है जिससे हर कोई अपने अन्तर-बल को सँजो कर जीवन-शुद्धि और चारित्र के मार्ग पर आगे बढ़ सके। कितना खेदास्पद

विषय है कि जो भारतवर्ष चारित्रिक, आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक चेतना का मूलस्रोत था, जिससे सभी प्रेरणा पाते थे, आज उस का स्तर गिरता जा रहा है। अणुव्रत-आन्दोलन चाहता है—लोक-मानस में वह नव-चेतना पैदा कर गिरते हुए राष्ट्रीय चरित्र को ऊँचा उठाए, ताकि सर्वत्र सच्चाई, ईमानदारी, मैत्री और सद्भावना का प्रसार हो सके।

सुजानगढ़,
१० अक्तूबर, '५७

७० : आन्दोलन की मूल भित्ति

अणुव्रत सिर्फ बातों व प्रचार की चीज नहीं है। यह एक सजीव प्रेरणा और सक्रिय कार्यक्रम है। आन्दोलन की मूल भित्ति है—"संयमः खलु जीवनम्" अर्थात् जीवन अधिकाधिक संयमित, सादा और हल्का हो। विलासी जीवन में अणुव्रत कभी नहीं पनप सकते। जैसे भूमि उर्वर हुए बिना पैदावार नहीं हो सकती, वैसे ही नैतिक धरातल सुदृढ़ हुए बिना कोई भी कार्यक्रम सफल नहीं बन सकता।

सुख का साधन धन नहीं, जीवन का हल्कापन है। करोड़ों की पूंजी, अनेकों नौकर और वैभव सम्पन्न होते हुए भी धनिकों को न खाने का आनन्द है और न सोने का। जीवन को सादा बनाने की प्रेरणा देकर अणुव्रत-आन्दोलन जीवन के परमानन्द का द्वार खोलना चाहता है। आन्दोलन के प्रचार व प्रसार की प्रारम्भिक भूमिका सम्पादित हो चुकी है। आज इस कार्य को प्रगति देने के लिए इसमें पैसा नहीं, अपितु व्यक्तियों का जीवन लगे, साधना लगे, इसकी अपेक्षा है। अणुव्रती का जीवन जीती-जागती ज्योति होनी चाहिए, जिसके सहारे एक नहीं, अनेक जीवन-दीप प्रज्वलित हो सकें।

सुजानगढ़,
१२ अक्तूबर, '५७

७१ : एक क्रान्तिकारी अभियान

अणुव्रत-आन्दोलन आत्म-जागृति का एक क्रान्तिकारी अभियान है। यह सबसे पहले व्यक्ति को स्वयं जागृत बनने की प्रेरणा देता है। जो स्वयं जागृत नहीं है, वह दूसरों को जगाने की क्या प्रेरणा दे सकता है?

सच्चाई, अहिंसा और सदाचार के पथ पर आगे बढ़ने के लिए सबसे अधिक आवश्यकता आत्म-निष्ठा की है, आत्म-विश्वास की है। अपने आपमें सुदृढ़ विश्वास रखने वाले के लिए संसार का ऐसा कोई कार्य नहीं जो दुःसाध्य हो। जो अणुव्रतों को कठिन और दुरूह मानते हैं, मैं उनसे पुरजोर शब्दों में कहूंगा—वे इन्हें एक बार अपना कर तो देखें। यदि ऐसा किया तो स्वयं इतने आकृष्ट और आत्म-विभोर हो उठेंगे कि उन्हें छोड़ने का जी नहीं करेगा क्योंकि अणुव्रत जीवन में शान्ति देते है, हल्कापन देते है, सन्तुष्टि देते है।

सुजानगढ़,
१४ अक्तूबर, '५७

७२ : आत्मविद्या का मनन

अणुव्रती आज बहुत बड़े संघर्ष के बीच मे गुजर रहे है। अनैतिकता सर्वत्र छायी है, जिससे उन्हें लड़ना है। चरित्रहीनता के बहुमुखी स्तूप को उन्हें ढहा देना है। नीतिहीनता के विरुद्ध उन्हें अभियान करना है। वस्तुतः यही तो सच्ची विजय है, जिसे पाना बच्चों का कोई खेल नहीं है। लाखों दुर्दान्त शत्रुओं को जीतना सुगम है, समूचे संसार पर काबू पाना भी कोई उतना दुष्कर नहीं है, जितना कि अपने आपको जीतना, अपनी दुष्प्रवृत्तियों को जीतना कठिन है। अणुव्रत-आन्दोलन अपने आपको जीतने का, अपने कलुषित वृत्तियों को नियन्त्रित करने का सफल मार्ग देता है। हमें भारतीय ऋषियों की तपःपूत वाणी स्मरण दिलाती है कि सबसे पहले हम अपनी आत्मा के बारे में सोचें, उसे हम न भुला दें। आत्मविद्या या अध्यात्म-चिन्तन भारतीय जीवन का आदि, मध्य और अन्त स्रोत रहा है। उस विकास को मैं विकास नहीं मानता, जिसमें आत्म-शुद्धि का तत्त्व न हो। इस छोटे से स्थान में बैठा मैं आप सब लोगों के माध्यम से समूचे संसार को कह देना चाहता हूं कि यदि मानव अपनी, अपने कुटुम्ब की, अपनी जाति की, अपने राष्ट्र की और सारे संसार की ज़िन्दगी सुख और शान्तिमय देखना चाहता है तो वह आत्म-विद्या का मनन करे, जहां बाहरी दिखावे से दूर अन्तर-शुद्धि और परिमार्जन में जीवन की सफलता मानी गयी है।

अणुव्रती भाई-बहिनो! जो मार्ग आपने चुना है, वह संसार के अनुकूल नहीं है। उससे बाह्य सुविधाओं में कमी आती है। फलतः कठिनाइयां बढ़ती हैं,

पर यह आत्मा के अनुकूल है। आत्मा में वास्तविक सन्तुष्टि और शान्ति पैदा करनेवाला संसार का मार्ग नदी के प्रवाह जैसा है। तिनके की तरह उसमें बह जाना आसान है। इसमें कौन-सी विशेषता है? विशेषता तो उसमें है—बाधाओं, विघ्नो, विपदाओं और क्लेशों की परवाह न करते हुए सत्य और अहिंसा की साधना में प्रतिस्रोतगामी बनें और आगे बढ़ते-बढ़ते उस चालू लोक-प्रवाह का रुख ही मोड़ दे। आपलोगों पर बड़ी जिम्मेवारी है। क्या मैं आशा करूँ, आत्म-बल और साहस के साथ-साथ इस ओर बढ़े चलेंगे?

सुजानगढ़,
१५ अक्तूबर, '५७

७३ : आत्मचिन्तन

अपने व्रतों पर दृढ़ता से जमे रहने के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति आत्म-चिन्तन करे। आत्म-चिन्तन अपने द्वारा हुई भूलों को सुलझाता है और आगे के लिए जीवन का पथ-प्रशस्त करता है। यह एक प्रकार से व्रतों को अच्छे रूप में निभाने के लिए प्रहरी का काम करता है। अन्यान्य कार्यों की तरह व्यक्ति आत्म-चिन्तन का भी अपना समय रखे। अणुव्रती तो विशेष रूप से ऐसा अवश्य करे। जब मैं लोगों को यह कहते सुनता हूँ कि क्या करें, आत्म-चिन्तन के लिए समय नहीं मिलता है। तो मुझे उन पर बड़ा तरस आता है। अपने शरीर के लिए, मकान के लिए, कुटुम्ब के लिए और दूसरे-दूसरे कामों के लिये वे समय निकाल लेते हैं, पर जहाँ अपनी आत्मा का सम्बन्ध है, वहाँ वे समय नहीं निकाल पाते, वास्तव में कैसी दयनीय स्थिति यह है!

आज देश को विकसित बनाने के लिए अनेक योजनाएँ और उपक्रम चल रहे हैं, पर जब तक देश का नैतिक स्तर ऊँचा नहीं उठेगा, उनसे कुछ बन सकेगा, ऐसा मुझे लगता नहीं।

सुजानगढ़,
१६ अक्तूबर, '५७

७४ : एक महत्त्वपूर्ण कदम

दीक्षा का बहुत बड़ा महत्त्व है। वह जीवन का निर्माण करती है। आज अनेक भाई-बहिनों ने अणुव्रतों की दीक्षा ली, यह सचमुच एक ऊँची

बात है। लेकिन साथ ही साथ इतना और कह दूं कि जब मैं साधु-साध्वियों के जीवन को देखता हूँ, जिन्होंने यह व्रत लिया है कि वे कभी भी, किसी भी स्थिति में झूठ नहीं बोलेंगे, हिंसा नहीं करेंगे, जीवन भर पद-यात्रा करेंगे, कौड़ी मात्र भी पास नहीं रखेंगे तो मुझे यह (अणुव्रत-दीक्षा) छोटी लगती है। पर साधु-दीक्षा या महाव्रत दीक्षा में तो अंगुली पर गिने जाने योग्य थोड़े से व्यक्ति होते हैं। कोटि-कोटि जनता तो ऐसी है जो इन व्रतों से परे है। इसलिए उस अपेक्षा से अणुव्रतियों का यह कदम महत्त्वपूर्ण और आदर्श है। आज जहाँ अनैतिकता का घोर तुमुलरव मचा है वहाँ हजारों व्यक्तियों का यों खड़े होकर जीवन-निर्माण के इस अभियान में अपने आप को समर्पित करने का संकल्प प्रकट करना वास्तव में एक महत्त्वपूर्ण कदम है। मैं अणुव्रतियों से कहना चाहूँगा—व्रत-ग्रहण की जो हिम्मत आपने की है, व्रत-पालन में भी आप पूरे साहस से काम लें। मैं आप लोगों के साथ हूँ अर्थात् आपके व्रतों के साथ हूँ। आप आत्म-साक्षी से इन्हें निभाएँ। कठिनाइयों के सामने आने पर कमजोरी दिखाना, मार्ग से विचलित हो उठना एक मनस्वी के लिए शोभनीय नहीं। आपद्धर्म के नाम से व्रतों में छूट का विधान कहीं कहीं है—वास्तव में यह उचित नहीं। अतः आपद्धर्म का सहारा लेना ठीक नहीं। मैं चाहूँगा—यह पराजय आप पर न व्यापे। बल्कि आप इस पराजय को अपनी आत्मशक्ति से ढक दें।

सुजानगढ़,
१७ अक्तूबर, '५७

७५ : आत्म-जागृति की लौ

दीपावली पर्व भारतीय त्योहारों में अपना प्रमुख स्थान रखता है। इसके पीछे अनेक प्रकार के विचार हैं। जैन-परम्परा की दृष्टि से इसका विशेष महत्त्व इसीलिए है कि इस दिन भगवान् महावीर ने अपने जीवन की साधना सम्पूर्णतः सम्पन्न कर निर्वाण प्राप्त किया था। यह उनके जीवन की चरम सफलता का दिन था। सांसारिक आवागमन और सुख-दुःखों से सम्पूर्ण रूपेण छूटकर अपने सत्-चित्-आनन्दात्मक स्वरूप में स्थित होने की पावन वेला थी। निर्वाण का अर्थ—बुझ जाना। आत्मा के साथ कर्मों के सम्बन्ध की जो आग प्रज्ज्वलित थी, जिससे आत्म-गुण झुलसे जा रहे थे, वह सर्वथा बुझ गई। कार्मण-संयोग की उष्मा—गर्मी सर्वथा निर्वापित-शीतल-शान्त हो गई। भगवान् महावीर का निर्वाण दिवस होने से इसका

एक ऐतिहासिक महत्त्व है। जैन-इतिहास में कहा जाता है, इस दिन भगवान् महावीर के निर्वाण पर देवताओं ने ज्योतिर्मय रत्नों से प्रकाश किया। अमावस्या की घोर तमिस्रामयी रजनी रत्नों की ज्योति से जगमगा उठी। उसी की स्मृति में भारतीय लोग दीपावली को पर्व रूप में मनाने लगे हैं। मैं भारतीय जनता से कहना चाहूँगा—इसकी सही मनौती बाहरी चमक-दमक और जगमगाहट में नहीं है, सही मनौती यह है कि भगवान् महावीर के आदर्शों को हृदयंगम करते हुए वे यथाशक्ति अपने जीवन को उनपर ढालें। हिंसा, असत्य, असदाचार और परिग्रह के भयावह अन्धकार ने मानव को पथ-भ्रष्ट बना दिया है, जिसे मिटाकर आज व्यक्ति-व्यक्ति को आत्म-जागृति की लौ जलानी है। यह वह संदेश है जो दीपावली का पर्व सबको देता है।

महावीर का जीवन उत्कट साधना और उज्ज्वल त्याग का जीवन था। वर्षों तक उन्होंने भूख-प्यास और नींद की चिन्ता न करते हुए अपने को आत्मानुशीलन और अन्तर-अवलोकन में जोड़े रखा। बाहरी परिषहों और तूफानों से वे विचलित नहीं हुए। विरोधियों ने विविध प्रकार की बाधाएँ और क्लेश उन्हें पहुँचाए, मारपीट की, गालीगलौज किया, उनके मार्ग में तरह-तरह की असुविधाएँ पैदा कीं, पर आत्म-विजय के महान् ध्येय को लेकर चलनेवाले मनस्वी क्या कभी इन विपदाओं से घबड़ाते हैं? यही तो वह कारण था, जिससे वे महावीर कहलाए। हाथ में ढेला लेकर दूसरे का सिर फोड़ देने वाला वीर नहीं होता है। वीर वह होता है जो दूसरे के द्वारा अपना सिर फोड़े जाने पर भी सहिष्णुता और समभाव से उसे झेलता है। वीरता दूसरे को कष्ट पहुँचाने में नहीं, बल्कि स्वयं हँसते-हँसते कष्टों के हलाहल को पी जाने में है। दूसरे को सतानेवाला तो बहुत बड़ा कायर, कमजोर और बुजदिल है।

दीपमालिका, '५७

७६ : सच्ची जिन्दगी

मनुष्य को खाने के लिए रोटी मिलती है, फिर भी वह मांस खाने की ओर प्रवृत्त होता है, यह कितना जघन्य और हेय कार्य है। पीने को पानी, दूध आदि अनेक पेय उसे उपलब्ध हैं, फिर भी वह मदिरा जैसी गन्दी चीज को पीता है। क्या यह उसकी बुद्धि की विकृति नहीं है? साहूकारी और ईमानदारी से वह धन कमा सकता है, पर फिर भी वह धोखा, छल, कपट, मिलावट, आदि करता है। स्वार्थपरायणता ने उसे कैसा अन्धा बना

दिया है। इन विकारों से ग्रसित जीवन भी क्या कोई जीवन है? व्यक्ति सोचता नहीं, इस छोटी सी जिन्दगी के लिए कितने कुकर्म और कुकृत्य वह करता है। अणुव्रत-आन्दोलन और कुछ नहीं चाहता, वह इन कुवृत्तियों की भयानक अग्नि में झुलसते मानव जीवन को बचाना चाहता है। वह चाहता है, मानव मदिरा, मांस, जुआ, मिलावट, धोखा, काला बाजार, अनर्थ हिंसा, असत्य-व्यवहार जैसे जीवन को खोखला बनाने वाले दुर्गुण रूपी घुन मानवीय चारित्र को निगल न जायँ।

त्याग और संयम की जिन्दगी ही सच्ची जिन्दगी है। इससे नैतिक जीवन पुष्टि पाता है, सत्कार्यों में प्रवृत्ति होती है और असत् कार्यों से निवृत्ति। अणुव्रत-आन्दोलन आज के भोग-प्रधान जीवन में त्याग को प्रतिष्ठित करना चाहता है। हाँ, यह माना, प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन को सम्पूर्ण रूपेण त्यागमय नहीं बना सकता। पर जितना बन सके, वह अपने आपको अधिकाधिक त्यागोन्मुख बनाए, यह तो वह कर सकता है।

वैयक्तिक, सामाजिक, कौटुम्बिक तथा राष्ट्रीय जीवन में नैतिकता और ईमानदारी व्यापे, इस ओर सबको जागरूक और प्रयत्नशील रहना है।

लाडनूं,
२४ अक्तूबर, '५७

७७ : आत्मानुशीलन का दिन

आज का दिन मेरे लिए अनुशीलन, निरीक्षण तथा आत्म-अवलोकन का दिन है। मैं जन्म-दिवस का कोई विशेष महत्त्व नहीं मानता। जन्म-दिवस कोई कसौटी का दिवस नहीं है। क्योंकि समूचा भविष्य आगे जो रहता है, पर लोग ऐसा नहीं समझते। क्योंकि चालू प्रवाह जो बह रहा है। मैं एक परिव्राजक हूँ। मेरे लिए अपना कहने का कोई विशेष स्थान नहीं है। मेरा तो सारी वसुन्धरा और मानव-मात्र से सम्बन्ध है, पर फिर भी अपने जन्मस्थान की लिहाज से सोचूं तो कहना होगा लाडनूं के लिए मेरे मन में स्थान और आकर्षण नहीं है, ऐसा कैसे हो सकता है? जहाँ के कण-कण और गली-गली से मैं परिचित हूँ, जहाँ मैंने बाल-क्रीड़ाएँ कीं, खेला-कूदा, बचपन बिताया, उसे कैसे भुलाया जा सकता है?

बचपन से ही मुझे धार्मिक संसर्ग और उपासना में अभिरुचि थी। मैं प्रतिदिन साधु-साध्वियों के सम्पर्क में आता, उनसे मेरे जीवन को प्रेरणा

मिलती, मैं तत्त्व-ज्ञान सीखता। मैं हर समय अच्छे काम में लगा रहूँ, ऐसी मेरी बालपन से ही निष्ठा थी। मै खेलते समय भी धार्मिक पद व पाठ गुनगुनाता रहा। अनुशासन का मेरे जीवन में शुरू से गहरा स्थान था। स्वयं अनुशासित रहना तथा अपने से छोटों को अनुशासन में रखना मुझे सहजतया भाता था। मेरी संसार-पक्षीया माताजी से अपने जीवन में सद्गुण ढालने की बहुत प्रेरणाएँ मिलती रहीं। मेरा यह सौभाग्य था कि अपने संस्कारवश प्रातःस्मरणीय अष्टम आचार्य श्री कालूगणी के कर कमलों से मुझे दीक्षित होने का शुभ अवसर मिला। मेरे जीवन के निर्माण में जो उन्होंने अनवरत श्रम किया, प्रयास किया, जिससे मुझे उत्तरोत्तर आत्म-निर्माण, ज्ञानार्जन, अन्तर-मार्जन का स्फूर्तिमय दर्शन मिलता रहा। एक दिन आया, अपना उत्तरदायित्व उन्होंने मेरे कन्धों पर डाल दिया। उस भार को मैं सँभाल सका, यह एकमात्र उन्हीं के अनुग्रह और प्रभाव का फल था।

मै इस अवसर पर आप लोगों से कहना चाहूँगा कि अपने जीवन को अधिक से अधिक अध्यात्म-साधना और धर्माराधनामय बनाने में आप प्रयत्नशील हों। जीवन में अनुशासन का अधिकाधिक स्थान रहे, समय के सदुपयोग की वृत्ति रहे, इस ओर मैं आप सब का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ। ऐसा कर आप अपने जीवन को एक नयी गति, निर्माण का एक नया मोड़ तथा उन्नति की सही दिशा देंगे। धर्म जाति-पांति तथा वर्गभेद से परे हैं, इस आदर्श को सामने रखते हुए आप सब को स्वयं धर्म के मार्ग पर जुटना, औरों को इस मार्ग पर आने की प्रेरणा देना है। विशेष रूप से मै यह कहना चाहूँगा कि अणुव्रत-आन्दोलन के रूप में जो चारित्रिक जागृति और नैतिक पुनरुत्थान का कार्य चल रहा है, उसमें सबको अधिक से अधिक रस लेना है। यह हर्ष की बात है कि संसार के लोग इसका मूल्य आंकते जा रहे हैं। निकट-सम्पर्क में रहने वाले आप लोगों को तो इससे और अधिक लाभान्वित होना चाहिये। मैं शब्दों को नहीं, ऐसे कार्य को ही अपना सच्चा अभिनन्दन मानता हूँ।

लाडनूं,
२४ अक्तूबर, '५७

७८ : ज्ञान प्रकाशप्रद है

जनसंख्या जिस गति से बढ़ रही है उस गति से चिन्तन नहीं बढ़ रहा है। चिन्तन बढ़ाने के लिए लोग अपने लड़कों को स्कूल और कॉलेजों

में भी भेजते हैं, पर वहाँ विद्या कहाँ है? स्कूलों और कॉलेजों में जिस प्रकार शिक्षितों की बाढ़ आ रही है, उसी प्रकार बेकारी की भी बाढ़ जोरों से आ रही है। वे ही लड़के, जिनकी पीढ़ियां श्रम करती आयी हैं, पढ़ने के बाद श्रम करते सकुचाते हैं; उन्हें केवल दफ्तरों की टोह रहती है, इतना ही नहीं जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण ही बदल जाता है। मैं यह नहीं कह सकता कि जीवन में विद्या की आवश्यकता ही नहीं है। पर आजकल जो शिक्षा मिलती है उससे यह ध्येय पूर्ण होता है या नहीं यह एक चिन्तन का विषय है। शास्त्रों में कहा है—'नाणंपयासयरं'—ज्ञान प्रकाशप्रद है। पर वह इसी अवस्था में जबकि वह आत्म-विद्या को पुष्ट कर सके। मैं इस बारे में खूब गहराई से सोच रहा हूँ कि बिना आत्म-विद्या से दूसरी-दूसरी विद्याएँ सफल नहीं हो सकती और आज की शिक्षा-प्रणाली ने तो यह और भी स्पष्ट कर दिया है। आज जगह-जगह से विचारक व्यक्तियों के विचार आ रहे हैं कि शिक्षण में जब तक अध्यात्म-विद्या को नहीं जोड़ा जाएगा तब तक वह सफल नहीं हो सकेगी।

७९ : परिग्रह पाप का मूल

इस पृथ्वी पर सब कुछ है, पर उसे ही मिलता है जिसे मिलने वाला है। योग्य आदमी पैदा होता है तो स्वयं ही उसके अनुकूल सही स्थितियाँ भी पैदा हो जाती हैं। कहते हैं—चक्रवर्ती जब पैदा होता है तो उसके नव-निधान भी उसे इसी पृथ्वी पर मिल जाते हैं। जब वह मर जाता है तो वे निधान भी इसी पृथ्वी में विलीन हो जाते हैं। एक एक निधान ही ऐसा होता है कि उससे बहुत सारे काम सुलझ जाते हैं। आज भारत सरकार के सामने अनेक हड़तालें हो रही हैं। कभी रेल कर्मचारियों की हड़ताल होती है तो कभी डाक-तार विभाग के कर्मचारियों की। उन्हें समझाया जाता है कि इतने में मिल मजदूर जाग जाते हैं और हड़ताल कर देते हैं और सबसे बड़ी हड़ताल तो होती है—हरिजनों की। और-और हड़तालें होती हैं तो उनमें यही होता है कि लोगों का काम रुक जाता है या चिट्ठी-पत्रियाँ कुछ देरी से पहुँचती हैं, पर हरिजनों की हड़ताल दो दिनों में ही चौकन्ना कर देती है। लोग परावलम्बी जो ठहरे दो दिनों में सारे शहर में गन्दगी ही गन्दगी हो जाती है, पर किया क्या जाए? सबकी अपनी-अपनी माँग रहती है, पर सरकार उनकी सारी माँगें स्वीकार कैसे कर सकती है? उसके पास कोई निधान तो भरा पड़ा

नहीं है जो सब किसी को अपार धनराशि दे दी जाये। पर आज सभी कोई सरकार पर सवार हो रहे हैं। आखिर जनतन्त्र में इस प्रकार काम कैसे चलने वाला है? सरकार भी यदि जनता की सुविधा का ध्यान न रखे और उस पर हावी होना चाहे तो यह भी सही नहीं है। काम आखिर दोनों के समन्वय से चलने वाला है। इसीलिये हाल ही में हुई हड़तालों को लेकर नेहरू जी ने कहा था—"आज देश बड़ी नाजुक स्थिति से गुजर रहा है। चारों ओर समस्याएँ ही समस्याएँ दीख रही हैं, पर समस्याओं का हल धमकियों से नहीं होगा।" काम तो एक दूसरे की दिक्कतों समझने से होगा। अतः इतनी समस्याओं के बीच देश के लोग यदि और नयी-नयी समस्याएँ खड़ी कर देते हैं, यह अच्छा तो नहीं है। हर एक समस्या का हल खोजना चाहिए। पर उसे विषम बना देना, यह तो कभी भी उचित नहीं कहा जा सकता।

इस सम्बन्ध में भगवान् महावीर का उपदेश तो यही है कि—मनुष्य को परिग्रह का ज्यादा संग्रह नहीं करना चाहिए। यह तो पाप का मूल है। यह माना कि जीवन चलाने के लिए गृहस्थ को कुछ परिग्रह भी आवश्यक होता है पर ज्यादा संग्रह करने से तो वही उल्टा भार बन जाता है। साधारणतया जीवन चलाने के लिए पानी की आवश्यकता होती है और इसीलिए मनुष्य पानी पीता भी है। पर यदि सारा ही खाया-पिया पानी बनना शुरू हो जाय तब तो जलोदर का रोग ही होगा। उससे तो फिर हाड़-मांस भी पानी बन जाएगा। फिर तो खाना-पीना ही बन्द हो जायेगा। इसी प्रकार माना कि बिना धन के काम नहीं चलता, पर अधिक संग्रह तो स्वयं अपने नुकसान के लिए है। जिस प्रकार बांस में फूल आना उसके स्वयं के लिए ही बाधक होता है, उसी प्रकार अधिक धन संग्रह करना स्वयं अपने लिए नाशकारी है। अतः वे लोग जो रात-दिन धन कमाने के पीछे पड़े रहते हैं, उन्हें सोचना चाहिए। दूसरी ओर जो लोग अभावग्रस्त होकर दूसरों का धन लूटना चाहते हैं, उन्हें भगवान् ने समता का उपदेश दिया है। उन्होंने कहा—अगर तुम भी धन के पीछे पड़े तो तुम्हारे सामने भी बड़ी मुसीबत उपस्थित हो जाएगी। जैसी स्थिति आज तुम धनवानों और पूंजीपतियों की पा रहे हो। अतः तुम्हें भी सन्तोष का मार्ग अपनाना चाहिए। आखिर शान्ति दोनों को प्रिय है। इसका एकमात्र उपाय समता ही हो सकता है। भगवान् ने ऐसा कहीं नहीं कहा कि—पूंजीपतियों का धन छीन कर गरीबों को बाँट दो। उन्होंने तो सभी को यही कहा कि—कोई संग्रह ही न करे। तब फिर किसी का धन लूटने की स्थिति ही क्यों आएगी। हाँ, वास्तव में परिग्रह लालसा में है। पूंजी-

पति का मतलब केवल पैसा रखना ही नहीं है। पूंजीपति का मतलब है—जिसे पूंजी के प्रति आकर्षण हो। करोड़पति भी यदि लालची नहीं है, तो वह पूंजीपति नहीं है। दूसरी ओर जिसके पास पैसा नहीं है, फिर भी जिसकी लालसाएँ सीमित है, वह वस्तुतः पूंजीपति है। जिसका पूंजी के प्रति आकर्षण नहीं है, वह रुपए पाकर भी विलासी नहीं होगा। वह समझेगा कि—किसी कारणवश मेरे पास इतना धन इकट्ठा हो गया है, मुझे इससे विलास में फंसने का क्या अधिकार है? धन समाज का है। मुझे तो अपने निर्वाह के लिए जितना आवश्यक है, उतना मैं इसमें से लेता हूँ। बाकी जब भी समाज को आवश्यकता होगी, वह उसके काम आ सकता है। यह सात्विक भावना है। पूंजी के प्रति अनाकर्षण ही वास्तव में अपरिग्रह है। उसके पास यदि रुपए आ जाते हैं तो उसे कोई बहुत बड़ी खुशी नहीं होती और यदि चले जाते हैं तो उसे नाराजगी भी नहीं होती।

परन्तु धन पास में आ जाने के बाद यह भावना रहनी बड़ी मुश्किल है। मनुष्य चोरी छोड़ सकता है, अनैतिक तरीकों से रुपया अर्जन करना छोड़ सकता है, पर प्राप्त पैसे का मोह छूटना बड़ा मुश्किल है। कुछ लोग पूंजी का त्याग भी करते है कि मैं ५ लाख से अधिक रुपये नहीं रखूंगा। पहले तो ५ लाख की यह छलांग भी कितनी लम्बी है, पर इससे भी बढ़कर दूसरी बात है कि बाकी बचे धन को बड़ी होशियारी से अपने पुत्र-पौत्रों में बाँट देना। देखने की बात है—आखिर वह धन गया कहाँ? रहा तो घर-का-घर ही में यद्यपि वह सीमा निर्धारण करता है, पर इससे समस्या का हल नहीं होता। त्याग का आदर्श तो यही है कि मनुष्य अपनी आवश्यकताओं से अधिक मोह रखने की चेष्टा न करे। आवश्यकताएँ जितनी थोड़ी होगी, मनुष्य उतना ही सुखी रहेगा। परिमाण से अधिक जो धन है, उससे वह अपना संरक्षण छोड़ दे, यह अपरिग्रह का सिद्धान्त है। शेष के धन का परिवार वाले क्या करते हैं, यह चिन्ता उसे रखने की आवश्यकता नहीं है। अपनी तरफ से अर्थ की चिन्ता से मुक्त होना ही उसका ममत्व विसर्जन है।

बहुत से व्यक्ति अर्थ का विसर्जन तो कर देते हैं, पर घर में पाई-पाई के खर्च की चिन्ता करते हैं। शाक कितने पैसों का आया? दूध इतना मँहगा क्यों मँगाया गया? नौकर निठल्ले क्यों बैठे हैं? वे काम करते हैं या नहीं—ये सब बातें परिग्रह-मुक्त व्यक्ति की नहीं है। उसने जब अर्थ का त्याग ही कर दिया है, तब फिर वह उसके उपयोग की चिन्ता करे, यह उसे शोभा नहीं देता।

कुछ लोगों का ख्याल है—वे यदि इस प्रकार घर की निगरानी नहीं

रखें तो क्या घर उजाड़ न हो जाय ? सोचने की बात है—उनके यहाँ से चले जाने के बाद घर का काम कैसे चलेगा ? क्या बाद में घर उजाड़ हो जायेगा। बड़ी उम्र पाने के बाद भी जो घर की चिन्ताओं से मुक्त नहीं होते, उनकी तो फिर जाट जैसी ही दशा होगी :—एक गाँव में एक जाट रहता था। घर का भरपूर था। परिवार भी काफी बड़ा था। पुत्र व पौत्र उसे बहुत मनाई करते बाबा अब तुम बड़े हो चले हो, अत: घर के धन्धों को छोड़ो और इस ढलती उम्र में कुछ धार्मिक क्रिया किया करो, पर वह किसी की नहीं सुनता। घर में दो एवड़ (भेड़-बकरियों का समूह) रखता और उसकी सार सम्भाल भी स्वयं ही करता। स्वयं अपने हाथों से उन्हें पानी पिलाता, चारा खिलाता। लड़के ज्यादा जिद्द करते तो कहता तुम लोगों में अक्ल ही कहाँ है ? तुम्हारे भरोसे यदि पशु छोड़ दिये जायें तो दो दिन में "चोका" उजड़ नहीं जाये ? पुत्र-पौत्र बेचारे चुप रह जाते। एक दिन वह अपने हाथ से पानी निकाल-निकाल कर पशुओं को पिला रहा था। अचानक उसका जर्जरित शरीर वश में नहीं रहा और लाव के साथ में ही कुएँ में गिर गया। पुत्र-पौत्र उसका शब्द सुन कर दौड़ कर आये। पर इतने में तो दिए का तेल समाप्त हो चुका था। उन्होंने उसे बाहर निकाला। उसे मरा देखकर वे कहने लगे—बाबा हमने तुम्हें कितना कहा था कि तुम अब बुड्ढे हो चले हो। तुम्हारा शरीर तुम्हारे वश में नहीं रहा। अब तुम्हारा शरीर काम करने का नहीं है। अब तो तुम्हें आराम और ईश्वर भजन करना चाहिए। पर तुमने हमारी एक न सुनी। उल्टा हमें ही कोसता कि मैं काम नहीं करूँगा तो पशु मर नहीं जायेंगे। पर अब उनके व्यंग और संवेदनाओं का उत्तर देने वाला कौन था।

ठीक इसी प्रकार जो मनुष्य अवस्था पाकर और साधन सम्पन्न होकर भी अन्त में घर की चिन्ताओं से मुक्त नहीं होता, वह सुखी कैसे हो सकता है ?

यद्यपि घर में जो बड़ा होता है, उसे घर का नेतृत्व करना पड़ता है। पर इन छोटी-छोटी बातों के लिए प्रतिपल दूसरों को गालियाँ देना, गुस्सा करना, पैसे से अत्यधिक चिपके रहना, यह तो उसे शोभा नहीं देता। नेतृत्व का अर्थ तो यह है कि घर के लोगों के आचार, व्यवहार के बारे में ध्यान रखना। वे फिजूलखर्ची व फैशन में तो नहीं पड़ गये हैं। कम से कम १५ दिनों में एक बार घर के सब सदस्यों को सामूहिक शिक्षा देना। पर लोग आज इन बातों को तो भूल से गये हैं। सारे दिन हाय-हाय कर दूसरों का अपमान करना ही शायद आज नेतृत्व रह गया है। यह सब परिग्रह के झुकाव के कारण होता है। अत: भगवान महावीर ने कहा—अपरिग्रही बनो। कोई बिल्कुल अपरिग्रही नहीं हो सकता तो कम से कम

अपनी आवश्यकता से अधिक परिग्रह तो नहीं रखे। यही अणुव्रत का आदर्श है।

८० : परिष्कार का प्रथम मार्ग

समाज के रथ के दो पहिए हैं, स्त्री तथा पुरुष। दोनों ही सुगठित एवं सशक्त रहें तभी समाज का रथ भली प्रकार आगे बढ़ सकता है, अन्यथा नहीं। अपने-अपने क्षेत्र में दोनों का अत्यन्त महत्त्व है। आज जो महिलाओं की इतनी बड़ी सभा हुई है, उसका अपना एक विशिष्ट उद्देश्य है। ऐसे बहिनों को प्रवचनों में बहुत कुछ सुनने को मिलता है और उनकी सुनने की रुचि भी अत्यन्त तीव्र रहती है; किन्तु केवल श्रवण मात्र से ही तो काम होता नहीं। जैसे, खाना खा लेने के बाद उसे पचाने, हजम करने की नितान्त आवश्यकता होती है क्योंकि उसको पचा लेने से ही मनुष्य बलवान बनता है, केवल खाने मात्र से नहीं। उसी प्रकार विमल विचार सुनने मात्र से ही कल्याण नहीं होता, उनको अपने जीवन में रमाने, आत्मसात् करने से जीवन-विकास होता है। सुनने की इच्छा और निष्ठा बहनों में कितनी है, यह तो प्रत्यक्ष सिद्ध है। सायंकाल की रसोई का समय हो गया है पर बहिनें उसी प्रकार तन्मयता से सुन रही हैं। अपने आसनों पर वैसे ही डटी हुई हैं। इसका प्रभाव नवागन्तुक बहिनों पर अवश्य ही पड़ेगा, किन्तु इतनी स्थिरता से ही तो तुम्हारा साध्य सिद्ध नहीं हो जायेगा। उसके लिए तुम्हें और कुछ भी करना पड़ेगा, तभी सफलता मिलेगी।

जीवन सदा सुखी रहना चाहिए। अन्तर से भी और बाह्य रूप से भी। तभी वह आगे गमन कर सकता है। रूढ़ियों का भार उस पर लाद दिया जाए तो वह दब जाएगा। उसमें विकास की कोपलें नहीं फूटेंगी। मारवाड़ी बहिनें कुछ रूढ़ियों से अवश्य ग्रस्त हैं। जब तक वे उनमें उलझी रहेंगी तब तक सुधारक की आत्म-कल्याण की बात कैसे सम्भव हो सकती है? रूढ़ियाँ योगी की जटा की तरह गहरी उलझी हुई हैं। उन्हें सुलझाने का कोई तरीका निकालना चाहिए।

एक मनुष्य ने लम्बी तपस्या की। समस्त शरीर की सार सम्भाल छोड़ दी। उसकी जटा बहुत बढ़ गई और उलझ गई। सुलझाने के लिए कंघी आई। पर कई कंघियाँ टूट जाने पर भी जटा सुलझी नहीं। इस प्रक्रिया को देखकर किसी समझदार ने कहा, भई! यह इस प्रकार नहीं सुलझेगी। इसके लिए उस्तुरा लाओ और सिर पर फेर दो। इसे सुलझाने

का सिर्फ यही मार्ग है। रूढ़ियों को सुलझाने का तरीका उनका त्याग ही है। अन्य किसी प्रकार वे नहीं सुलझेंगी। बहनों को, विशेष कर मारवाड़ी बहनों को रूढ़ियों का बहिष्कार अवश्य करना है। यह व्यक्तिगत रूप से भी हो सकता है और सामूहिक रूप से भी। मैं यह नहीं कहता कि बिना सोचे-समझे ही कोई काम कर डालो। जो कार्य चिन्तन पूर्वक सोच समझ सहित होता है वह ठीक और स्थायी होता है। मैं आज बहनों से जोर देकर एक ही बात कहूँगा कि वे प्रत्येक कार्य का पूर्ण चिन्तन करें कि अमुक कार्य क्यों किया जा रहा है? उसका क्या उपयोग है? उसके साधन कौन से होने चाहिए? यदि प्रत्येक कार्य के पहले बहनें 'क्यों' का प्रश्न लगाए रखेंगी तो वे अपने आप में बहुत सुधार कर लेंगी और व्यवस्थित बन जाएंगी। चिन्तन परिष्कार का प्रथम मार्ग है। इसी के सहारे बड़े-बड़े परिवर्तन हुए हैं। बहनों में चिन्तन की मात्रा है तभी तो वे गले का सूत पैरों में नहीं पहिनतीं और पैर के गहने गले में। यह विवेक का ही परिणाम है कि वे इस प्रकार विपर्यय नहीं करतीं। महिलाएँ जो अपने घर का संचालन करती हैं, उनमें क्या चिन्तन का पुट नहीं है? बहनें चिन्तनशील हैं, वे विचार भी करती हैं किन्तु आवश्यकता इतनी-सी है कि वे इसे और विकसित करें तथा ऊँचे और अच्छे कामों में लगाएँ। थोड़े ही समय बाद वे देखेंगी कि उनमें कितना परिवर्तन आ गया है तथा वे किस प्रकार अपने लक्ष्य के निकट हो रही हैं। चिन्तन का बहुत महत्त्व है। उससे बहुत बड़ी स्पष्टता आ जाती है और आगे विकास की धाराएँ खुलने लगती हैं। किसी प्रकार की उलझन नहीं रहती। जैसे आप जानती हैं कि जीवन क्यों और किस न्याय से है? यह जानना आवश्यक भी है क्योंकि हमारा मार्ग न्याय का है। हम न्याय से हट कर एक इंच भी नहीं चल सकते। इस न्याय में सारा रहस्य भरा हुआ है। जो इसे नहीं जानता, वह कुछ नहीं जानता।

एक बार आचार्य भिक्षु के पास एक भाई आया। उसने कहा, मेरे से चर्चा करो। मेरे से किसी विजय पर बहस करो। आचार्यश्री ने कहा—भाई, जब तुम ज्ञानी होने का दावा करते हो तो तुमसे क्या विवाद किया जाय? अन्ततः उसके अत्यन्त आग्रह पर आचार्य भिक्षु ने कहा—तुम संज्ञी हो या असंज्ञी?

थोड़ा विचार करने के बाद उसने उत्तर दिया—संज्ञी।

आचार्यश्री ने पूछा—किस न्याय से?

उत्तरदाता घबड़ाया और सोचने लगा : उत्तर ठीक नहीं दिया गया। तत्काल बदला। कहा—नहीं, नहीं, असंज्ञी।

आचार्यश्री ने पूछा—किस न्याय से ?

वह पुनः दुविधा में पड़ गया और कहा—दोनों हूँ।

आचार्यश्री ने कहा—बताओ किस न्याय से ?

वह घबड़ा कर बोला—दोनों ही नहीं।

आचार्य भिक्षु ने कहा—कहो किस न्याय से ?

उसे यह "किस न्याय से" पूछा जाना बहुत बुरा लगा। क्योंकि इसके आगे उसकी ज्ञान-पूंजी समाप्त हो गई थी। अतः क्रोध आ गया। क्रोध के वशीभूत होकर उस ने आचार्यश्री की छाती में एक मुक्का जमाया और बोला—आग लगे तुम्हारे इस 'किस न्याय' से और वह वहाँ से चला गया। तो मेरी सारी बातों का सारांश यही है कि बहनो! इस न्याय को सीखो। बस इस एक बात में मेरी सारी अन्य शिक्षाएँ सम्मिलित हैं। कोई भी काम केवल कहने से मत करो। उस पर विचार करो, सोचो, सूक्ष्म चिन्तन करो। हेय उपादेय की दृष्टि से देखो। फिर अच्छी हो तो उसे स्वीकार करो अन्यथा त्याग दो। महिलाएँ अणुव्रत-आन्दोलन के प्रचार एवं प्रसार में समान योग दे सकती हैं। उनकी योग्यता के बारे में मैं तनिक भी संदिग्ध नहीं, पर उन्हें अपने आप को और व्यवस्थित गढ़ लेना है। वे अधिक दिखावट और कोरी 'पोजीशन' में न फँसें। अपना जीवन सदा सात्विक बनायें। बाह्य सौन्दर्य के प्रसाधनों में भी उन्हें समय नहीं गँवाना चाहिए क्योंकि आखिर ऊपर का सौन्दर्य टिकने का तो है नहीं। स्थायी तो आत्म-सौन्दर्य ही होगा। मैं समझता हूँ आत्मिक सौन्दर्य प्राप्त करने के लिए उनके समक्ष अणुव्रत एक श्रेष्ठ मार्ग है। वे यदि इस पर चलना आरम्भ करती हैं तो अनेकों को इस पर चलाने में समर्थ होंगी, क्योंकि वे बच्चों से लेकर बूढ़ों तक की विधात्री हैं। सबका संचालन वे अत्यन्त कुशलता एवं मधुरता से कर सकती हैं।

सुजानगढ़

८१ : प्रवचन का अर्थ

प्रातःकाल में प्रायः लोगों को खुराक लेने का अभ्यास होता है। इसी-लिए शायद अधिक लोग कुछ खा-पीकर ही आये होंगे। पर उस खुराक से दूसरी खुराक और भी ज्यादा आवश्यक है। वह है—जीवन की खुराक। जिस प्रकार शरीर को चलाने के लिए नाश्ता लोगों ने आवश्यक मान लिया है, उसी प्रकार जीवन को चलाने के लिए प्रवचन भी आवश्यक है। प्रवचन

माने ओजपूर्ण वचन। वैसे हर एक बात कहना मात्र ही वचन होता है, पर प्रवचन वही होता है, जो विशेष रूप से कहा जाये। प्रवचन का एक दूसरा अर्थ है—शासन। निर्ग्रन्थ-प्रवचन यानी निर्ग्रन्थ का शासन। यह शासन कोई डंडे का शासन नहीं होता है। यहाँ शासन का अर्थ—आत्मानुशासन या पथ-दर्शन है। यही धर्मगुरुओं का शासन होता है, पथ-दर्शन उनका कर्तव्य होता है। अतः वे जनता का पथ-दर्शन करते हैं। उनके बताये मार्ग पर कोई चलता है या नहीं, यह चिन्ता उन्हें नहीं सताती। कोई चलता है तो इसका उनपर कोई एहसान नहीं होता और न कोई खुशी होनी है। क्योंकि इसमें आखिर खुशी की बात है ही क्या? यह तो जीवन का आवश्यक मार्ग है और अगर कोई उनके बताये मार्ग पर नहीं चलता तो उन्हें कोई दुःख भी नहीं होता है। कष्ट तो स्वयं नहीं चलनेवालों को होनेवाला है, क्योंकि वे जीवन की समरेखा पर नहीं चलते हैं। कार्य अपने विरुद्ध तो कोई फल देनेवाला है नहीं। जो जैसा करेगा वैसा भरेगा, यह निश्चित है। अतः अगर कोई उनके मार्ग पर नहीं चलता है तो उन्हें क्या दुःख? दुःख तो उन्हें होता है जो उस पर नहीं चलते हैं। उनका कार्य है मार्ग बताना। वह कार्य वे निस्पृह भाव से करते हैं और करते रहेंगे।

प्रवचन तीन प्रकार के होते हैं। एक तो सिद्धान्त का प्रवचन, दूसरा अनुभवपूर्ण प्रवचन और तीसरा लौकिक स्थिति के अनुकूल प्रवचन। प्रवचन केवल सुनने का ही नहीं होता है। लोगों को सिद्धान्त का प्रवचन सुनने की बड़ी रुचि रहती है। उनका विश्वास है—सिद्धान्त के वचन कानों में पड़ जाने से वे भव-भव में बहरे नहीं होंगे। मैं इस बात का विरोध नहीं करता, पर इस सम्बन्ध में मेरा एक विचार अवश्य है कि आप जो यह मानें कि सिद्धान्त श्रवण मात्र से ही अपना कल्याण हो जायगा, यह बात सही नहीं है। सुनना केवल सुनने तक ही सीमित हो, इससे कल्याण होने वाला नहीं है। उससे कल्याण तो तब होगा जब वह अकर्मण्य नहीं रहकर क्रिया रूप से जीवन में उतरेगा। धर्मशास्त्रों में अनेक अच्छी-अच्छी बातें कही गयी हैं। लोग उन्हें सुनते भी बहुत हैं, पर सोचने की बात है उनका आचरण कौन करता है? इसीलिए मैंने एक पद्य में कहा था—"धर्मशास्त्र के बासिकपन को आचरणों में लाएँ हम।" अतः आज यह आवश्यकता है कि सिद्धान्तों की बातों को, शिक्षाओं को जीवन में उतारा जाए। उनमें अनेक अच्छी-अच्छी बातें हैं, यह मानता हूँ। अतः उनके श्रवण से लाभ भी है, यह भी सही है, पर सुनना केवल सुनने तक सीमित रहे और उससे कल्याण होना मान लिया जाय, यह तो एक प्रकार से ईश्वर कर्तृत्व

का ही सिद्धान्त हो जाता है। इस प्रकार ईश्वर कर्तृत्व को मानकर लोग अकर्मण्य हो जाएँ, यह उपयुक्त नहीं है। इसी प्रकार सुनने मात्र से कल्याण मानकर अकर्मण्य हो जाना उपयुक्त नहीं है।

८२ : आर्षवाणी का ही सरल रूप

अणुव्रत भी तो आर्षवाणी का ही सरल रूप है। सिद्धान्तों में आचरण की अनेक बड़ी-बड़ी बातें हैं, पर सब मनुष्य उन सारी बातों को ग्रहण नहीं कर सकते। अतः अणुव्रत द्वारा हमने इतना तो कर दिया है कि मनुष्य कम से कम इतनी अहिंसा का तो पालन करे ही, पर इस ओर लोगों की प्रवृत्ति कम है। जिस प्रकार चलते-चलते सामने बाधा आ जाने पर चला नहीं जाता उसी प्रकार अणुव्रत के आचरण के बारे में भी कुछ बाधाएँ हैं। वे दो प्रकार की हैं—एक तो है विचार की और दूसरी है करने की। विचार के बारे में कुछ लोगों के इसे समझने में उलझनें पैदा हो गईं। वह यह कि कुछ लोग यह समझने लगे हैं कि यह उचित है या नहीं? कहीं यह गलत रास्ता तो नहीं है? बारह व्रतों की पहले व्यवस्था थी ही तो फिर अणुव्रतों की पुनर्रचना करने की क्या आवश्यकता पड़ी? कहीं इसके प्रवर्तन के पीछे अपनी ख्याति की भावना तो नहीं है। इस प्रकार के प्रश्नों से अणुव्रतों के आचरण में एक अवरोध पैदा हो गया है और जन-साधारण इससे कुछ-कुछ गुमराह हो गया है। उसने सोचा कि कुछ लोग जो ऐसी बातें करते हैं, सचमुच ही वह कहीं सच ही तो नहीं हैं, पर उन्होंने यह नहीं सोचा कि अणुव्रतों में जो बातें बताई गई हैं वे उनके जीवन के लिए आवश्यक हैं या नहीं? जिस प्रकार भूखा मनुष्य सामने खीर आने पर यह नहीं सोचता कि यह कहाँ से आयी है? क्यों आयी है? यह किस चीज की बनी हुई है? वह तो तत्क्षण उसे खाने ही बैठ जाता है, उसी प्रकार जनता को भी चाहिए तो यह था कि जब उसके सामने यह योजना आयी तो क्यों और कैसे के प्रश्नों को छोड़कर उसे अपने जीवन में स्थान देती। पर जीवन में किसे उतारना था। उन्हें तो बहाना बनाना था। कई मनुष्यों का यह स्वभाव होता है कि उन्हें जिस चीज को नहीं अपनाना होता है, उसके लिए बहाना ढूंढ़ते हैं। मेरी समझ में अणुव्रतों के बारे में भी उपरोक्त प्रश्नों का कारण बहाना ही हो सकता है। जिन लोगों को अणुव्रत अपनाना नहीं था और अपने आप को ऊँचा बनाए रखना भी आवश्यक था, वे लोग सीधे तो अणुव्रतों को गलत कैसे कह सकते थे। अतः

उन्होंने ऐसे प्रश्नों का बहाना बनाकर जनता को गुमराह करना शुरू कर दिया। नहीं तो भला सत्य और अहिंसा के प्रसार के बारे में किसी के ऐसे विचार हो ही कैसे सकते हैं? पर खुशी की बात है कि प्रायः लोगों के वे प्रश्न अब समाप्त हो गए हैं। अब प्रायः लोग यह समझने लगे हैं कि इसके पीछे कोई दूसरा लक्ष्य नहीं है। यह तो जीवन-शुद्धि का ही एक मार्ग है। इस प्रकार यह वैचारिक बाधा तो एक प्रकार से समाप्त हो गयी है।

अणुव्रत के आचरण की दूसरी बाधा थी कि लोग यह समझने लगे कि कार्यशील व्यक्ति तो इसे अपना ही नहीं सकता। समाज की प्रायः यह धारणा थी और आज भी है कि यह तो रिटायर्ड व्यक्तियों का ही काम है, पर मेरी समझ में यह नहीं आया कि रिटायर्ड है कौन? मरने से पहले तो किसी का रिटायर्ड होना मुश्किल है। हर व्यक्ति के पीछे कोई न कोई काम तो लगा ही रहता है। इस माने में रिटायर्ड किसे माना जाय? हाँ, मरने के बाद फिर कोई काम नहीं रहता, फिर व्यक्ति उस जन्म की दृष्टि से रिटायर्ड हो सकता है, पर तब जब मनुष्य स्वयं ही नहीं रह जाता तो अणुव्रतों के आचरण का प्रश्न ही कहाँ रह जाता है। लोग समझते हैं—मरने के बाद मुक्ति मिल जाती है, पर यह सही नहीं है। जीवन तो आगे से आगे चलता ही जाता है। कर्मक्षय होने पर मोक्ष भी मिलता है, पर मरने पर नहीं मिलता। मोक्ष तो प्रायः इसी जीवन में मिल जाता है। यहाँ से देह-मुक्ति होने पर तो आत्मा उस स्थान में व्यवस्थित हो जाती है, जहाँ से आगे उसकी गति का सहायक तत्त्व नहीं रह जाता। अतः कार्यशील जीवन में ही जो व्यक्ति अणुव्रती बनेगा, वह अपने जीवन में शान्ति का अनुभव करेगा।

अणुव्रत का अर्थ है—शान्ति और आनन्द। पर वह आनन्द वस्तु-निरपेक्ष आनन्द है। पदार्थ-प्राप्ति पर जो आनन्द मिलता है वह तो क्षणिक है। वस्तु मिलती रहेगी, तब तक तो आनन्द रहेगा और वस्तु नहीं मिली तो फिर दुःख होने लगेगा। पर पदार्थ-निरपेक्ष आनन्द में यह बात नहीं है। उससे जो आनन्द होगा वह वस्तु-प्राप्ति पर निर्भर है ही नहीं, पर वह स्थायी होगा। जब भी मनुष्य उसका स्मरण करेगा, तभी उसे आनन्द मिलेगा। कल मैंने उपवास किया था। एक भाई ने पूछा—उपवास में आपको शान्ति तो है? मैंने कहा—आज मुझे कल से अधिक शान्ति है। क्योंकि मैंने अनुभव किया कि उपवास में जो आनन्द मिलता है वह खाने में नहीं मिलता। उस आनन्द की बात ही और होती है। जैसा मैंने अनुभव किया वैसा ही शायद औरों को होता होगा। वह आनन्द मर कर प्राप्त किया जाये

यह तो है ही नहीं। इसीलिये अणुव्रत-आन्दोलन मृतकों के लिए नहीं है, वह जीवित लोगों के लिए है। अपने-अपने काम में लगे हुए लोगों के लिए है।

आज इस अवसर पर मैं आपसे इतना अवश्य कहना चाहूँगा कि आप अपने दिल से अणुव्रत के बारे में जो भय और शंकाएँ हैं, उन्हें निकाल दें। बहुत से लोग सोचते हैं—अणुव्रत तो बहुत भारी चीज है, पर वास्तव में बात ऐसी नहीं है। आप कम से कम एक बार अणुव्रत की नियमावली को तो ध्यानपूर्वक पढ़ें। उसके बहुत से नियमन तो सहज ही हैं। कुछ ऐसे नियम है, जिनमें शायद आप कुछ अटक भी जायें, पर उस विषय को आप आलोचना-प्रत्यालोचना और चिन्तन के लिए रहने दें। धीरे-धीरे आप में स्वयं एक अणुव्रत के अनुकूल मानसभूमि तैयार हो जाएगी। मैंने देखा—यहाँ अभी दो दिन पहले खूब जोर से वर्षा आयी कि बहुत से घर पानी से घिर गए। धीरे-धीरे वह पानी बह गया या सूख गया। आज लोग अपने घरों में कुछ अटके हुए पानी को अलग-अलग तरीकों से निकालने का प्रयत्न कर रहे हैं। इसी प्रकार आप भी बहुत से अणुव्रत नियमों से तो सहज ही निकल जाएँगे। कुछ व्रतों में जहाँ आप अटक जाते हैं, वहाँ फिर आपको दूसरे तरीके भी अपनाने पड़ेंगे। जहाँ चाह है, वहाँ राह भी मिल जाएगी। अतः आप कम से कम अणुव्रत के नियमों को अपने आत्मालोचन के साथ पढ़ें यह अवश्य हो।

मेरी एकमात्र आन्तरिक तड़प है कि कम से कम मेरे निकट रहनेवाले लोगों का जीवन ऊँचा हो। मैं समझता कि यहाँ बैठे लोग मेरी भावना को कितनी समझते हैं, पर अगर आप मेरी दृष्टि को सफल बनाना चाहते हैं तो सबसे पहले आप लोगों को अपने जीवन को शुद्ध बनाने की आवश्यकता है। कुछ लोग छोटी-छोटी बातों में मेरी दृष्टि को खींचने का प्रयत्न करते रहते हैं, पर मैं जो चाहता हूँ, उस बात को समझने वाले कितने लोग होंगे, यह एक समझने की बात है। यद्यपि मैं छोटी-छोटी बातों को भी कम महत्त्व नहीं देता। उनका संकलन ही तो आखिर जीवन है, पर साधारण बातों में मेरी दृष्टि का उल्टा-सीधा अर्थ लगा कर दूसरों की जबान बन्द कर देना यह कोई विशेष समझ की बात नहीं है।

सुजानगढ़,

८३ : श्रामण्य का सार : उपशम

कल रात को प्रतिक्रमण किया। एक मुहूर्त लगा होगा। दूसरे मुहूर्त में 'खमत खामणा' किए, क्षमा दी और ली। व्यवहार पूरा हुआ। यह सारा कार्य सीमित था। यह क्षमा का आदान-प्रदान उन्हीं से हुआ जो मेरे सामने थे। किन्तु इतने से भी मैंने स्वयं को भार-मुक्त पाया।

अब मूक "खमत खामणा" शुरू हुई। स्मृति का प्रस्थान हुआ। जो जो साधु-साध्वियां सामने नहीं, उन्हें याद किया। श्रावक-श्राविकाओं तथा जिन्हें मैं जानता हूं, उन्हें याद किया, जिनसे साक्षात् परिचित नहीं हूं उन्हें भी नहीं भूला, वर्ष भर के मृदु-कटु व्यवहारों को याद किया—मैं ससीम से असीम की ओर चल पड़ा। जान-अनजान में हुई अपनी भूलों के लिए मैंने सब से क्षमा मांगी और उनकी भूलों को भुलाया। मेरा हृदय सीमा-भेद से मुक्त था।

भगवान् ने कहा—'आय तुले पयासु' अर्थात् सब को आत्म-तुल्य समझो। आगे कहा—'अत्तसमे मनिज्ज छप्पिकाए'—छवों जीव निकायों को आत्म तुल्य समझो। पहले में जो अभेद से कहा, वहीं दूसरे में भेद-दृष्टि से कहा है। आत्म-तुला की बात दोनों में समान हैं। आगे चलकर कहा—'उवसम सारं खु सामण्णं' —*जीवन का सार है—श्रामण्य और श्रामण्य का सार है* उपशम। इस वाक्यत्रयी में लगता है, भगवान् ने त्रिलोकी को समेट लिया। वैदिक पुराणों के अनुसार विष्णु ने और जैन पुरानों के अनुसार विष्णुकुमार ने तीन पैरों में सारे विश्व को समेट लिया—ऐसा कहा जाता है। समता का संसार इस त्रिपदी में समाया हुआ है।

विरोध दो में होता है। लड़ाई, झगड़ा, वैमनस्य, आदि आदि सारे विग्रह दो में होते हैं। क्षमा का सम्बन्ध भी दो से है। एक व्यक्ति कलह को शान्त करना चाहे, क्षमा लेना देना चाहे, दूसरा न चाहे तब क्या किया जाए? यह दुविधा है।

भगवान् ने तीसरे वाक्य में इसका समाधान दिया है—शिष्य ने पूछा—भगवन्! दो साधुओं में अधिकरण—कलह हो गया। एक साधु उसे शान्त करना चाहता है, दूसरा नहीं चाहता। एक उसे क्षमा देता है लेता है, दूसरा उसे न आदर देता है, न बोलता है; तब क्या किया जाय? भगवान् ने कहा—दूसरा न बोले, उसकी अपनी इच्छा है। आदर न दे, उसकी अपनी इच्छा है; क्षमा न दे, न ले, उसकी अपनी इच्छा है। किन्तु जो क्षमा लेता-देता है वह आराधक होता है। जो क्षमा न लेता, न देता वह विराधक होता है। कारण, यह श्रामण्य उपशम सार है।

इस वाणी का सार इतना ही है कि विरोध दो में भले ही हो, क्षमा एक ओर से भी हो सकती है।

सत्य यह है कि हम अपनी ओर देखना सीखें, अपनी चिन्ता करना सीखें। हमारा जितना समय दूसरों की चिन्ता में बीतता है, उसका थोड़ा भाग भी अपनी चिन्ता में नहीं बीतता। इस वृत्ति को बदले बिना शान्ति सम्भव नहीं। सहवास में वैमनस्य सम्भव है। वैमनस्य आया, कि अशान्ति आई। दोनों साथ साथ चलते हैं। शान्ति का साधन सौमनस्य है। सौमनस्य का मार्ग है—हम दूसरों के अपराधों की गाँठ बाँध न बैठें। उन्हें बड़ी सतर्कता से याद करें। दिल से निकाल फेंकें और फिर सदा के लिए भूल जाँय। यह स्मृति और क्षमा का मार्ग ही शान्ति का मार्ग है।

अपराध दूसरों द्वारा भी हो सकता है, अपने द्वारा भी हो सकता है। ऐसा कौन है जिससे कभी भूल न हो। भूल की विस्मृति के लिए उसकी स्मृति करना अच्छी बात है। उपशम का मन्त्र सीखे बिना उसकी कोरी याद खतरनाक होती है। हमारे लिए उपशम जीवन घूंटी है। उसे भला हम कैसे भुलाएँ?

जो हमारे मित्र हैं, अथवा जिनसे हमारा कोई वास्ता नहीं उन्हें क्षमा करना व उनसे क्षमा लेना बड़ी बात नहीं है। बड़ी बात वह है जिनसे हमारे सम्बन्ध कटु हो गये हों, जिन्हें हम शत्रु मान बैठे हों, उन्हें क्षमा देना और लेना। जहाँ सम्बन्ध होता है वहाँ कटुता भी हो सकती है। कटुता का अन्त क्षमा में हो—यही है, 'खमत खामणा' का गूढ़ रहस्य।

क्षमा देने लेने में पहले पीछे मत देखो। यह ऐसा कार्य है जो आँख मींच कर किया जा सकता है। बड़े से बड़े अपराध को भी सहसा भूल जाओ। उदायन को याद करो। वह चंडप्रद्योत को जीत, बन्दी बना, अपनी राजधानी को जा रहा था। बीच में सम्वत्सरी आ गई। प्रतिक्रमण किया, बड़ों, छोटों अधिकारियों और कर्मचारियों से, सबसे क्षमा माँगी। सब ने क्षमा दी। चण्डप्रद्योत से भी माँगी। वह बोल उठा—यह कैसी क्षमा की माँग? बन्दी राजा बन्दी बनाने वाले राजा को क्षमा करे? यह नहीं हो सकता। उदायन ने सोचा—ठीक कह रहा है। वह उठा। चण्डप्रद्योत के बन्धन खोले, गले मिले, क्षमा लेने देने में सारे विरोध भूल गये। यह बन सकता है किन्तु हृदय विशाल होना चाहिए। सामने वाला क्षमा न दे तब भी अपना हृदय सरल हो तो 'खमत खामणा' हो सकते हैं। किन्तु दोनों ओर से हृदय सरल हो जाय उसका फिर कहना ही क्या?

'खमत खामणा' का तत्त्व बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। वह अगम्य हो रहा

है। मैत्री की महिमा को बहुत कम लोग समझते हैं। प्रतिकार में जो रस आता है वह मिल कर चलने में नहीं आता—यह कैसा मनोभाव है। थोड़ी थोड़ी बात पर लोग लड़ पड़ते हैं। सहिष्णुता मानो उठ ही गई हो। मानव-जीवन विषमता में परिणत होता जा रहा है। मैत्री की महिमा प्रकाश पाये—इसकी बहुत बड़ी अपेक्षा है।

अब मैं अपनी बात कहता हूँ। चारों संघ सामने है। साधु, साध्वियाँ, श्रावक और श्राविकाएँ। मेरा सब से काम पड़ता है। मैं बहुतों के लिए कभी प्रसन्नता और कभी क्षोभ का हेतु भी बन जाता हूँ। किन्हीं की इच्छा पूरी कर पाता हूँ और सम्भव है किन्हीं की नहीं भी कर पाता। और यह सम्भव भी कैसे हो कि सब की सारी इच्छाएँ पूरी हो जाएँ। बहुत सारे लोग दर्शन के लिए आते हैं। मैं कार्य-व्यस्त होता हूँ तब उन्हें पूछ भी नहीं पाता। किसी-किसी से महीनों तक बोलने का काम नहीं पड़ता। आजकल आगम-कार्य हो रहा है। व्यस्तता और अधिक है। मैं कभी कभी वन्दना की स्वीकृति भी नहीं कर पाता। मेरी स्वीकृति श्रद्धालुओं के लिए निधि हो सकती है, पर मैं उसे भी भूल जाता हूँ। इसके लिए मैं अपने को 'अपराधी' कहूँ तो कह सकता हूँ।

पिछले वर्ष संघर्ष की चिनगारियाँ उछलीं। उस स्थिति में समभाव रखना बहुत कठिन था। स्थिति विशेष में ऊँची नीची भावना आ सकती है, आई भी है। किन्तु उसे बनाए नहीं रखना है। आज हृदय सरल होना चाहिए और है भी। संघर्ष शान्त हो गया, सारी स्थिति शान्त है। शान्ति हृदय की सरलता से ही हो सकती है। कुछ साधु संघ से बिछुड़ गये। उनसे भी हमारा विरोध नहीं होना चाहिये। वे अपना काम करते हैं, हम अपना काम करें। विरोध रखना उचित नहीं। किसी को विरोधी मान उसके कार्य में बाधक मत बनो। विरोध अपना दोष है, उससे अपना ही अहित होता है।

मैं आज सब को याद कर रहा हूँ। मैंने आचार्य पद के नाते किसे उलाहना दिया, किसे टोका, किसे कुछ कहा, उस सब की याद हो रही है। सुदूर की स्मृतियाँ आ रही हैं। दृष्टियाँ चारों ओर बिखर रही हैं। ऊँची नीची भावना मिट रही है। मन हलका हो रहा है। यह कितनी शुभ और आनन्द की वेला है।

चातुर्मास के लिए बहुत प्रार्थनाएँ थीं। वह यहाँ हुआ। बीदासर वालों को अप्रिय लगा। यह होता भी है। तीव्र अभिलाषा यदि पूरी नहीं होती तो वहाँ एक चोट सी लगती है। उन्हें भी मैं इस अवसर पर याद किये लेता हूँ।

दूसरों की ओर देखना बहुत अच्छा नहीं। हित का मार्ग यह है कि अपनी ओर देखा जाए। वैर से अनिष्ट दूसरे का नहीं होता, अपना होता है। यह अध्यात्म दृष्टि है। अवैर-भाव इसी से लाया जा सकता है। विरोध को समभाव से सुलझाना सीखो। अदालतों के दरवाजे मत खट-खटाओ। समझौते से काम लो। क्षमा, समझौता, मैत्री ये जीवन के महान् गुण हैं। मानवता यही है। सम्वत्सरी जैसे पर्व से विकास का मार्ग खुले, प्रकाश मिले—इसी संबल को साथ ले हम अगले वर्ष में प्रवेश करें।

पर्युषणपर्व, '५७

८४ : आवरण

सब लोग अपने-अपने धर्म की प्रशंसा करते हैं और यह स्वाभाविक भी है। जो मनुष्य जिस वातावरण में पलता है, वह स्वभावतः ही उसे अच्छा लगने लगता है। वह उसकी अच्छाई बताए, इसमें कोई समस्या भी नहीं है। समस्या तब होती है, जब मनुष्य दूसरों की निन्दा करने लग जाता है। निन्दा सुनकर कौन मनुष्य भड़क नहीं उठता और बाद में लड़ाई की नौबत तक आ जाती है। वास्तव में धर्म का स्वरूप ही यही है कि कोई किसी की निन्दा न करे। अपनी आत्मा की साधना करे, पर शास्त्रों में धर्म को भी सावद्य कहा गया है। सावद्य धर्म यानी वह धर्म जो हिंसा पर आधारित हो। प्रश्न होगा—धर्म और फिर हिंसात्मक —ये दोनों बातें एक साथ कैसे होंगी? पर यह औपचारिक वाक्य है। धर्म शब्द से लोगों को प्यार है। अतः उस नाम से हिंसा को भी वहाँ आश्रय मिलता है। वास्तव में झूठ भी बिना सत्य के नहीं चल सकती। जो लोग झूठ बोलते हैं, वे भी कहेंगे तो यही कि उन्हें झूठ से बड़ी घृणा है। इससे बहुत से लोग उसके कहने में फँस जाएँगे और झूठ भी सत्य के आवरण में विकसित होता रहेगा। यह बात दूसरी है कि झूठ भी अधिक दिनों तक नहीं चल सकता, पर जितना चलता है, उतना सत्य के आवरण में ही चल सकता है। झूठ झूठ के आधार पर एक मिनट भी नहीं चल सकती। आज जो महाविनाशक शस्त्रों का निर्माण हो रहा है वह भी शान्ति और रक्षा के नाम पर ही हो रहा है। वास्तव में शान्ति और सुरक्षा का प्रश्न आज इतना मुख्य नहीं है, जितना अपने अधिकार का प्रश्न है। प्रत्येक शक्तिशाली राष्ट्र अपने अधिकारों की सुरक्षा के लिए इनका निर्माण कर रहा है। भला इन विषाक्त शस्त्रों से शान्ति

और सुरक्षा की बात सोची भी कैसे जा सकती है? आज तो उसका नाम सुनते ही दुनियां डरने और थर्राने लगती है। फिर भी शक्तिशाली राष्ट्र शान्ति के नाम पर उनका निर्माण करते बाज नहीं आते।

शान्ति और शस्त्र-निर्माण ये सर्वथा भिन्न दिशाएँ हैं और उनका प्रदर्शन तो निश्चय ही भय का मार्ग है। साधुओं के रजोहरण में एक लकड़ी (डांडी) रहती है। उनके लिए यह विधान है कि वे उसको खुली नहीं रख सकते। क्योंकि उसको खुली रखने से उससे पशु आदि डर जाते हैं और वे उसे किसी को डराने के लिए तो रखते नहीं, अतः वे उस पर एक कपड़ा लपेट लेते हैं, जिससे कोई उसे देख कर डर नहीं जाए। शान्ति का स्वरूप भी तो यही है। उसे शस्त्रास्त्रों के निर्माण में देखना सचमुच ही अहिंसा की ओट में हिंसा का पोषण करना है।

सीधे तौर पर पाप को पाप कहने से उसका उघाड़ हो जाता है। अतः उसे धर्म के नाम पर ढक कर खुले बाजार बेचा जा सकता है। आज जो जगह-जगह हड़तालें हो रही हैं, उनमें क्या किसी राजनैतिक दल विशेष का हाथ नहीं है? उसे आदर्श की ओट में कुछ लोग भड़का रहे हैं। वे लोग मजदूरों को तो बड़े मीठे-मीठे आश्वासन देंगे, पर अन्दर में न जाने क्या-क्या राजनीति चलती है। हमारे शरीर की भी तो यही अवस्था है। अन्दर से अशुचिपूर्ण है और अशुचि भी ऐसी, जिसे देखते ही घृणा हो जाती है, पर ऊपर चमड़ी का आवरण ऐसा है कि जिसमे सबको यह इसमें आकर्षण लगता है। आवरण में बड़ी भारी शक्ति होती है। दश-वैकालिक चूर्णि में एक कथा आती है—'एक माली फूल की टोकरी को लेकर जा रहा था। सड़क पर चलते-चलते उसे उत्सर्ग की बाधा हो गई। रास्ते में उत्सर्ग के लिए कहाँ स्थान मिलता। संयोगवश एक मिनट तक रास्ते पर कोई दीख नहीं पड़ा और मौका पाकर वहीं उसने अपना काम निकाल लिया। थोड़ी देर में लोग सामने आते दिखायी दिए। वह बड़ा शर्मिन्दा हुआ। क्योंकि आखिर है तो यह सभ्यता के विरुद्ध की चीज, पर तत्क्षण उसे एक युक्ति सूझ गई। अपनी टोकरी के फूलों को उस गन्दगी पर डालकर उसकी पूजा करने लगा। लोगों ने पूछा—यह क्या करते हो? उसने जवाब दिया—यहाँ अभी अभी एक देवी प्रकट हुई है। नाम है उसका 'हिंग्वा देवी'। अतः उसकी पूजा कर रहा हूं। देवता का नाम सुनकर कौन झुक नहीं जाता। सबलोग उसके सामने सिर झुकाने लगे। उन्हें क्या पता था कि यह आवरण का खेल है।

आवरण से जो चीज अच्छी लगती है, उसकी सुन्दरता में सन्देह ही है। वास्तव में सुन्दर चीज वही है, जो निरावरण होकर भी सुन्दर

लगे। बच्चे का नंगा शरीर भी असुन्दर नहीं लगता, क्योंकि वह वास्तविक सौन्दर्य है। इसीलिए कहते हैं—तीर्थंकरों के शरीर में सहज सौन्दर्य होता है। उस पर कपड़ा न होने पर भी वह सबको सुन्दर अविकृत लगता है। आज मनुष्य का सहज स्वभाव विकारों से आवृत्त हो रहा है। अतएव उसमें संक्लेश है।

इसी प्रकार धर्म भी कई गलत चीजों के लिए आवरण बनकर उन्हें दूषित कर रहा है। एक भिखारी जो लौकिक और आध्यात्मिक दृष्टि से पतित है, वह भी धर्म की छाप लगाकर दान माँग सकता है। जहाँ कुछ भी साधना नहीं है, वहाँ भी धर्म का नाम इतना प्रिय है कि उसे सुनते ही बहुत से लोग दान देने को तैयार हो जाते हैं। दान में भी अगर कोई यह कह दे कि मैं दान माँगता हूँ, पर मुझे देने से पाप लगेगा, तो शायद ही कोई मनुष्य उसे दान देना चाहेगा, पर धर्म का नाम इतना मीठा है कि उसकी छाया में पाप भी चलता है।

इसीलिये स्वामीजी ने कहा—धर्म के नाम से ही किसी चीज को मत अपनाओ। नाम की दृष्टि से गाय और आक दोनों का दूध ही है, पर यदि कोई गाय के दूध के बदले आक के दूध को काम में ले लेता है, तो उसकी क्या दशा होगी? यद्यपि आक का दूध अलाभप्रद है, ऐसी बात नहीं। उसे भी वैद्य लोग दवाइयों में काम लेते हैं, पर उसे गाय के दूध के स्थान पर काम में लेना भयंकर भूल होगी। उसी प्रकार हिंसा-अहिंसा, पाप-धर्म का विवेक आवश्यक है। नहीं तो फिर **"दुविधा में दोनों गए, माया मिली न राम"** वाली कहावत हो जाएगी। इसीलिये स्वामीजी ने कहा—हर चीज को अपने मूल्य से आंको। हाँ, यह माना कि समाज में रहने वाले मनुष्य को बहुत से व्यापार—धन्धे या सामाजिक कार्य करने पड़ते हैं, पर इसलिए कि वे समाज के लिए आवश्यक हैं, आवश्यक मान लेना जरूरी नहीं है। समाज में बहुत से काम चलते हैं। कुछ आवश्यकता के लिए चलते हैं, कुछ अनावश्यक ढर्रे के रूप में भी चलते हैं। जो अनावश्यक हैं, उन्हें आवश्यक मान लेना जिस प्रकार सही नहीं है, उसी प्रकार सामाजिक आवश्यक कामों को धर्म में मिला देना सही नहीं है। माना कि व्यापार करना सामाजिक प्राणी के लिए आवश्यक है, पर इतने मात्र से कि वह आवश्यक है, धर्म तो नहीं हो जाता। शास्त्रों में धर्म का लक्षण बताते हुए लिखा है—**"अहिंसा संयम तव लक्खणो धम्मो"** धर्म की यह कसौटी है। किसी भी कार्य में धर्म है या नहीं? यह देखना है तो उसे इसी कसौटी पर कसकर देख लो कि उसमें अहिंसा, संयम और तप है या नहीं। जैसे एक व्यक्ति मौन साधना करता है, वह धर्म है या अधर्म?

स्पष्ट है—वह धर्म है। क्योंकि उसमें वाणी का संयम है। इसी प्रकार झूठ बोलना स्पष्ट पाप है। कोई मनुष्य अपने स्वार्थ के लिए किसी की प्रशंसा करता है वह धर्म है या अधर्म? यहाँ हमें देखना होगा कि उसकी इस क्रिया में अहिंसा, संयम व तप की प्रवृत्ति होती है या नहीं, यदि होती है तो वह धर्म है और नहीं होती है तो वह अधर्म स्पष्ट है।

इसी प्रकार किसी को देने में यदि अहिंसा पुष्ट होती हो तो वह धर्म है। यदि ऐसा नहीं होता है तो वह धर्म कैसे होगा? हो सकता है, वह सामाजिक है। पर जब अहिंसा नहीं है, तो वहाँ धर्म तो हो ही नहीं सकता है, इसीलिये एक कविता में कहा है :

दान वही जहाँ पुष्ट अहिंसा, दया वहीं जहाँ नहिं हो हिंसा ॥
दान-दया का आडम्बर रच, मत हो शोषण भ्रष्टाचार ॥

यद्यपि बात थोड़ी कड़ी है, पर है सच्ची। कोई वैद्य दवाई देता है, वह कड़वी होती है, पर उसे विश्वास है कि यह कड़वी होते हुए भी मेरे लिए अच्छी है, मैं अच्छा हो जाऊँगा तो वह उसे आँख मूंद कर भी पी लेता है। उसी प्रकार बात चाहे कड़ी हो, पर है सही कि वही दान आध्यात्मिक है, जहाँ अहिंसा पुष्ट होती हो।

कई व्यक्ति दूध के लिए गौशाला का प्रबन्ध करते है, इससे समाज के अन्य लोगों को भी दूध मिल जाता है। लोग कहते हैं—उन्होंने बड़े धर्म का काम किया, पर हमारा यहाँ मत-भेद है। यद्यपि कोई ऐसा काम करता है तो हम रुकावट नहीं डालते, रुकावट डालना तो उल्टी हिंसा है, पर जहाँ सही तत्त्व बताने का प्रसंग सामने आएगा, वहाँ पर हम स्पष्ट कहेंगे कि यह समाज की व्यवस्था है या धर्म की? बहुत से लोग गौशालाओं के दूध का पैसा भी लेते हैं, तब तो धर्म पैसों में बिकने लगेगा, पर यह होता नहीं। अतः हमें समाज की आवश्यकता पर धर्म का आवरण नहीं डालना चाहिए, हर बात को स्पष्ट रखना आवश्यक है

अपनी दुविधाओं को मिटाने के लिए मनुष्य कार्य करते हैं। यदि मनुष्य उसे अपना कर्तव्य समझ कर करेगा तो इससे उसे अपने कर्तव्य-पालन की शिक्षा भी मिलेगी। उसे धर्म का जामा पहनाने से तो दो हानियाँ होंगी—एक तो लोगों को मीठे के नाम से झूठा खाना पड़ेगा और दूसरे उसे लौकिक प्रवृत्तियों को भी धर्म मानना पड़ेगा। आज कई जगह लौकिक प्रवृत्तियों को धर्म के नाम से पुकारा जाता है, पर आनेवाले युग की समाज-व्यवस्था में यह बात टिकने वाली नहीं है। वहाँ उन्हें व्यवस्था ही माना जाएगा और उसका पालन प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य होगा।

यदि किसी को धर्म शब्द से ही ज्यादा प्रेम है तो हमें इसका क्यों

विरोध करना चाहिए ? पर एक बात है, यदि इन्हें धर्म कहा जाए तो कम से कम आत्म-धर्म में तो इसे नहीं मिलाना चाहिए। बाकी चाहे कोई शब्द को व्यवहार में लाएँ। हमें शब्दों की मारामारी में नहीं पड़ना चाहिए। हम इसे कर्तव्य कहते हैं और कई इसे धर्म कहते हैं। शब्द-प्रयोग के लिए झगड़ना अच्छा नहीं। एक दृष्टि से हम भी इसे लोक-धर्म कह सकते हैं। क्योंकि धर्म की परिभाषा करते हुए कहा गया है :—"**धारणात् धर्म मित्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः**"—धारणा करने से धर्म शब्द धर्म कहलाता है। जो आत्मा को धारण—रक्षित करे, वह आत्मधर्म और जो लोक को धारण करे, वह लौकिक धर्म लेकिन रीति-रिवाजों की पूर्ति के लिए जो लौकिक विधियाँ अपनाई जाती हैं, उन्हें हमें लौकिक धर्म कहने में कोई आपत्ति नहीं। हमारा विरोध, सिर्फ इतना ही है कि इसे आत्म-धर्म नहीं कहा जाए।

एक प्रश्न आता है—यदि हम इसे धर्म नहीं कहेंगे तो लोग इन कामों को करेंगे नहीं, पर मैं कहूँगा कि—लोग कहते हैं या नहीं करते, इस बात पर धर्म की व्याख्या नहीं बदलती। यदि तत्वतः देखें तो धर्म का लक्षण ही निवृत्ति है। एक व्यक्ति दीक्षा लेता है। दीक्षा लेना निश्चित ही धर्म है, पर वह लौकिक प्रवृत्तियों से हटता है और आध्यात्मिक प्रवृत्ति में प्रवेश करता है। यदि लौकिक प्रवृत्तियाँ धर्म होतीं तो वह उनसे विमुख क्यों होता ? साधु की बात जाने दें। पर प्रतिमाधारी श्रावक भी तो लौकिक प्रवृत्तियों में भाग लेता। वह किसलिये ? इसलिये कि कर्तव्य से धर्म का स्थान बहुत ऊँचा है और हम भी इन कार्यों की मनाही तो करते ही नहीं हैं। हम तो कहते हैं कि वस्तुस्थिति यही है। फिर कोई मनुष्य जैसा करता है, वह उसकी अपनी इच्छा पर निर्भर है। जहाँ विवेचन चलता है, वहाँ तत्त्व को स्पष्ट रखना ही चाहिए। यदि ऐसा नहीं होगा तो फिर विवेचन गलत हो जाएगा। इसमें मैं किसी धर्म-विशेष की मान्यता का खण्डन नहीं कर रहा हूँ। मेरा काम है—अपनी मान्यता स्पष्ट रखना।

हाँ, इसमें एक बात और ध्यान में रखने की है और वह यह कि जो भी कार्य हो वह वस्तुतः विवेकपूर्वक हो। अन्यथा लौकिक कार्य करने की तो इच्छा नहीं होती और उसे पाप बताना, यह बहाना मात्र है। जिस प्रकार किसी के घर में ५ मटके पानी के भरे पड़े हैं और कोई राहगीर पीने के लिए पानी मांगे, तब यह कह देना कि मैं तो पानी नहीं पिलाऊँगा ; क्योंकि पानी पिलाने में भी हिंसा होती है। वास्तव में उसे पाप का डर नहीं है। कंजूसी को छिपाने का बहाना है। यदि वास्तव में ही उसे पाप का डर लगता है, तो उसे अपने घर पानी इकट्ठा ही नहीं करना चाहिए था। पर उसका संचय करते समय वह धर्म-अधर्म को नहीं सोचता

और खर्च करते समय धर्म झट सामने आ जाएगा। यह मनुष्य की अपनी और साथ ही साथ धर्म की बिडम्बना है। अतः जो बात जैसी है, उसे वैसी ही समझ लेना यह आवश्यक है। आवश्यकतावश करना पड़ता है, यह बात दूसरी है, मनुष्य खीर खाता है और रोटी भी खाता है। अपनी-अपनी जगह दोनों ही आवश्यक हैं, पर उनका विभेद समझना आवश्यक है। एक शंका होती है—मनुष्य इन्हें यदि पाप समझ कर नहीं करेगा तो इससे अधिक उसके आश्रित प्राणियों को घात की हिंसा उसे लगेगी और वह तो शास्त्रों में भी समा गया है कि अपने आश्रित प्राणियों के खान-पान का विच्छेद करना, अहिंसा अणुव्रत का अतिचार है। गाय का दूध तो निकाल ले और उसे चारा न डाले यह कैसा न्याय? उन्हें अपने आश्रित तो रखे पर उनकी देख भाल न करे यह अन्याय नहीं तो और क्या है? लौकिक धर्म में तो ये सब कार्य करने हो पड़ते हैं। अध्यात्म साधना में कोई किसी को आश्रित नहीं रख सकता, तब फिर रक्षा और अरक्षा का प्रश्न ही कहाँ रहा? साधु बनने पर माता पिता भाई-बंधु आदि कोई भी उसके आश्रित नहीं रहता। यहाँ तो फिर अपने-अपने स्वतन्त्र हैं, इसलिये आश्रित की रक्षा करना लोकधर्म है।

८५ : आदर्श विचार-पद्धति

धार्मिक को अपने पथ पर अग्रसर होते वक्त प्रायः बाधाएँ सामने आती ही हैं। भगवान् महावीर को अपनी साधना-काल में कितने मरणतुल्य कष्ट सहन करने पड़े थे। जगह-जगह उनका तिरस्कार हुआ था, पर वे साधक थे। सब कुछ समभाव से सहन करते जाते थे। तेरापन्थ के आद्य प्रवर्तक आचार्य भिक्षु स्वामी को भी अपने जीवन में क्या कम कष्ट हुए थे? और तो क्या ५ वर्षों तक तो उन्हें पूरा आहार-पानी भी नहीं मिला था। अपने संस्मरण सुनाते हुए उन्होंने एक जगह कहा है—"उस काल में हमें कभी एक समय भोजन मिल जाता तो दूसरे समय नहीं मिलता। कभी दूसरे समय मिल जाता तो तीसरे समय नहीं मिलता। इस प्रकार ५ वर्षों तक तो हमने लगातार पेट भरकर रोटी नहीं खायी।" आप सोचिए इससे बढ़कर और क्या कष्ट होगा? एकबार उनसे प्रश्न किया गया—स्वामी जी क्या आप की भिक्षा में कभी घृत भी आता है? स्वामीजी ने कहा—हाँ, पाली (एक शहर) के बाजार में बिकता हुआ तो बहुत देखते हैं। इसी प्रकार कपड़े और मकान की समस्याएँ उनके सामने मुंह बाए खड़ी रहती थीं। कभी वे किसी मकान में ठहर जाते तो विरोधी लोग समाज का भय

दिखाकर या अन्य किसी प्रकार से जगह देने वाले गृहस्थ को फुसला कर उन्हें उस स्थान से निकाल दिया करते थे। ऐसी ही एक घटना उनके कष्टमय जीवन की एक झाँकी हमारे सामने प्रस्तुत करती है। एकबार वे एक दूकान में ठहरे। उन्होंने मालिक को पहले ही अच्छी प्रकार से पूछ लिया था। पर बाद में वह समाज के दबाव से विचलित हो गया और उसने स्वामी जी को अपना मकान खाली करने के लिए कहा। स्वामीजी बिना मालिक की आज्ञा के वहाँ कैसे रह सकते थे? अतः उन्होंने स्वयं जाकर एक दूसरी दूकान अपने ठहरने के लिए निश्चित की और दिन रहते वे उसमें जाकर ठहर गए। इधर रात में जोरदार वर्षा हुई और वर्षा के वेग वह पहलेवाली दूकान गिर पड़ी। सारे गाँव मे हल्ला हो गया। लोग कहने लगे—इसने स्वामीजी को निकाल दिया, इससे इसका मकान गिर गया, पर स्वामीजी बड़े शान्त रहे। यद्यपि उनके लिए यह गर्व करने का अवसर था, पर उन्होंने कहा—अगले का नुकशान हो गया पर हमारा तो उसने भला ही किया। यह एक घटना ही नहीं अनेक घटनाएँ उनके जीवन की कठिनाइयों के बारे में प्रकाश डालती हैं। ये घटनाएँ आज भी तेरापन्थ साहित्य में सुरक्षित हैं।

हम स्वामीजी के प्रति श्रद्धा केवल इसीलिए नहीं करते है कि वे हमारे गुरु थे। वे हमारे गुरु तो थे ही पर उन पर हमारी श्रद्धा का कारण है—उनकी आदर्श विचार-पद्धति। अतः उनके अनुयायियों के लिए यह जरूरी है कि वे उनके सिद्धान्तों के बारे में तलस्पर्शी अध्ययन करें। केवल परम्परा से श्रद्धा करने पर कभी-कभी वह अश्रद्धा में भी परिणत हो जाती है। क्योंकि इससे जब तक परम्परा में श्रद्धा रहे, तब तक तो उनके प्रति भी श्रद्धा रहेगी और परम्परा पर श्रद्धा न रहे तो उनमें भी अश्रद्धा होते देर न लगेगी। वे धार्मिक जो केवल परम्परा पर ही चलते हैं, नीर-क्षीर का विवेक नहीं कर सकते। यद्यपि परम्परा सत्य है, पर चलने वालों को अपनी आँखें खोल कर ही चलना चाहिए। **'तातस्य कूपोऽयमिति ब्रुवाणा क्षारं जलं कापुरुषाः पिबन्ति।'** अपने बाप का कुआ है, इसलिए उसका कडुआ पानी का पुरुष तो पान करते हैं। इसलिये ऐसी परम्पराएँ जो अच्छी नहीं हैं, उनसे चिपटे रहें, यह कोई आवश्यक नहीं। उनके बारे में सोचना, विचारना यह प्रत्येक बुद्धिशील प्राणी का कर्तव्य है। जो श्रद्धा विवेक पूर्वक होगी, वह दूसरे और पाँच आदमियों को भी समझायी जा सकती है, पर जो केवल पारम्परिक श्रद्धा है, वह मूक है, उससे दूसरों को कोई विशेष लाभ नही हो सकता।

मैं पहले कह आया हूँ कि स्वामी जी के प्रति हमारी श्रद्धा का कारण

उनकी आदर्श-विचार पद्धति है। यद्यपि अपने जीवन-काल में उन्हें भी एक बार यह निराशा हो गयी थी कि इतना प्रयास करने के बाद भी जनता अपने विचारों को समझ नहीं रही है, तो वे अपना कल्याण करें। इसीलिए उन्होंने जंगल में जाकर कड़ी तपस्या भी आरम्भ कर दी थी। वे दोपहर की कड़कड़ाती धूप में जंगल में जाते और वहाँ नदी की तप्त बालुका पर सो जाते। थोड़ी देर में पसीने से जब वह ठण्डी हो जाती तो वहाँ से पुनः सूखी जगह पर सो जाते। इस प्रकार कठिन तपस्या के द्वारा उन्होंने अपने आपको तपा लिया। तपाए बिना शरीर में तेज नहीं आता, यह बात बिल्कुल सही है, पर बाद में उन्होंने यह जाना कि लोग उनके विचारों को कुछ-कुछ सुनने लगे है, तो उन्होंने फिर अपने विचार प्रकट करने शुरू किए। यद्यपि उनके लिए दोनों ही मार्ग साधना के योग्य थे, पर यह तो हमारा सौभाग्य है कि हमें उनका मार्ग-दर्शन मिला। वे यदि तपस्या के द्वारा अपना काम समाप्त कर जाते तो हमें आज जो अनोखा तत्त्व मिला, वह कैसे मिलता?

स्वामीजी से हमें जो तत्त्व मिला, वह वास्तव में ही अद्वितीय है। आज प्रायः सारा संसार धर्म और अधर्म को एक साथ मिला रहा है। एक ही क्रिया में धर्म और अधर्म दोनों मानना, यही तो मिश्र-धर्म है। अल्प पाप और बहु निर्जरा का सिद्धान्त भी इसी भूमिका से निकलता है। अतः उन्होंने कहा—गेहूँ और कंकड़ को मत मिलाओ। उदाहरण के लिए जैसे एक जैनी साधु अपने लिये बनाया हुआ भोजन ग्रहण नहीं कर सकता, पर यदि किसी गृहस्थ ने मोह या प्रमादवश उसके लिए आहार बना दिया और साधु उसे ग्रहण कर लेता है, तो उसमें उसे क्या हुआ? अल्प-पाप और बहु निर्जरा होगी। क्योंकि भोजन बनाने में जो थोड़ी हिंसा हुई, वह तो अल्प-पाप हो गया, पर उस भोजन को खाकर आगे चलकर साधु जो धर्म के बड़े-बड़े काम करेगा, वे बहुत बड़ी निर्जरा के कारण हो जाएँगे। अतः उसमें थोड़ी हिंसा हो गई तो हो गई, पर उससे आगे बहुत बड़ा लाभ होगा। इससे ही अल्प-पाप और बहु-निर्जरा या मिश्र धर्म का सिद्धान्त प्रतिफलित होता है, पर स्वामी जी ने अपने साहित्य में इस बात का बड़ी युक्ति पूर्वक खण्डन किया है। एक जगह उन्होंने कहा है:

बाजर केरे बूंट में, बूंट बूंट में बूंट;
ज्यूं मिश्र प्ररूपे तिणरी बात में, झूठ, झूठ में झूठ।
सांभर केरे सींग में, सींग सींग में सींग;
ज्यूं मिश्र प्ररूपे तिणरी बात में, धींग धींग में धींग॥

एक उच्च कोटि के दार्शनिक के साथ-साथ वे एक बहुत बड़े व्यावहारिक

कवि भी थे। नहीं तो उनकी कविता में इतना सौन्दर्य नहीं आ पाता। व्यावहारिक जगत् का एक और स्थूल उदाहरण देते हुए उन्होंने इस बात को एक पद्य में और कहा है :—**बांवल वाय बाजे जणा, प्रडे घूड़ घूड़ में घूड़, मिश्र प्ररूपे त्यांरी बात में उठे कूड़ कूड़ में कूड़।**

दूसरी बात जो स्वामी जी ने हमें बतायी, वह यह थी कि हिंसा में धर्म नहीं होता। चाहे कितना ही बड़ा काम क्यों न हो, पर अगर उसमें हिंसा होती हो तो वह धर्म नहीं हो सकता। हिंसा से औरों की रक्षा हो सकती है, पर हिंसा को हिंसा तो मानना ही पड़ेगा। यह दूसरी बात है कि दुनियां में रहने वालों को हिंसा भी करनी पड़ती है, पर जो कुछ करना पड़ता है, उसे अहिंसा मानना, यह तो जरूरी नहीं है। अतः हिंसा और अहिंसा—ये दोनों भिन्न तत्त्व हैं इनका कभी आपस में मेल नहीं हो सकता। जहां हिंसा है, वहां अहिंसा नहीं हो सकती।

स्वामीजी ने हमें एक बात यह भी बतायी कि धर्म किसी व्यक्ति, जाति, देश या समाज का नहीं होता। वह तो सभी का है और उसी का है जो उसे अपने जीवन में आचरण करता है। जैन-अजैन, हरिजन-महाजन, हिन्दू-मुस्लिम कोई भी यदि सन्मार्ग पर चलता है, तो वह धर्म ही है। धर्म के राज्य में कोई चपरास नहीं होती, कि जिसे धारण करने पर मनुष्य वहां प्रवेश पाने का अधिकार पा सके। अतः धर्म का तत्त्व लिंग, जाति आदि बाह्य सीमाओं से परे मनुष्य की आन्तरिक शुद्धि पर निर्भर है। धर्म की यह व्याख्या सचमुच ही हमें स्वामी जी की एक बड़ी भारी देन है।

इन तात्त्विक प्रश्नों के सिवाय संघ-संगठन के विषय में भी स्वामीजी ने हमें एक अनुपम दृष्टि दी है। आज दुनियां जिस संगठन के लिए हैरान है, वह संगठन हमें विरासत में मिला, यह स्वामीजी की दूरदर्शिता का ही परिणाम है। तेरापन्थ के तात्त्विक प्रश्नों के बारे में चाहे किसी का कितना ही मतभेद क्यों न हो, पर संगठन के बारे में तो हर एक को उनका लोहा मानना ही पड़ेगा।

सामने ही उनका द्विशताब्दी-महोत्सव आ रहा है। द्विशताब्दी महोत्सव मनाने का अवसर बहुत ही कम लोगों को मिलता है। क्योंकि उसके पीछे एक शृङ्खलित समाज की आवश्यकता होती है। कुछ विशेष व्यक्तियों के पीछे समाज रहता भी है तो वे प्रायः अपने जीवन काल में ही पूज्य रहते हैं। अपने निर्वाण के बाद ऐसा अवसर बहुत कम लोगों को मिलता है। अतः इस उपलक्ष्य पर भी उनके अनुयायियों का यह विशेष कर्तव्य हो जाता है कि वे स्वयं उनके साहित्य को बहुत ही सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन करें और दूसरों को भी उसे पढ़ने की प्रेरणा दें। उनके साहित्य

को जन-साधारण के सामने प्रस्तुत करें। बहुत-से लोग अपने पूर्वजों के स्मारक ईंट व पत्थरों से बनवाते है, पर वास्तव में तो यदि कोई सच्चा स्मारक हो सकता है तो वह यही कि वे स्वयं अपने पूर्वजों के आदर्शों को अपने जीवन में उतारें और दूसरे लोगों को भी यही प्रेरणा दें, पर प्रश्न है—यह काम किसका है? उत्तर है कि—यह बड़े और छोटों—सबका है, जो भी मनुष्य उन्हें अपना आदर्श मानता है, उसका यह कर्तव्य है। अतः द्विशताब्दी महोत्सव के बारे में उनके साहित्य के परायण के साथ-साथ दूसरों को भी इससे परिचित करायें।

स्वामीजी हमारे आदर्श बने, इसका कारण है—उन्होंने अनेक कष्ट सहे। उन सब कष्टों में भी चलते रहकर उन्होंने हमें यह राह दिखायी। यह बात हमें इस तथ्य की ओर भी संकेत करती है कि संघर्ष ही जीवन है। बिना संघर्ष के जीवन में चमक नहीं आ सकती। दियासलाई और पेटी दोनों होती हैं, पर जब तक उनमें आपस में संघर्ष नहीं हो जाता, आग नहीं निकलती। वे तो महामानव थे। अतः उन्हें इतने कष्ट सहने पड़े, इसमें क्या आश्चर्य की बात है। पर जो थोड़ा सा भी व्रत अपनाता है, उसे भी संघर्ष के लिए तैयार रहना चाहिए। अणुव्रती भी केवल व्रत ले लें, इतने मात्र से काम चलने वाला नहीं है। उन्हें अणुव्रतों को विकसित करने के लिए संघर्षों से खेलना पड़ेगा। आज आवश्यकता है—सांसारिक लोगों के पथ-प्रदर्शन की। महाव्रती तो अपना काम करते ही हैं, पर यह काम है—अणुव्रतियों का। वे लोग अपने जीवन से आम लोगों के सामने आदर्श प्रस्तुत करें, जिससे अणुव्रतों के प्रति उनका आकर्षण बढ़े। यदि वे लोग अपनी अच्छाइयों से दूसरों पर प्रभाव नहीं डाल सके, तो फिर उनकी बुराइयों का असर भी समाज पर पड़े बिना नहीं रहेगा। अतः यदि आज धर्म का स्वरूप प्रत्यक्ष दिखाना है तो अणुव्रतियों को अपने जीवन को तपाना होगा। यह सत्य है कि जो कोई कष्ट सहकर अच्छा काम करेगा, तो जनता उसका आदर करेगी और उनसे प्रेरणा भी पायेगी। बिना काम और त्याग किये कोई दूसरे को कुछ कहेगा तो उसकी बात कोई सुनना भी नहीं चाहेगा। अतः जितने भी अणुव्रती हैं, वे अपने घर, परिवार तथा समाज पर अपने आचरणों द्वारा असर डालें। यद्यपि इस बात को कहने का अधिकार तो सबको ही है, पर जो अणुव्रती हैं, उन पर इस बात का स्वयं ही एक विशेष उत्तरदायित्व आ जाता है। यदि वे भी समाज को प्रकाश नहीं दिखायेंगे, तो और तो दिखानेवाला है ही कौन? महाव्रती तो संघर्षों में पलते ही हैं, पर अब अणुव्रतियों को भी तैयार हो जाना चाहिए। यह संघर्ष कोई लड़ाई-झगड़ा नहीं है, पर

अपने पर आने वाली विकृतियों के साथ संघर्ष है। अतः प्रत्येक अणुव्रती, चाहे वह भाई हो या बहन, अपनी कमर कस कर समाज को राह दिखाने के लिए तैयार रहे तब ही उनका जीवन चमकेगा। धर्मिक की पूजा होती है, इसका भी तो यही कारण है कि ये अनेक संघर्षों को सहन करते हैं।

८६ : श्रद्धाशीलता : एक वरदान

जाए सद्धाए निक्खंतो तमेव अणुपालिज्जा वियहित्ता विसोत्तियं—
आचारांग श्रु० १ अ० १ उ० ३

अर्थात् "जिस श्रद्धा से तू निकल पड़ा है उसी श्रद्धा से संयम का पालन कर आशंकाओं को छोड़कर।"

यह कितना छोटा सा वाक्य है। भगवद्-वाणी में शब्द थोड़े होते हैं, सार ज्यादा होता है। यही इसकी विशेषता है। सूत्र का अर्थ ही यही होता है। —**सूत्रयति अल्पाक्षरैः बृहत् अर्थान्—इति सूत्रम्**। जो थोड़े शब्दों में बहुत बड़े अर्थ को बांध लेता है।

युग तर्क का है। युग अश्रद्धा का है, भगवान् ने कहा श्रद्धा रखो। भगवद् वाणी श्रद्धा का सन्देश देती है। प्रश्न है—किस पर चले, उत्तर है श्रद्धा पर चलो। तर्क को भी साथ रखो। जहाँ तक साथ चले, उसे चलाओ। साथ नहीं चले तो उसे छोड़ दो। श्रद्धा के बिना जीवन एक एक पैर भी नहीं चल सकता।

"विभिन्नाः पन्थानः"—पथ बहुत हैं। पथ-पथ में पगडण्डियाँ भी बहुत हैं। दृष्टियाँ बहुत हैं और उनके उन्नेता—निर्देशक भी बहुत हैं। चारों तरफ लुभावने प्रलोभन हैं। उनमें लुब्ध बन गये तो पथ-भ्रष्ट हो जाएँगे। यदि सही मार्ग नहीं लिया तो लक्ष्य को खतरा है। अतः यह आवश्यक है कि हमारे कान खुले रहें, हमारी आँखें खुली रहें, जो शुद्ध चीज सामने आये, हम उसे ग्रहण करते जायें। जो अशुद्ध चीज सामने आएं, हम उसे छोड़ते जाएं। हम चेतन हैं। हममें इतना विवेक होना चाहिए। हमारा शरीर अचेतन है—जड़ है। उसके सामने भी कितनी चीजें आती हैं—हम उसमें कितनी चीजें डालते हैं, पर हम जितना खाते हैं अगर सारा का सारा अन्दर रह जाए तो कितनी बड़ी मुश्किल हो जाए। जितना खाते हैं उसमें से थोड़ा अन्दर रहता है, ज्यादा निकल जाता है। ग्रहण, विसर्जन और संरक्षण ये तीन अवस्थाएँ हैं। जितना रखने का है उसकी सुरक्षा कर सकें इतना विवेक हममें होना चाहिए। यह है, तब ही

ठीक है, अन्यथा ग्रहण करने से भी कोई फायदा नहीं। यदि हजम करने की ताकत नहीं है तो खाने से क्या फायदा? उल्टा नुकसान हो जाता है। अतः हम उतना ही खाएँ और वैसा ही खाएँ जितना पचा सकें। शेष का उत्सर्जन कर देना ही श्रेयस्कर है।

मनुष्य में यदि इतना ही विवेक नहीं है तो फिर उसका मन्दिर की ध्वजा से कोई अधिक मूल्य नहीं। जब तक हवा नहीं चलती, वह स्थिर रहती है। हवा चली, कि डोलने लग जाएगी। इधर की हवा चली तो उधर डोलने लगेगी। उधर की हवा चली तो उधर डोलने लगेगी। कुछ मनुष्यों की भी यही स्थिति होती है। सचमुच उनमें क्या मनुष्यत्व है? इसीलिये शास्त्रों में कहा है—श्रद्धाशील रहो। बुद्धिमान वह जो सत्य-श्रद्धा की आराधना करता है।

बहुत से लोग पूछते हैं—श्रद्धा किसके प्रति रखनी चाहिए? श्रद्धा रखनी चाहिये—आदर्शों के प्रति, श्रद्धेयों के प्रति और अपने आपके प्रति। आदर्शों के प्रति श्रद्धा रखने का मतलब है—जिन आदर्शों को हमने स्वीकार किया है, उनके प्रति हमारी अटूट श्रद्धा होनी चाहिए। उदाहरण के लिए अहिंसा के प्रति हमारी श्रद्धा है, हम उसे ऊँचा मानते हैं—यह हमारा आदर्श है। जब हम इसे अपना आदर्श मान लेते हैं तो यह आवश्यक है कि हिंसा के आडम्बर को देख कर कहीं हमारी श्रद्धा डगमगा न जाए। कहीं हिंसा को फलित होती देख कर हम अपनी अहिंसा—निष्ठा को खो न दें।

इसी प्रकार ब्रह्मचर्य में हमारी निष्ठा है, पर व्यभिचारियों को भोगों में आनन्द मनाते देखकर हमारे मन में विषाद न आ जाए कि हमने तो जीवन व्यर्थ ही खो दिया। ब्रह्मचर्य हमारा सर्वस्व है। हमें उसकी रक्षा करनी है और जी जान से रक्षा करनी है। वेश्या के हाथ में सोने का कंगन देखकर क्या आर्य कुल की स्त्रियाँ उस जीवन के प्रति आकर्षित हो सकती हैं? भले वे कितनी ही तकलीफें क्यों न सहन कर लें, पर उस तरफ आँख उठाकर भी नहीं देख सकतीं। आज आदर्श के प्रति श्रद्धा नहीं रही है। थोड़ी सी कठिनाई में मनुष्य आदर्श से फिसल जाते हैं। थोड़ी सी आर्थिक परेशानी में बहुत-सी बहनें अपने शील को बेच देती हैं। यह ब्रह्मचर्य के प्रति अश्रद्धा का ही फल है।

यदि हमारी सत्य पर श्रद्धा है तो दूसरे चाहे झूठ से कितने ही रुपए क्यों न कमा लें, हमें तो सत्य पर ही डटकर रहना है। यह चिन्तन भी कि अमुक आदमी ने झूठ से इतने रुपये कमा लिए, मैं सत्य सत्य करते यों ही रह गया—एक अंश में सत्य के प्रति अश्रद्धा का परिणाम है। सत्य में श्रद्धा रखने वाला आदमी उसे रुपयों में नहीं देखेगा। अपने आचरण

में देखेगा। मैं मानता हूँ, कभी-कभी ऐसी स्थितियां भी आ जाती हैं जब मनुष्य सत्य पर स्थिर नहीं रह पाता, पर जो श्रद्धालु होगा उसके मन में एक प्रकार की ग्लानि होती रहेगी कि मैंने यह गलत काम कर लिया है। जब तक मैं उसे सुधार नहीं लूं तब तक मेरा जीवन जीवन नहीं है। उस गलती का प्रायश्चित लेकर ही उसकी आत्मा हल्की हो सकती है। मैं अनेक बार कहा करता हूँ—यह कोई बड़ी बात नहीं कि मनुष्य फिसल जाए, पर बड़ी बात तो यह कि श्रद्धा से ही फिसल जाए। रास्ते में चलते, असावधानी के कारण, गढ़े में गिर जाना असम्भव नहीं, पर जो गढ़े को गढ़ा मानता है वह उससे निकलने का प्रयत्न करेगा और सम्भव है कभी निकल भी जाए, पर वह मनुष्य जो गड्ढे को ही सड़क मानता है, उससे कैसे निकलेगा? गड्ढे में गिर जाना उतनी बुरी बात नहीं, जितनी उसको सड़क मान लेना बुरी बात है।

बहुत सी बहनें आपस में लड़ लेती हैं। लड़ती किससे है और हाथ की खुजली मिटाती हैं रोब निकालती हैं, अपने अबोध बच्चों पर। यह क्यों होता है? जीवन की कमजोरी से, आदतों की लाचारी से संस्कार भी कुछ ऐसे बन जाते हैं कि वे समझ कर भी इसे छोड़ नहीं पातीं, पर उनकी श्रद्धा तो यही रहनी चाहिए कि अच्छी महिला वही है जो कलह नहीं करती, बच्चों को भी नहीं पीटती। जिस घर में कलह रहता है वहाँ दारिद्र्य निवास करता है। जिस घर में मेल-जोल है वहाँ सम्पत्ति निवास करती है। ऐसा समझने वाली कभी वापिस स्थान पर भी आ सकती है? क्योंकि उसकी श्रद्धा सम्यक् है। इसीलिए मैं श्रद्धा पर जोर देता हूँ। यद्यपि मैं यह मानता हूँ कि सबके सब मनुष्य श्रद्धाशील नहीं बन सकते, पर कहूँगा मैं यही कि सबको श्रद्धाशील बनना चाहिए, क्योंकि श्रद्धाशीलता जीवन का वरदान है।

८७ : तीन बहुमूल्य बातें

जब मैं विद्यार्थियों को देखता हूँ तो मुझे अपना विद्यार्थी-जीवन याद आ जाता है। बचपन में मैं भी आप की ही तरह स्कूल में पढ़ता था मैं जिस स्कूल में पढ़ता था वह एक गुरु की व्यक्तिगत पाठशाला थी; उसमें कक्षाओं के हिसाब से शिक्षा नहीं मिलती थी; सप्ताह में एक बार हमें उपदेश मिला करता था। मुझे याद है तब विद्यार्थी बड़े शान्त और श्रद्धा-शील हुआ करते थे। मैं भी उनमें से एक था। हमारा ध्यान यही रहता

था कि अध्यापक हमारे से अप्रसन्न नहीं हो जाएं। स्कूल पर ही नहीं घर पर भी हमें यह खयाल रहता था—हमारे अध्यापक हमें कहीं बदमाशी करते देख न लें। उन दिनों हमें १५ दिनों से केवल एक दिन छुट्टी मिला करती थी और उसमें भी हम कुछ लड़के मिलकर अन्य विद्यार्थियों के घर पर जाते और यह निगरानी करते थे कि वे कहीं बदमाशी तो नहीं करते हैं। हम उनका गृह-जीवन देखते और फिर उसकी रिपोर्ट अध्यापक को दिया करते थे। स्कूल में भी हम प्रतिदिन प्रत्येक लड़के के अपराध लिखा करते थे और शाम के समय उसकी पूरी रिपोर्ट अध्यापक के सामने पेश करते थे। फिर उसी के हिसाब से अध्यापक लड़कों को दण्ड दिया करते। आज भी जब विद्यार्थियों को देखता हूं तो वे सारी बातें याद हो आती हैं। उस अनुभति से ही मुझे बड़ा आनन्द मिलता है।

वह समय दूसरा था, आज समय दूसरा है। आज भारतवर्ष आजाद है; उस समय वह गुलाम था। उस समय अच्छे और बुरे कामों की जिम्मेवारी अंग्रेजों पर डाल दी जाती थी; पर आज वह स्वयं भारतीयों पर है अतः आज भी यदि वे उस जिम्मेदारी को उठाने के लायक नहीं बने तो जो स्वतन्त्रता मिली है, उसको खतरा है। पुराने जमाने में शिक्षा और चारित्र के बारे में भारतवर्ष की जो स्थिति थी उसे देखने और ग्रहण करने के लिए विदेशों से लोग आया करते थे। पर खेद के साथ कहना पड़ता है वैसी स्थिति आज नहीं है!

विद्यार्थियो! भारत को उस स्थिति में पुनः लाना होगा और उसके लिए तीन बहूमूल्य बातें आवश्यक होंगी। वे तीन बहूमूल्य बातें हैं। श्रद्धा, ज्ञान तथा चारित्र। आज श्रद्धा की सबसे ज्यादा कमजोरी है। ज्ञान तो आज इतना विकसित हो गया है जितना शायद पहले था या नहीं। पर श्रद्धा उस गति से बढ़ रही है या नहीं यह एक सोचने का विषय है। प्रश्न हो सकता है—श्रद्धा किसके प्रति? उत्तर है श्रद्धा अपने आपके प्रति। इसे ही दूसरे शब्दों में हम आस्तिकता कह सकते हैं। जब तक मनुष्य आत्मा के प्रति श्रद्धालु नहीं बनेगा तब तक ज्ञान और विज्ञान पढ़ना भी उसके लिए वरदान नहीं होकर अभिशाप सिद्ध होगा। भारत के ऋषियों ने अन्वेषण किया उस अन्वेषण में उन्होंने बम और उपग्रह नहीं पाये पर आत्मा, मोक्ष, परमात्मा और पुनर्जन्म के तत्त्व पाये थे। उन्होंने कहा था—आत्मा नहीं है ऐसा मत सोचो। सोचो कि आत्मा है। आज के वैज्ञानिक शोध करते करते हार गए हैं पर वे अभी तक आत्मा को खोज नहीं पाए हैं इसीलिए वे कहते हैं—बस जीवन इतना ही है जितना हम जीते हैं। इसीलिए इस जीवन में खूब खाओ, पीओ और मौज उड़ाओ,

पर आप को इन बातों को गहराई से सोचना पड़ेगा। व्यवहार में भी हमें इतना वैषम्य दीखता है, इसका क्या कारण है? हमें इसे भी सोचना पड़ेगा तब जाकर हमारी विद्या फल लाएगी।

दूसरी बात है ज्ञान। ज्ञान केवल रट लगाने से या पुस्तक पढ़ लेने से ही नहीं आ जाता है। उसके लिए विनय की आवश्यकता होती है। वह विद्यार्थियों में होना चाहिए। तभी उनकी विद्या फलवती बनेगी।

तीसरी बात है चारित्र। चारित्र के बारे में आप को क्या बताऊँ? बहुत सी बातें आप जानते ही हैं तब फिर मैं उन्हे कैसे बताऊं, और क्यों बताऊँ? संक्षेप में मैं आप को एक ही बात बता देता हूँ कि बुरा काम वही है जिसे करने पर या करने समय छिपाने की आवश्यकता पड़े। आप कोई भी काम ऐसा न करें जिससे छिपाने की आवश्यकता हो। यदि इतना हो गया तो मैं समझता हूँ आप का कल्याण होगा और आप के द्वारा संसार का भी कल्याण होगा।

८८ : जैन-संस्कृति

साधुओं को वन्दन करने पर हमारे यहाँ "जैं" कहा जाता है। इसका लोग बड़ा उल्टा-सीधा अर्थ लगा लेते हैं। कुछ लोग समझते हैं, महाराज हमें आशीर्वाद देते हैं और कहते हैं कि हमारी जय हो। कई लोग 'जैं' का अर्थ 'कल्याण' कर लेते हैं। कई लोग इसे आदर सूचक शब्द 'जी हाँ' से जोड़ लेते हैं और कहते हैं—महाराज हमारी वन्दना का सम्मान करते हैं। इसका एक अर्थ तो और भी विचित्र है। वे कहते हैं—तेरापन्थी साधु ही वन्दना करने पर 'जैं' कहते हैं, इसका मतलब एक घटना के साथ जुड़ा हुआ है। तेरापन्थ के आद्य प्रवर्तक भीषणजी स्वामी जब स्थानक वासियों से अलग हुए थे, तो उन्होंने अलग होकर एक यक्ष को वश में किया। उसका नाम था 'जीया' भूत या 'हाजी' भूत। तपस्या से वश में होकर जब वह प्रकट हुआ तो स्वामीजी ने कहा—जीया भाई! मुझे तो पन्थ चलाना है सो कोई रास्ता बताओ। वह कहने लगा—महाराज! इसका और तो कोई रास्ता नहीं है—एक ही रास्ता है और वह यह कि अपने पन्थ प्रचार में तुम मेरा नाम आगे रखो। भीषणजी को तो पन्थ चलाने की भूख थी; अतः उन्होंने यह स्वीकार कर लिया और इसलिए आज तक भी जब तेरापन्थी साधुओं को वन्दना की जाती है तो वे उसके नाम को आगे रखकर कहते हैं 'जी'। 'या' तो वे अपने मन में रख लेते

हैं और 'जी' का उच्चारण कर देते हैं। यह है 'जी' शब्द का इतिहास। और यह सब मुखजबानी ही नहीं, पुस्तकों में छपा हुआ भी है।

मैं समझता हूँ—कितना गलत अर्थ किया गया है इसका। भला यह भी कोई तथ्य है? अब मैं आप के सामने इसका सही अर्थ रखना चाहूँगा। आगमों में भगवान को वन्दना करने पर उन्होंने छः शब्दों का प्रयोग किया है। उनमें एक शब्द उन्होंने कहा है—**'जियमेवं देवाणुप्पिया'**। अर्थात् हे, देवानुप्रिय! यह तुम्हारी 'जीत' है। हमारे यहाँ इसी 'जीत' शब्द का अनुकरण किया गया है। 'जीत' का प्राकृत मे 'जीय' तो बनता ही है। और थोड़ा अपभ्रंश होकर आज यही शब्द 'जै' रह गया है। जैसे **'नमुक्कार'** के इस प्राकृत पद की छाया बनती है—**'नमस्कार'** और आज यह अपभ्रंश में 'नोकार' हो गया है वैसे ही 'जीय' शब्द का 'जै' अपभ्रंश हो गया है। जानकारी न होने के कारण आज उसके अनेक उल्टे-सीधे अर्थ लगा लिए जाते हैं।

बहुत से जैन लोग भी चलते ही यह कह देते हैं, मैं ईश्वर से आप का भला चाहता हूँ—या आप पर भगवान की कृपा है। पर वे लोग यह नहीं जानते कि उनका यह कथन जैन-संस्कृति के विरुद्ध है। भला ईश्वर किसका बुरा चाहता है और किस पर अकृपा रखता है? वह तो समदर्शी है। यदि आपको दूसरों के प्रति शुभ कामना ही प्रकट करनी है तो उसे तो अपने कर्तृत्व पर भी छोड़ सकते हैं; यानी आप यह भी तो कह सकते हैं—मैं आपके प्रति शुभकामना करता हूं, पर इसे ईश्वर से चाहना, ईश्वर-कर्तृत्व मान्यता की झलक देता है। इसमें यह ध्वनि है कि ईश्वर हमारा भला या बुरा करता है। जैन-संस्कृति के अनुसार अपना भला बुरा करनेवाला अपनी आत्मा ही है।

लगता है जैन लोग भी दूसरी संस्कृतियों के प्रवाह में बह गए है। एक क्या ऐसी अनेक बातें देखी जा सकती है कि जिन्हें जैन लोग तत्त्वतः स्वीकार नहीं करते, पर फिर भी दूसरी संस्कृतियों की परम्परा वे निबाहते चले जा रहे हैं? मृतक की हड्डियों को गंगाजी में बहाने से उसकी मुक्ति हो जाती है, ऐसा जैन-संस्कृति में कहीं नहीं माना गया है, पर फिर भी जैन लोग उसे पकड़े बहते जा रहे हैं और आश्चर्य यह कि उसे समझने पर भी वे इन्हें छोड़ नहीं रहे हैं। मानो यह उनका सांस्कृतिक कार्य है।

जैन-गृहस्थों को आगमों में जगह-जगह श्रमणोपासक कहा है। इसका मतलब है वे श्रमणों की उपासना करते हैं। जैन-विधि के अनुसार दूसरे देवताओं के पूजन का वर्णन भी सूत्रों में आता है, पर वह प्रायः अपने

कुल देव की ही पूजा किया करते थे। पर आज तो जैन उपासकों की भी ऐसी विधि हो गई है, कि शायद वे संसार के किसी भी देवता को बिना पूजे नही छोड़ते होंगे। जहाँ कहीं भी सिन्दूर लगा पत्थर दीख जाएगा तो झट जूते खोल, हाथ जोड़, सिर झुका कर वहीं उन्हें वन्दन करेंगे। साधुओं के पास आने पर तो शायद अपने जूते भी नहीं उतारते होंगे। अपने पास रखकर बैठेंगे और थोड़ा कष्ट पड़ जाय तब तो फिर कहना ही क्या? दुनिया भर के देवताओं की मनोतियाँ मानेंगे। कई बहनें कहती है कि वे अपने लिए तो किसी की मनौती नहीं मानतीं, पर दूसरों के लिए तो करना ही पड़ता है। पर यह सही बात नहीं है। देवताओं से अपना इष्ट करवाने का मतलब है—अपने श्रम में अश्रद्धा। जब कि जैन-संस्कृति ने हमेशा यह कहा है कि अपने श्रम पर भरोसा करो, तब फिर अपनी आत्मा के प्रति यह अविश्वास कैसा? यह तो जैन-संस्कृति के पुरुषार्थवाद के प्रति अश्रद्धा है।

यद्यपि मैं यह नहीं कहता कि देवता होते ही नहीं। वे होते हैं, और दूसरों का भला बुरा भी कर सकते हैं, पर उसी अवस्था में जब कि व्यक्ति के अपने कर्म तद्रूप हों। अगर व्यक्ति के स्वयं के कर्म अच्छे हैं तो देवता लाख कोशिश भी करें तो वे उसका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते। और व्यक्ति के स्वयं अपने कर्म बुरे हैं तो देवता मर-पच कर भी उन्हें सुधार नहीं सकते। तब फिर उनकी आराधना करने का क्या मतलब? अपने कर्तृत्व पर भरोसा करो। बात-बात में दूसरों के सामने भीख मत मांगो। यदि हम देवता का कर्तृत्व मान लेते हैं तो फिर ईश्वर का कर्तृत्व क्यों नहीं मान लेते? यह तो परमुखापेक्षता है अकर्मण्यता है। अतः ये सब जैन-संस्कृति के विरुद्ध की बातें हैं।

और सोचना तो यह चाहिए कि देवता भी क्या कष्ट नहीं पाते? वे भी 'च्यवन' को प्राप्त होते हैं। तब फिर स्वयं जो अपने कष्ट को दूर नहीं कर पाता वह दूसरों के संकट कैसे मिटाएगा? देवताओं में भी आखिर अनन्त शक्ति तो होती ही नहीं, जो वे जैसा चाहें कर सकें। उनका भी अपना सामर्थ्य सीमित ही होता है। अतः वे मनुष्य का दुःख कैसे दूर कर सकेंगे। सत्यवः जो 'निकाचित' कर्म जो अवश्य ही भोगने पड़ते हैं होते हैं उन्हें तो देवता क्या, परमात्मा भी नहीं मिटा सकता। तब फिर उनके लिए देवताओं से अभ्यर्थना करना कैसी समझदारी की बात है?

८६ : सुधार का मूल

आज जो स्थिति मानव समाज की है वह उत्साहप्रद नहीं है। उसमें आज कोई आनन्द नजर नहीं आता। मनुष्य जो भी काम करता है वह आनन्द के लिए ही करता है। कड़ा से कड़ा काम भी मनुष्य इसलिए खुशी से करता है कि उसमें उसे आनन्द मिलता है। आज जब कि यातायात के अनेक साधन हो गये हैं, फिर भी हम हजारों मील कड़ी धूप में पैदल चलते हैं—ऐसा क्यों? इसलिए कि हमें इसमें आनन्द आता है। आनन्द इसलिए कि एक तरफ तो मनुष्य प्रकृति पर विजय पाने में संलग्न है और हम अपने आप पर विजय पाने में संलग्न हैं। इसीलिए हमें कड़े से कड़े काम में भी आनन्द महसूस होता है, पर साधारण मनुष्यों की स्थिति आज ऐसी नहीं है। वे कोई भी काम करते हैं, उसमें उन्हें आनन्द महसूस नहीं होता। इसका कारण है आज उनकी जीवन-भित्ति शून्य हो गई है। मनुष्य के पैरों से नीति की भित्ति आज खिसक गई है। लोग इसका समाधान भी पाना चाहते हैं, पर लगता है जैसे समाधान मिल ही नहीं रहा है।

मेरी दृष्टि में इसका सही समाधान बालकों से शुरू होगा। बचपन में वे जैसा होना है वैसा हो जाएँगे; और बचपन में अच्छे संस्कारों का आना असम्भव भी नहीं है। इसीलिए देश के विचारक लोग प्रयत्न करते हैं, जगह-जगह स्कूल चलाते हैं, विद्यापीठ खोलते हैं, पर लगता है इनसे भी आज गति सुधार की ओर नहीं मुड़ रही है। इसका कारण है आज वातावरण शुद्ध नहीं है। स्कूलों और विद्यापीठों में तो लड़के अध्यापकों के पास पाँच घण्टे रहते हैं शेष दिन तो माता-पिता तथा अपने पास-पड़ोस में बीतता है। घर पर आते हैं तो देखते हैं कि—पिता धूम्रपान करते हैं, तास-चौपड़ खेलते हैं, माता लड़ाई करती है, सास-बहू आपस में गालियाँ निकालती हैं। इससे स्कूल की सारी शिक्षाएँ नीचे दब जाती हैं। पुराने जमाने में इसीलिए विद्यार्थियों को एकान्त गुरुकुल में रखा जाता था। घर के वातावरण से वे १२ वर्षों के लिए बिलकुल अपरिचित रहते थे। गुरु ही उनके लिए सब कुछ होते थे। उनका चरित्र शुद्ध होता था। अतः शुद्ध वातावरण में रहने वाले विद्यार्थियों में शुरू से ही अच्छी आदतें पड़ जाती थीं। वे खुशी से मनोरंजन भी करते थे। वहाँ का वातावरण ही ऐसा रहता था जिससे विद्यार्थी स्वयं ही चरित्रवान् होकर निकलते थे और वे देश के लिए वरदान सिद्ध होते थे। आज वह परम्परा चल नहीं रही है, पर आज भी कुछ व्यवस्था तो करनी ही होगी। आज भी राणावास के छात्रों को मैंने देखा—वहाँ के लड़के बड़े शान्त और विनयशील लगते हैं। वहाँ जाकर उद्दण्ड लड़के भी

शान्त बन जाते है। उन्हें देख कर गुरुकुल की पुरानी परम्परा याद हो आती है। केवल स्कूलों और विद्यापीठों मे आज काम चलनेवाला नहीं है। आवश्यक यह है कि उनके आसपास का वातावरण भी शुद्ध करें। इसकी सबसे बड़ी चिन्ता तो माता-पिता को होनी चाहिए। क्योंकि उनकी ही आदतें बच्चों में संक्रमित होती हैं, किन्तु आज तो माता-पिता भी अपने बच्चों से गैरजिम्मेवार से हो रहे हैं। अतः माता-पिता कहलाने वाले वर्ग से मैं एक बात कहना चाहूँगा कि वे कम से कम अपने बच्चों के सामने लड़ाई-दंगे, गाली-गलौज, झूठ, धोखा तथा धूम्रपान जैसे अकृत्य कार्य न करें। यदि वे इतना कर लेते हैं तो मैं समझता हूँ, लड़के अपने आप सुधर जाएँगे। मैं बच्चों से पूछना चाहूँगा—उन्होंने झूठ बोलना कब से सीखा? क्या वे इसकी निश्चित तिथि बतला सकते हैं? क्योंकि जन्म से कोई बालक झूठ नहीं बोलता। वातावरण में जब वह देखता है—अनेक लोग झूठ बोलते हैं तो वह भी झूठ बोलने लग जाता है। अतः माता-पिता यदि उनके सामने झूठ नहीं बोलें तो वे झूठ बोलना सीखेंगे ही कहाँ से?

फिर मैं अध्यापकों से भी कहना चाहूँगा कि उनकी भी बच्चों को सुधारने की बहुत बड़ी जिम्मेवारी होती है। वे यह कहकर इस बात को टाल नहीं सकते कि उनके पास तो बच्चा केवल पाँच घण्टे रहता है। क्योंकि तुलसीदास जी ने कहा है:—

एक घड़ी आधी घड़ी, आधिहूँ में पुनि आध।
तुलसी संगत साधु की, कटे कोटि अपराध॥

साधु पुरुष की थोड़ी देर की संगति से भी जन्म-जन्म के पाप कट जाते हैं तो प्रतिदिन का ५-६ घण्टे का समय तो बहुत होता है। इतने से समय मे वे बच्चों के जीवन को बहुत आसानी से सुधार सकते हैं। आप जानते हैं—कुएँ स पानी निकालते समय दो अंगुल डोरी यदि हाथ में रहती है तो सारी डोरी और पानी निकाला जा सकता है। इसी तरह इतने समय में वे बच्चों के जीवन को खूब संस्कारी बना सकते हैं, पर अध्यापक स्वयं बच्चों के सामने ही बीड़ी पीएँ, चाय पीएँ, गुस्सा करें, तो उनमें वे क्या संस्कार डाल सकेंगे? केवल पुस्तकी शिक्षा ही पर्याप्त नहीं है। वास्तविक शिक्षा तो जीवन से मिलती है। अतः अध्यापकों को अपने जीवन को उच्च बनाना होगा। तभी वे योग्य शिक्षक बन सकते हैं। यदि इतना हुआ तो फिर विद्यार्थियों को उपदेश देने की आवश्यकता नहीं होगी। उनका जीवन स्वयं तदनुरूप हो जायगा।

९० : साधना का महत्त्व

वर्तमान अतीत का एक दर्पण है। उसमें झाँक कर अतीत को सहजतया देखा जा सकता है। एक व्यक्ति वर्तमान में जैसा है वह एक साथ नहीं बना वैसा। उसे अतीत में से पक कर आना पड़ा है। अतः यदि आप एक साथ सुनेंगे कि साध्वीश्री पन्नाजी ने कार्तिक सुदी पूर्णिमा के १२१ दिन की तपस्या का पारण किया तो शायद आप चौंकेंगे। भौतिक प्रधान इस युग में जबकि शरीर को ज्यादा से ज्यादा सुखी रखने के उपाय सोचे जा रहे हैं वहाँ साधना के लिए शरीर की अपेक्षा न करनेवाले ऐसे तपस्वी लोग बसते हैं यह सचमुच भारतवर्ष के लिए गौरव की बात है। आवेश में आकर किसी लक्ष्य के लिए प्राण दे देना—एक बात है पर बिना रोटी खाए कर्म मल जलाना तिल-तिल कर सचमुच आज के युग में चौंकनेवाली घटना है। और वह भारत की साधना परम्परा के सर्वथा अनुकूल है।

साध्वीश्री पन्नाजी एक सुयोग्य शिष्या हैं। उनकी उम्र अभी कोई ४५ वर्ष की होगी, पर इतनी छोटी उम्र में भी उन्होंने जो तपस्या की है वह सचमुच एक प्रेरणा की चीज है। गत वर्ष महोत्सव के अवसर पर हमने अपने साधु-साध्वियों को सम्बोधित कर कहा था—हमारे संघ में पुराने जमाने में छ-छ मासी और नोमासी अनेक लम्बी तपस्याएँ हुई हैं, पर इन वर्षों में ऐसा अवसर नहीं आया। यद्यपि यह सच है कि आज शारीरिक ढाँचा पहले जैसा सुदृढ़ नहीं है, पर तपस्वी को इसकी परवाह नहीं रहती। वह तपस्या करने में ही आनन्द मानता है। तपस्या को मैं संघ की प्रगति का बहुत बड़ा साधन मानता हूँ अतः आज भी यदि कोई साधु-साध्वी तपस्या करना चाहे तो मैं उन्हें यथायोग्य सहायता दे सकता हूँ। इतना ही संकेत था और फिर मुनिश्री सुखलालजी (बड़ा) आदि सन्तों का सहयोग रहा। पन्नाजी आगे निकल आयीं और तपस्या करने की अपनी भावना व्यक्त की। उन्हें सहयोग दिया गया। मेवाड़ के ठण्डे प्रदेश में 'कोसीवाड़ा' नामक छोटे से ग्राम में उनका चातुर्मास हुआ। उनकी तपस्या तो देखिए—चातुर्मास के चार महीनों में उन्होंने एक दिन भी आहार नहीं किया। केवल उकाली हुई छाछ पर आनेवाला पानी पीकर उन्होंने १२१ दिन निकाल दिया।

उनका पिछला जीवन भी वैसे तपस्यापूर्ण रहा है। उपवास बेला-बेला तो जैसे वह चलते ही कर लेती हैं। पारणों पर वह प्रायः अभिग्रह करती हैं। गर्मी की कड़ी मौसम में भी वे बहुत दफे पानी नहीं पीतीं। संवत् २००८ से उनके जीवन में एक बहुत बड़ा परिवर्तन आया। उसी

समय से उन्होंने अपने जीवन का बड़ा ही सुन्दर निर्माण किया। उस वर्ष उनका चातुर्मास श्री माधोपुर के पास "भगवनगढ़" नाम का एक छोटे से ग्राम में था। वहाँ उनके साथ गोरांजी नाम की एक साध्वी थीं। उन्होंने वहाँ चौविहार अनशन किया था। उनके अनशन की घटना भी बड़ी विचित्र है। उनकी बतायी हुई बातों से ऐसा लगता है जैसे अन्त समय में अवश्य उन्हें कोई विशेष ज्ञान हुआ हो। उसके बाद ही पन्नाजी के जीवन में एक बहुत बड़ा परिवर्तन आ गया और उन्होंने अपने जीवन को तपस्यापूर्ण बनाने की ठान ली अबकी बार की उनकी तपस्या अनुकरणीय है। तेरापन्थ शासन का यह सौभाग्य है कि उसमें ऐसे-ऐसे तपस्वी साधु-साध्वियाँ अपनी साधना करती हैं।

९१ : आत्मौपम्य की दृष्टि

आज जब कि धर्म की भावना बहुत ही कम हो चली है, यह आवश्यक है कि उसकी बार-बार चर्चा की जाय। क्योंकि जो कठिन काम होता है उसे बार-बार कहने से ही उसकी जड़ें जम सकती हैं। आज प्रत्येक एक दूसरे पर दोष लगा रहा है। अमेरिका रूस पर दोष लगा रहा है और रूस अमेरिकापर दोष लगाने की कोशिश करता है। आज तो यह और भी आवश्यक हो गया है लोगों को धर्म का सही स्वरूप समझाया जाए। यदि समय पर यह नहीं हुआ तो मानवता का केवल अस्थि-पंजर मात्र रह जायेगा।

धर्म ही एक ऐसा तत्त्व है जिससे मनुष्य बुराइयों से बच सकता है। यदि यह नहीं होता तो शायद मनुष्य मनुष्य को मनुष्य ही नहीं समझता। यह आत्मौपम्य की दृष्टि ही धर्म की दृष्टि है। दूसरे शब्दों में इसे आस्तिकता कहा जा सकता है? पर आज तो लोगों का न तो धर्म पर विश्वास है, न साधुओं पर और न अपने आप पर ही। आज लोग अपने आप पर भी यह अविश्वास करने लगे हैं कि वे वस्तुतः जीव हैं या नहीं?

हमें यह सोचना होगा कि यह भावना—धर्म भावना आज कम क्यों हुई? आज जब कि लोग अनेक दुरूह से दुरूह काम कर सकते हैं, चन्द्रमा पर जाने की बात सोच रहे हैं, हिमालय पर चढ़ चुके हैं तब धर्म ऐसी क्या चीज है जिसे आज का मनुष्य नहीं कर सकता? हमें इसका मूल खोजना पड़ेगा। इसके बारे में दो बातें मेरे ध्यान में हैं। पहली यह कि आज धर्म का वास्तविक स्वरूप सामने नहीं आता है। जिससे आज के पढ़े-लिखे लोगों को धार्मिक बनने की भावना ही नहीं होती। दूसरी बात है—धर्म

करने में कुछ त्याग करना पड़ता है जिसे आज का सुविधावादी समाज सहन नहीं कर सकता। इसीलिये आज लोगों में धर्म के प्रति भावना कम हो रही है। सचमुच धर्म के नाम पर आज लोगों के सामने आते हैं साम्प्रदायिकता और स्वार्थ तथा उसकी रक्षा के लिए होती हैं लड़ाइयाँ। जो धर्म अर्थ को, धन को अनर्थ मानकर चलता रहा है तथा उसके नाम पर पूंजी का संग्रह हो रहा है। वे तीर्थस्थान जो भजन और उपासना के केन्द्र थे वे आज आपसी निन्दा और अर्थ की चर्चा के केन्द्र हो रहे हैं। मन्दिर, मठ, उपाश्रय और धर्म स्थानों में ऊपरी रूप ज्यादा रहता है। वह मन्दिर जिसके फर्श पर अच्छा पत्थर जड़ा होता है, मोहरें और हीरे चमकते रहते हैं अच्छा कहलाता है। वह मूर्ति जो ज्यादा से ज्यादा सोने से लदी होती है, बढ़िया कहलाती है। वह धर्मग्रन्थ जो सोने के अक्षरों में लिखा जाता है अधिक महत्त्वशील माना जाता है ऐसा लगता है मानो धर्म सोने के नीचे दब गया है।

चोर आता है और भगवान की मूर्ति को उठा कर ले जाता है। उसके लिये भला वह भगवान कहाँ? उसके लिए तो वह सोना है। मन्दिर में मनुष्य सात्विक भावना ग्रहण करने जाते हैं, पर वहाँ के ठाठ को देख कर तथा कल्पना की जा सकती है कि वहाँ से वह सात्त्विक भावना ग्रहण करेगा? अपरिग्रह की उपासना के केन्द्र आज परिग्रह की भावना के केन्द्र पर बन रहे हैं इसीलिए आज का समाज विशेषतः युवक धर्म से विमुख-सा हो रहा है। दूसरी बात जो मैंने पहले भी कही आज के युवक समाज में त्याग की भावना बहुत कम है अतः धर्म को जन-जीवन में प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि हम पहले धर्म का सही स्वरूप दुनिया के सामने रखें। और फिर जो धर्म के प्रति रूखे हैं उन्हें भी उसमें रुचि लेने के लिए प्रेरित करें।

यह स्पष्ट है कि धर्म का सम्बन्ध न तो मन्दिरों से है और न सन्तों से। सन्त वे तो केवल प्रेरक मात्र हो सकते हैं।

मूलतः तो उसे अपने आप में ही उगाना पड़ता है। अतः उसका अपने जीवन से ही सीधा सम्पर्क रहता है। इसीलिए कहा गया है :

> **सत्य अहिंसामय जीवन हो,**
> **सत्य अहिंसामय जन-जन हो,**
> **जग व्यापी हो सत्य-अहिंसा,**
> **जन-जन मुखरित हो यह नारा।**
> **बना रहे आदर्श हमारा॥**

यदि आप वास्तव में ही धार्मिक हैं तो आप रोज आत्म-चिन्तन करें। आज आपका कितना समय धार्मिक कामों में गया और कितना समय अधा-

मिक कामों में गया, इसका लेखा-जोखा रखना आवश्यक है, गृहस्थ का जीवन धर्माधर्ममय है। वह पूर्ण धार्मिक नहीं हो सकता पर यह तो आवश्यक है कि हिंसा के विचार अहिंसा के विचारों को दबाएँ नहीं।

यद्यपि गृहस्थ का जीवन पूर्ण अहिंसक नहीं हो सकता। उसमें हिंसा और अहिंसा दोनों को स्थान रहता है, पर एक धार्मिक को यह सोचना है कि उसके जीवन में हिंसा का पलड़ा भारी न हो। इसीलिये प्रत्येक धार्मिक के लिए यह आवश्यक है कि वह रोज अपनी प्रतिदिन की दिनचर्या का हिसाब मिलाए।

६२ : लक्ष्य एक कवच

आज केवल विद्या की ही आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता इस बात की है कि जीवन 'जीवन' बने। भारतीय संस्कृति में जीवन की परिभाषा यह दी गयी है—**"शान्तं तुष्टं पवित्रं च सानन्दमिति तत्त्वतः जीवनं जीवनं प्राहुः भारतीयो सुसंस्कृतौ।"** यहाँ जीवन केवल यन्त्र नहीं है। जिस जीवन में ये चार तत्व हैं वह जीवन है। जिसमें ये चार तत्त्व नहीं, वह जीवन जीवन नहीं, मृत्यु की ही कोई दूसरी अवस्था है। विद्या से यदि जीवन ऐसा बनता है तो वह प्रयास सफल है। यदि ऐसा नहीं बनता तो वह विद्या नहीं, अविद्या ही है। लोग इतने पढ़ते हैं, आखिर क्या पेट भरने के लिए? नहीं। पेट तो पशु-पक्षी भी भरते हैं। तब क्या ऐशोआराम के लिए? नहीं। उससे विलास बढ़ता है। विलास न तो स्वयं के लिए लाभदायक है और न दूसरों के लिए ही। अतः सोचना है—विद्या का लक्ष्य क्या होना चाहिये?

चलते सब हैं पर उनका चलना चलना है जो दूसरों के लिए पगडण्डी बन जाए। बोलते सब हैं, पर उनका बोलना बोलना है जिससे दूसरे प्रेरणा पाएँ। विद्या से यदि ऐसा होता है तो वह विद्या है। कभी-कभी जीवन की छोटी-सी घटना भी, छोटी सी वाणी भी दूसरों के लिए बड़ी प्रेरणा का स्रोत बन जाती है। उसके लिए यह आवश्यक नहीं कि उसे करने वाले या कहने वाले कोई बहुत पढ़े-लिखे हों। कभी-कभी अनपढ़ लोग भी कुछ ऐसा कर लेते हैं, जो दूसरों के लिए प्रेरणा का काम कर जाते हैं। एक बार की बात है एक दासी एक राजा की शैया बिछाने के लिए नियुक्त की गयी। वह प्रति दिन ऐसा करती और राजा के शय्या पर आ जाने के बाद वापिस चली जाती। एक दिन उसने शैय्या को तैयार किया और सोचा—कितनी कोमल है यह शैय्या, आँखों में नींद घुल

रही है। यदि इस पर सो जाऊँ तो कैसा रहे? फिर सोचा, बीच में ही यदि राजा आ जाये तो? लेकिन वे तो बड़ी देर से आते हैं। मैं अभी आध घण्टे में सोकर उठ जाऊँगी। यह सोच वह शैय्या पर सो रही। नींद ने उस पर पर्दा डाल दिया और ऐसा पर्दा डाल दिया कि वह फिर उठ नहीं सकी। कुछ देर बाद राजा सोने के लिए आए: उन्होंने देखा—शैय्या पर तो एक दासी सोई पड़ी है। उन्हें गुस्सा आ गया और झट अङ्गरक्षकों को आवाज़ देकर बुला लिया और कहने लगे—इस दासी पर कोड़े लगाओ और एक-एक मिनट के सात-सात कोड़े लगाओ। अङ्गरक्षकों ने वैसा ही किया, पर राजा ने देखा दृश्य कुछ और ही बन रहा है—कोड़े खाकर दासी उठ खड़ी हुई और हँस रही है। राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ। कोड़े लगाना बन्द करवाकर उससे पूछने लगा—कोड़े खाकर भी तुम हँस क्यों रही हो? उसने कहा—महाराज! आपने बड़ा अच्छा किया जो मुझे इतनी जल्दी उठा दिया। एक घण्टे में ही मुझे इतने कोड़े पड़े हैं तो सारी रात सोने वालों को न जाने कितने कोड़े खाने पड़ते। अतः इस सुख की विचित्रता पर मुझे हँसी आ रही है। यह सुनते ही राजा की आँखें खुल गईं। यह एक शब्द राजा के लिए काम कर गया और उन्होंने प्रासाद छोड़ तपोवन का मार्ग अपना लिया। अतः आपने देखा, वह दासी कोई पढ़ी-लिखी न थी, पर फिर भी उसके एक शब्द ने ही राजा का सारा जीवन पलट दिया। अतः विद्यार्थी भी पढ़-लिखकर अपना जीवन ऐसा बनाएँ जिससे दूसरे लोग प्रेरणा पाएँ।

विद्यार्थी कहते हैं—जब वातावरण ही विकृत है तब हम कैसे सुधर सकते हैं? पर वातावरण बदलने से हम बदलें, यह तो कमजोरी होगी। यह कल्पना क्यों की जाए कि वातावरण का हमारे ऊपर असर पड़ता है यह भी तो सम्भव है कि वे वातावरण को बदल दें। इसके लिए आपको दृढ़ संकल्प करना होगा। दृढ़ संकल्प और लक्ष्य ये दोनों एक ही बातें हैं। लक्ष्य एक कवच है जिसे पहनकर मनुष्य कहीं भी चला जाए तो उसकी बुराइयों से रक्षा करने में वह समर्थ है। व्रत एक प्रहरी है जो आनेवाली बुराइयों को रोक कर मनुष्य की रक्षा कर सकता है। यदि जीवन व्रत के द्वारा सुरक्षित नहीं होगा—ढीला रहेगा, तो उसे पग-पग पर रुकावटें आएँगी अतः यह आवश्यक है कि विद्यार्थी व्रत के महत्त्व को समझें और उन्हें ग्रहण करें।

६३ : स्थिरवास क्यों ?

दशवैकालिक सूत्र की चूर्णि में साधुओं के पर्यायवाची नाम गिनाते हुए, पहला नाम गिनाया गया है—'प्रव्रजित'। मूल सूत्रों में भी अनेक जगह दीक्षा के अर्थ में 'पवज्जा' (प्रव्रज्या) शब्द का प्रयोग हुआ है। वैदिक ग्रन्थों में परिव्राजक शब्द साधुओं के ही अर्थ में आया है। बौद्ध लोग भी प्रव्रज्या से यही अर्थ ग्रहण करते है। यह शब्द 'प्र' उपसर्ग पूर्वक धातु से बना है जिसका अर्थ है चलना। इसका मतलब है—भारतीय संस्कृति में साधु को भ्रमणशील का प्रतीक माना गया है। भ्रमण की महिमा बताते हुए ऐतरेय उपनिषद् में कहा गया है :

चरन् वैमधु विन्दति, चरन् स्वादु मुदुम्बरम् सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरेश्चरैवेतीर।

इसी प्रकार गौतम बुद्ध ने भी भिक्षुओं को लक्ष्य कर कहा है :

चरतो भिक्खवेचारिका, बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय।

भगवान् महावीर ने तो भ्रमण पर और भी अधिक जोर दिया है। नव कल्प विहार का विधान कर उन्होंने साधुओं को निरन्तर एक स्थान पर रहने का निषेध ही कर दिया है। आचाराङ्ग और व्यवहार सूत्र में इसके अनेक विधि निषेधात्मक प्रकरण मिलते हैं। यही परम्परा आगे चल कर **"साधु तो रमता भला, पडया गंदीला होय"**, की जन-विश्रुत लेकिन में व्यक्त हुई है। निस्सन्देह इस परम्परा से भारत को बहुत बड़ा लाभ हुआ है। छोटे-छोटे गाँवों से लेकर बड़े-बड़े शहरों तक साधुओं की पहुँच रही है और जनसाधारण तक के हृदय का वे स्पर्श कर सके हैं। भ्रमणशीलता साधुओं का अभिन्न अंग रही है। आज भी यदि कोई इस अभिन्नता की सुरक्षा कर सका है तो वह है, जैन साधु। दूसरे-दूसरे साधु मठ, आश्रम, विहार, मन्दिर आदि बनवाकर जमने लगे हैं, पर जैन साधु अब भी वैसा नहीं करते। चातुर्मास के चार महीनों के सिवाय वे किसी भी गाँव में एक मास से ज्यादा नहीं ठहरते। चातुर्मास के लिए भी उनके अनेक नियम होते हैं। प्रमुख रूप से जो साधु जिस स्थान पर चातुर्मास कर लेता है, वह फिर अगले दो वर्षों तक उस स्थान पर चातुर्मास नहीं कर सकता। शेष काल में जहाँ एक मास रह जाता है वहाँ फिर दो महीने के पहले और नहीं ठहर सकता। इस प्रकार उनका भ्रमण तो अनायास होता ही रहता है, पर प्रश्न है कि बीमारी या वृद्धावस्था की वजह से अगर कोई चल न सके तो वह क्या करे? उसके लिए शास्त्रों में विधान है कि उसे तो फिर एक स्थान में रहना ही पड़ेगा।

जहाँ संघ है वहाँ अनेक वृद्ध साधु-साध्वियों का होना भी असम्भव नहीं है। तेरापन्थ भी अपने ढंग का एक विशिष्ट और विशाल संगठन है। अतः उसमें अनेक वृद्ध साधु और साध्वियाँ भी अपनी साधना करें, इसमें कोई आश्चर्य नहीं। वार्धक्य के कारण उन्हें कई स्थानों पर स्थिरवास भी करना पड़ता है। ऐसे स्थानों में राजस्थान के अन्तर्गत यह लाडनूं गाँव भी अपना विशेष महत्त्व रखता है। यहाँ पिछले सौ वर्षों से निरन्तर तेरापन्थी साध्वियों का स्थिरवास रहा है। जहाँ एक भी तपस्वी का निवास या देहावसान होता है वह एक तीर्थ का रूप धारण कर लेता है। तो यहाँ तो अनेक साध्वियों ने अपने तपस्वी जीवन का अन्त किया है। सचमुच यह इस स्थान का सौभाग्य है। इसीलिए चतुर्थाचार्य—श्री जयाचार्य से लेकर प्रायः सारे आचार्य समय-समय पर यहाँ पधारते रहे हैं। एक लम्बे अर्से तक किसी चीज का स्थायी रहना स्वयं उसके महत्त्व का प्रमाण है। अतः यहाँ भी एक शताब्दी तक स्थिरवास का रहना अपने स्थान का महत्त्व स्वयं प्रमाणित कर रहा है।

यद्यपि समय-समय पर यहाँ अनेक परिवर्तन हुए हैं। श्रद्धालु लोगों की यहाँ पीढ़ियाँ गुजर गई हैं। आज तो शायद यहाँ ऐसा कोई मनुष्य नहीं मिलेगा जिसने स्थिरवास का आदि दिन देखा हो। श्रुत परम्परा का प्रामाणिक इतिहास ही आज उनकी इस गौरव-गरिमा का प्रमाण दे रहा है। अनेक श्रद्धालुओं के सत् प्रयत्न से शायद जयाचार्य ने इस स्थान को स्थिरवास के लिए चुना हो। यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि किस साधु या साध्वी ने इसका श्री गणेश किया था, पर इतना तय है कि सम्वत् १९१४ से यहाँ के लोग सिवाय २॥ दिन के निरन्तर रूप से साधु-दर्शन का लाभ उठा रहे हैं। संवत् १९१४ के बाद संघ में प्रायः जितनी असक्त और वृद्ध साध्वियाँ हुई हैं, उन्हें यथाशक्य यहाँ स्थिरवास के लिए रखा जाने लगा। अधिक से अधिक यहाँ ३१ तक साध्वियाँ इकट्ठी हो गई। बीच में शायद ऐसी परिस्थितियाँ भी आयी होंगी जिस में साध्वियों को वहाँ से विहार की भी आवश्यकता हुई होगी। एक बार की ऐसी ही घटना है १९७४ में सारे गाँव में प्लेग फैल गया था तो लोग यहाँ से उठ-उठ कर गाँव की ओर जाने लगे। बहुतेरे लोग चले गये तो साध्वियों को भी यह सोचना पड़ा कि उनका रहना यहाँ कैसे सम्भव होगा। उन्होंने श्रावकों से पूछा—तुम सब लोग तो गाँव छोड़ कर जा रहे हो, पर हमारी वृद्ध साध्वियाँ कहाँ जाएँगी ? लेकिन फिर भी जब सब लोग जा रहे है तो हमें क्या करना होगा ? गणेशदासजी चण्डालिया आदि अनेक श्रावक आगे आए और कहने लगे "जबतक हम लोग यहाँ पर हैं तब तक तो आप

को यहाँ से विहार करने की कोई आवश्यकता नहीं और जब तक आप गाँव में रहेंगी तबतक हम गाँव के बाहर पैर नहीं रखेंगे। आप शान्तिपूर्वक गाँव में रहें। हम आप की सब प्रकार की कल्प्य सेवा करेंगे।" भयंकर महामारी में भी वे लोग गाँव में डटे रहे। कुछ लोगों को संशय हुआ कि इस भयंकर महामारी में इनका यहाँ रहना कैसे सम्भव होगा? लेकिन गणेशदासजी ने आत्म-दृढ़ता पूर्वक कहा---मुझे तो पूर्ण विश्वास है कि साध्वियों की सेवा में हमारा कुछ भी बिगड़ने वाला नहीं है। जिसे यह पूर्ण विश्वास हो वही यहाँ रहे। अनेक लोगों में साहस का संचार हुआ और ३१ परिवार गाँव में रहने को तैयार हुए। सचमुच इस दृष्टि से गाँव में रहने वालों में किसी को प्लेग नहीं हुआ। इतने अर्से से यहाँ अनेकों रुग्ण एवं वृद्ध साध्वियों के रहने के बावजूद भी यहाँ के लोगों की भक्ति ज्यों की त्यों है। यही कारण है यहाँ कुछ ऐसी साध्वियाँ भी रही हैं जो चित्त-विक्षिप्तता के कारण श्रावकों को गालियाँ तक निकाल देती थीं, पर यहाँ के श्रावकों ने उन्हें धैर्य पूर्वक सहा है। शायद ऐसा एक भी अवसर नहीं आया जिससे आचार्यों को यहाँ के श्रावकों के बारे में कभी विचार हुआ हो। इसका मुख्य कारण तो यहाँ के लोगों का धर्म-प्रेम ही है, पर इसका एक कारण यह भी है कि यहाँ की साध्वियों की व्यवस्था इतनी सुन्दर है कि किसी को कुछ कहने का अवसर ही नहीं आता। रहने के लिए मकान की आवश्यकता होती है। वह यहाँ राजलदेसर निवासी बैंदों का एक मकान मिल गया। उस मकान का भी अपना एक इतिहास है पर वह यहाँ देना प्रासंगिक नहीं होगा। मकान की सफाई के बारे में भी गृहस्थों पर कोई भार नहीं रहता। जिन कमरों में साध्वियाँ रहती हैं उनकी सफाई वे स्वयं कर लेती हैं। साधारणतया संघ की परम्परा ही कुछ ऐसी है कि जिससे मकान स्वयं स्वच्छ रहता है। यहाँ के लिए तो समय-समय पर अनेकों आचार्यों ने विशेष मर्यादाएँ भी बाँधी हैं।

खाने के लिए भोजन की आवश्यकता होती है। वह भिक्षा के द्वारा प्राप्त हो जाता है। भिक्षा के लिए तेरापंथ शासन की इतनी सुन्दर व्यवस्था है कि ऐसी व्यवस्था यदि सब साधु-संघों में हो जाये तो "भिक्षा बिल" जैसे बिल को आने का अवसर ही न मिले। शास्त्रीय मर्यादा के अनुसार साधु प्रति दिन एक घर तो भिक्षा के लिए जा ही नहीं सकते फिर यहाँ की बस्ती भी बहुत बड़ी है। अतः थोड़ा २ लेने से भी काम चल जाता है। साधु को किसी चीज की आवश्यकता हो और वह गृहस्थों के घर में मिल भी जाये तो साधु यही चेष्टा करेंगे कि गृहस्थों की इच्छा से कम ली जाये। यदि गृहस्थ एक रोटी देना चाहता है तो साधुओं का यही प्रयत्न

रहता है कि वे आधी से अधिक न लें। इससे दूसरी बार देनेवाला ज्यादा देने की कोशिश करेगा। खाने के बारे में बहुत सी वृद्ध साध्वियाँ तो यथा-शक्य तपस्या में आनन्द मानती हैं। सचमुच ही यहाँ की तपस्या का विवरण साधारण लोगों की आँखें खोलने वाला है। इसका विवरण शायद पाठकों को कभी अन्यत्र देखने को मिलेगा और जो साध्वियाँ भोजन करती हैं उनको भी दूध, दही, मिष्टान्न आदि विगय पदार्थों के खाने का त्याग रहता है। तथा वे जो भी भोजन करती हैं वे मर्यादा से अधिक नहीं खा सकतीं। लाडनूं के लिए तो विशेष मर्यादा भी है। किसी साध्वी को यदि किसी चीज की जरूरत है तो उसे गोचरी जाने से पहले परिचारिका साध्वियों से कहना पड़ता है। फिर गोचरी में जितनी चीज आती वह आवश्यक विभाग के अनुसार विभक्त कर सब को दे दी जाती है। कोई भी साध्वी किसी वस्तु विशेष को किसी गृह विशेष से नहीं मंगा सकती। साधारणतया जो चीज गोचरी में आ जाती है, वह सब को हिसाब से दे दी जाती है। उपवास के पारणों में दूध, दलिया, सभी व्यञ्जन तथा पापड़ आदि के सिवाय और कोई वस्तु लाने का निषेध है। खाने पीने के बारे में कोई भी साध्वी किसी दूसरी साध्वी से यह नहीं पूछ सकती कि उसे खाने को क्या मिला ? जो कुछ उन्हें खाने को मिले उसमें उन्हें स्वयं संतोष रहता है। औषधि आदि के बारे में भी यहाँ पूरी व्यवस्था रहती है साधारणतया कोई भी औषधि लेना नहीं चाहती, इसका कारण एक अंश तक अपना स्वयं का जागरण है, और एक अंश में मर्यादा है। प्रथम तो साधक को स्वयं विवेक रहता है और फिर संघ की कुछ मर्यादाएँ भी ऐसी हैं जिनसे व्यवहार को भी अशुद्ध होने का अवसर नहीं मिलता। पानी, मीठा तथा खारा जितना आता है उसको सबको मिला दिया जाता है और फिर सब में यथा आवश्यक बाँट दिया जाता है। परिचारिका साध्वियों को भी भिक्षा के बारे में पूरा ध्यान रखना पड़ता है। वे भी अगर कहीं थोड़ी गलती कर देती हैं तो वह आचार्य तक पहुँच जाती है। प्रतिवर्ष आचार्य उनकी अच्छी प्रकार जाँच पड़ताल करते हैं। अगर उनकी कोई गलती हो जाती है तो आचार्य उन्हें भी कड़ा दण्ड देते हैं।

कपड़े के बारे में यहाँ स्थिरवास स्थित साध्वियाँ कोई भी कपड़ा नहीं ला सकतीं। परिचारिका साध्वियों के सिवाय और किसी दूसरी साध्वियों से भी कपड़ा नहीं ले सकतीं। परिचारिका साध्वियाँ को जैसा कपड़ा मिलता है उसका उचित विभाग कर वे उन्हें स्वयं ही दे देती हैं। अतः कपड़े के बारे में भी उनका कोई वजन नहीं रहता।

जहाँ अधिक मनुष्य एक जगह रहते हैं, उनमें भिन्न-भिन्न प्रकृति के मनुष्य

भी होते हैं। अतः समुदाय की एक सब से बड़ी समस्या है "पारस्परिक व्यवहार।" साधक के लिए यह स्थिति कोई विशेष प्रश्रय नहीं बनती, पर जहाँ पर बहुत से वृद्ध तथा रुग्ण लोग रहते हैं उनमें व्यवहार भी कभी-कभी एक समस्या बन जाता है, पर यहाँ की व्यवस्था इतनी सुन्दर है कि किसी को कुछ बोलने का अवसर भी नहीं मिलता। प्रत्येक साध्वी के लिए अपना-अपना स्थान निश्चित रहता है। वे वहीं सो, उठ, बैठ सकती हैं। अतः दूसरे के साथ संघर्ष होने की स्थिति ही पैदा नहीं होती। उनके निश्चित पात्रों के उपयोग के बारे में भी परिचारिक साध्वियों का पूर्ण अधिकार रहता है। स्थिरवास स्थित साध्वियाँ, परिचारिक साध्वियों को उनका काम काज अधिक या कम करने के प्रसंग को लेकर आपस में विभेद नहीं कर सकतीं।

यदि कोई साध्वी बाधी हुई मर्यादा को भंग कर देती है तो उसका यथोपयुक्त दण्ड भी निश्चित रहता है। अतः विवेक तथा मर्यादाएँ दोनों संयुक्त होकर यहाँ की व्यवस्था को अत्यन्त सुन्दर बना देती हैं। इससे उनका संयम भी सुखपूर्वक निभ जाता है, और व्यवहार भी अत्यन्त मृदु रहता है।

सब साध्वियाँ अपने-अपने स्थान पर बैठी अपनी साधना, स्वाध्याय, भजन, चिन्तन, मनन आदि में संलग्न रहती है उनके मुख पर छायी अनन्त शान्ति को देखकर अजन्ता और एलोरा की मूर्तियाँ आँखों के सामने नाचने लग जाती हैं। सचमुच आज के युग में ऐसी सुन्दर व्यवस्था का होना एक उदाहरण है। इसी से किसी भी तेरापन्थी-साधु या साध्वी का भविष्य चिन्तनीय नही बनता। जब तक वे स्वस्थ रहते हैं तब तक वे स्वयं अपनी साधना करते हैं, और दूसरों की साधना में सहयोग करते हैं, और वे अस्वस्थ या वृद्ध हो जाते हैं तो उनकी सेवा-सुश्रुषा का भार संघ पर रहता है। संघ की परम्परा के सिवाय वर्तमान आचार्य भी उनका पूरा ध्यान रखते हैं। प्रत्येक को अपने विकास का पूर्ण अवसर प्राप्त रहता है। अतः तेरा-पन्थ-संस्था अपने ढंग की एक सर्वांगीण सुन्दर संस्था है।

लाडनूं,
स्थिरवास शताब्दी महोत्सव, '५७

६४ : बन्धन और मुक्ति

हमारा लक्ष्य है पूर्ण स्वतन्त्रता—बन्धन-मुक्ति। यही कारण है कि जिससे हम सब लोग यहाँ इकट्ठे हुए हैं। यदि यह नहीं होता तो न तो

यहाँ इतनी परिषद् आती और न कोई प्रवचन करने वाला ही होता। मनोरंजन ही यदि हमारा लक्ष्य होता तो वह तो सिनेमा और खेल-कूद में प्राप्त हो सकता था, पर यहाँ कोई सिनेमा और खेल-कूद का आयोजन नहीं है। फिर भी यहाँ इतने लोग आए हैं इसका मतलब यही है कि हम सब पूर्ण स्वतन्त्रता चाहते हैं, पर सोचने की बात है कि हमारे चाहते हुए भी हमें वह मिल क्यों नहीं रही है ? इसका कारण है हम अभी तक कर्मों से बद्ध हैं।

प्रश्न है बन्धन क्या है ? बन्धन यानी दो चीजों के विशिष्ट का संयोग। जिस प्रकार दो कपड़ों का संयोग बन्धन कहलाता है, उसी प्रकार आत्मा और कर्म के विजातीय द्रव्यों का संयोग भी बन्धन ही हैं। आत्मा और शरीर का संयोग भी तो एक प्रकार का बन्धन ही है। इसीलिए तो हमें इतनी परेशानियाँ उठानी पड़ती है। यह शरीर है तब ही तो हमें खाना-पीना पड़ता है इसकी चिकित्सा करवानी पड़ती है। संसार में जितने झंझट हैं वे सब खाने-पीने के सिवाय और हैं ही क्या ? यदि शरीर न होता तो न जन्म होता और न मृत्यु होती। इसीलिए आस्तिक इस बात में विश्वास करते हैं कि हमें बन्धन मुक्त होना चाहिए। कौन ऐसा पापी होगा जो पिंजड़े में बन्द रहना चाहेगा, पर मुश्किल तो यह है कि उसे मुक्ति मिले कैसे ?

अतः आप्त पुरुषों ने बताया है कि मुक्ति तब ही हो सकती है जब पहले हम नये सिरे से आनेवाले कर्मों को रोक दें। जो मनुष्य कर्ज चुकाना चाहता है, उसके पहले यह आवश्यक है कि नये सिरे से कर्ज करना वह बन्द कर दे। अतः बन्धन मुक्त होने के लिये यह आवश्यक है कि हम पहले कर्मों को समझें और फिर उसका आगमन रोकने की कोशिश करें।

जब तक कारणों को नहीं जाना जाता तब तक कार्य को नहीं समझा जा सकता। अतः कर्मों के रोकने के पहले उनके कारणों को समझना भी आवश्यक है। इसीलिये शास्त्रों में कहा गया है—'उड्ढे सोया, अहे सोया।' ऊपर से कर्मागमन के स्रोत हैं, नीचे भी कर्मागमन के स्रोत हैं और तिरछे लोक में भी कर्मागमन के स्रोत हैं। फलितार्थों में सब जगहों पर कर्म बन्धन के कारण मौजूद हैं। क्योंकि उनका बन्धन तो स्वयं अपनी आत्मा से ही किया जाता है। अतः मन्दिर, मस्जिद, चर्च, मठ या धर्म स्थान कहीं पर भी कर्म बन्धन हो सकता है। सोते, जागते, खाते, पीते और यहाँ तक कि उपवास करते भी उनका बन्धन संभव्य है। ऊपर स्वर्ग में भी उनका बन्धन कर सकता है नीचे नरक में भी इसके कारण मौजूद है और तिरछे लोक—मनुष्य लोक में भी प्राणी उन्हें अर्जित कर सकता है। धर्म स्थान में यद्यपि वातावरण सात्त्विक रहता है अतः अधिकतया वहाँ मनुष्य की

प्रतिक्रिया शुद्ध रहती है, पर यहाँ आकर भी अगर कोई मनुष्य द्वेष करे, किसी को मारने-पीटने का चिंतन करे तो कर्म उसे छोड़नेवाले नहीं हैं। अतएव शास्त्रों में कहा है बन्धन सब जगह है और सब जगह नहीं है।

उस बन्धन को जैन-परिभाषा में 'आश्रव' कहा जाता है। इसीलिये कहा गया है—"**आश्रव भवहेतुः स्यात् संवरो मोक्षकारणम्। इत्येवं आर्हती दृष्टि शेषमन्यद् प्रपंचनम्।**" आश्रव ही भव भ्रमण का कारण है। यह जैन-दर्शन की मान्यता है। उसके पाँच प्रकार बतलाये गये हैं। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। मिथ्यात्व यानी गलत मान्यता श्रद्धा। कोई मनुष्य गलत क्रिया नहीं करता पर तो भी यदि उसकी मान्यता सम्यग नहीं तो उसके मिथ्यात्व का बन्धन होता ही है। मान्यता का महत्त्व क्रिया से भी अधिक है अतः बुरी क्रिया छोड़ने से पहले बुरी मान्यता छोड़ना ज्यादा आवश्यक है। कोई मनुष्य शराब छोड़ता है तो उसे पहले यह आवश्यक है कि वह शराब को बुरा माने। एक मनुष्य झूठ बोलता है और एक मनुष्य झूठ बोलने को बुरा नहीं मानता। इन दोनों की तुलना में झूठ बोलनेवाले की अपेक्षा उसे बुरा नहीं मानने वाला अधिक बुरा है। क्योंकि झूठ को तो कोई परिस्थितिवश बोल लेता है, पर झूठ को बुरा नहीं मानने वाला झूठ बोलते कब संकोच करेगा? इसीलिये जैन-दर्शन में मिथ्यात्व को पहला पाप माना है।

स्थूल रूप से इसे समझने के लिए शास्त्रों में इसके दस भेद बतलाए हैं। जैसे जीव को अजीव समझना मिथ्यात्व, अजीव को जीव समझना मिथ्यात्व, धर्म को अधर्म समझना मिथ्यात्व। अधर्म को धर्म समझना मिथ्यात्व, साधु को असाधु समझना मिथ्यात्व, असाधु को साधु समझना मिथ्यात्व, मोक्ष गया को अमोक्ष गया समझना मिथ्यात्व, अमोक्ष गया को मोक्ष गया समझना मिथ्यात्व, मार्ग को कुमार्ग समझना मिथ्यात्व, कुमार्ग को मार्ग समझना मिथ्यात्व। इसीलिये जीव और अजीव को एक समझना मिथ्यात्व है। प्रदेशी राजा इसीलिये मिथ्यात्वी था कि वह आत्मा और शरीर को एक ही मानता था। कई लोग अधर्म के कर्म को, गृहस्थ के अधर्म सावद्य कर्म को भी धर्म मान लेते हैं। शादी, विवाह को भी धर्म मान बैठते हैं—यह मिथ्यात्व है।

अव्रत—यानी अन्तर अभिलाषा। कोई मनुष्य शराब पीता नहीं है, पर उसका त्याग नहीं करता। कभी पी सकता है यह अव्रत—अविरत आश्रव कहा जाता है। प्रमाद—यानी असावधानी। प्रमाद का स्थूल रूप तो हमारे देखने में आता है जिससे हम गलती कह देते हैं पर सूक्ष्म दृष्टि से प्रमाद का रूप और रहता है जो अव्यक्त रहता है वह अप्रमत्त अवस्था तक प्रत्येक

आत्मा में रहता है। योग—यानी प्रवृत्ति। संसार में जितनी भी शुभाशुभ प्रवृत्तियाँ होती हैं वे सब योग हैं आश्रव के अन्तर्गत आती हैं।

इस प्रकार यदि हम बन्धन मुक्त होना चाहते हैं तो हमें आश्रव को घटाना होगा और संवर को बढ़ाना होगा। सामायिक भी लोग इसीलिये करते हैं कि उसमें निश्चित समय तक के लिये कर्म बन्धन रुक जाता है, पर आज तो कई लोग इसे ही 'बन्धन' मानने लगे हैं। एक दृष्टि से यह सत्य भी है। बन्धन को बन्धन के द्वारा ही तोड़ा जा सकता है। यह दूसरी बात है कि यह बन्धन जान-बूझकर बनाया जाता है और वह बन्धन परवशता के कारण भोगना पड़ता है। अतः अगर हम स्वतन्त्र होना चाहते हैं, तो हमें बन्धन मुक्ति का उपाय करना पड़ेगा। वह उपाय है संवर—असत् क्रिया का निरोध।

९५ : धर्म की परिभाषा

जिससे आत्मा उज्ज्वल तथा पवित्र बनती है—वह धर्म है। अहिंसा, सत्य, उदारता, समता आदि धर्म का स्वरूप है, धर्म का आविर्भाव कलह-वैर, वैषम्य अत्याचार मिटाने के लिए है। वह सब का त्राण है। समता स्थापन धर्म का मुख्य लक्ष्य है। धर्म का पैसे आदि से कोई सम्बन्ध नहीं, उसका मूल व्यक्ति की चित्त-वृत्तियाँ हैं। धर्म का क्षेत्र सारा विश्व है, उसमें सब प्रकार के प्राणी हैं, जीवन के समग्र व्यवहार हैं। वह मन्दिर, घर, व्यापार, बाजार सब जगह हो सकता है। वह कोई स्थान से बँधा हुआ नहीं, किसी वर्ग के साथ उसका गठ बन्धन नहीं, किसी जाति की वह बपौती नहीं, गरीब और धनिक की उसके बीच में खाई नहीं, काले और गोरे रंग का उसमें विभेद नहीं। जघन्य से जघन्य और उच्च से उच्च उसके प्रसार की भूमि बन सकते हैं। वह प्रत्येक जाति, प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक वर्ग और प्रत्येक स्थान और काल के शरीर में निवास करता है। वह सब से अतीत है। किसी की सीमा में बन्धता नहीं और सबसे सम्बद्ध है।

९६ : सुधार का आधार

सुधार नितान्त आवश्यक है और उसका अवकाश सदा बना रहता है। चिन्तनशील व्यक्ति उसके विषय में निरन्तर सचेष्ट रहते हैं। किन्तु सुधार का आधार क्या है इस विषय में बहुधा भ्रांति रहती है, बहुत से लोग उसके स्वरूप को नहीं पहचान पाते। कुछ लोगों की धारणा है कि परिस्थितियों

के परिवर्तन मात्र से सुधार का चक्र घूम जाता पर वास्तविकता यह नहीं है। इतने से यदि सुधार होता तो आज तक परिस्थितियों के कितने ही उलट फेर हो गये, अनेक तरह के माप-दण्ड लोगों के सामने से गुजर गए, पर दुनिया वहाँ की वहाँ खड़ी है। वैसे ही युद्ध होते हैं और वैसे ही अधिकारों की छीना-झपटी चलती है। अतः निश्चत है कि परिस्थिति परिवर्तन सुधार का कोई अचूक उपाय एवं पूर्ण समाधान नहीं। सुधार का तरीका तो यह है कि व्यक्ति अपने को शुद्ध बनाए। अपने व्यवहार को पवित्र, सत्य तथा उदार बना कर ही वह वास्तविक सुधार का द्वार खोल सकता है।

९७ : आत्म-निरीक्षण

आत्म-निरीक्षण सुधार का आन्तरिक एव अमोघ उपाय है। व्यक्ति स्वयं जब अपने दोषों को देखना शुरू कर देता है तो उन्हें त्यागने में जल्दी समर्थ होता है। मनुष्य अपने अन्तःकरण की प्रेरणा से जो करता है—वह सत्य एवं सुन्दर होता है। आत्म-निरीक्षण इसी प्रवृत्ति को जागृत करता है। दूसरे के दोष देखना सुगम है, पर अपने दूषणों पर दृष्टिपात करना बड़ा ही कठिन है। किन्तु जो इसमें निष्णात हो जाता है वह प्रत्येक काम में बहुत शीघ्र सफल हो सकता है। इसका सबसे बड़ा लाभ तो यह है कि यहाँ दूसरे का हस्तक्षेप नहीं व्यक्ति की स्वयं की सत्ता रहती है। दर्पण में चेहरा देखने पर जैसे उसकी सुन्दरता और असुन्दरता के विषय में स्पष्ट आभास हो जाता है और उसको सँवारने में मनुष्य समर्थ होता है उसी प्रकार आत्म-निरीक्षण अपनी योग्यता अयोग्यता का साफ प्रतिविम्ब सामने ला देता है, और उसके बाद व्यक्ति को अपने में सुधार करने का पर्याप्त अवकाश मिल जाता है। हो सकता है, किसी व्यक्ति से कठिन तपस्या न हो, साधना न हो, ध्यान न हो, आतापना का कष्ट झेलना सम्भव न हो, सेवा परोपकारिता भी न बन पड़े, किन्तु आत्म-निरीक्षण तो अवश्य होना चाहिये। उससे सब विकासों का द्वार स्वयं खुल जाएगा।

९८ : हमारा कर्तव्य

यद्यपि मैं ज्योतिष पर बहुत ज्यादे भरोसा नहीं करता, पर इस पर मैं अविश्वास भी नहीं करता। हमारे पुराने आचार्यों ने बताया कि ज्योतिष

का ज्ञान झूठा नहीं है, पर उसका ज्ञानवेत्ता होना चाहिए। ज्योतिष के धर्मत्व के बारे में तो यह स्पष्ट ही है कि वह हमारा कुछ बिगाड़ता नहीं। अपने निर्माता हम स्वयं ही हैं।

तृतीयाचार्य रायचन्द जी स्वामी को विहार करते समय किसी ने कहा—महाराज दिशाशूल है, अतः विहार का निषेध है। मेवाड़ में निषेध को "नखेद कहते हैं—खेद यानी कोई कष्ट नहीं होगा और वे वहाँ से विहार कर ही गए। सचमुच उन्हें कोई खेद नहीं हुआ। इसी प्रकार मैं भी आज ही गाँव में चला जा सकता था पर बहुत जन-भावना का तिरस्कार करना मुझे उचित नहीं लगा। अतः मैंने सोचा चलो आज हमारे विश्राम ही सही अतः आज मैं यहाँ ठहर गया। जनता से मैं यह कहना चाहूँगा कि वह केवल मेरे आगमन से खुशियाँ मना लेना ही काफी न समझें वास्तविक खुशी तो मैं तब समझूँगा जब वह अपने जीवन का निर्माण करेगी।

आज युग जगा है। हमें अपनी शक्ति के अनुसार उसे राह दिखाने की कोशिश करनी चाहिए। मैं यह नहीं मानता कि हम सारे संसार की संत्रस्तता को मिटा ही सकेंगे। हमारा अपना प्रयास चल रहा है। जो हमारी बात सुनना चाहेगा उसे हम अपनी बात सुनाएँगे। जो नहीं सुनना चाहें वे कान पर हाथ रख लें इसका हम क्या करें? क्या सूर्य के उदित हो जाने से अन्धेरा बिल्कुल नष्ट हो ही जाता है? जहाँ तहाँ गुफाओं तथा बन्द मकानों में तो वह रहता ही है। जो अपने को खुला रखेगा वह प्रकाश पाएगा और जो अपने को बन्द रखेगा वह अन्धेरे में रहेगा प्रयास करने का हमारा कर्तव्य है। वह हमें करना चाहिए।

मनुष्य में विवेक है। वह अच्छे और बुरे का निर्णय कर सकता है। यह उसकी सूझ-बूझ का प्रयोग है, पर इसका भी यदि गलत उपयोग हो जाए तो उससे उल्टी अशांति बढ़ जाती है। अतः यह आवश्यक है कि मनुष्य अपने विवेक को संयम की ओर विकसित करे। यद्यपि यह सही है कि एक गृहस्थ के लिए रोटी और कपड़ा भी आवश्यक होता है। बिना उनके उसे संयम की बात याद ही नहीं आती, पर अगर हम विशाल दृष्टि-कोण से सोचें तो रोटी और कपड़े की समस्या भी तो आखिर संयम के अभाव के कारण ही उत्पन्न होती है। कहीं अन्नागारों में पड़ा अन्न सड़ रहा है और कहीं अभाव के कारण लोग भूखों मर रहे हैं। यह स्थिति क्या सचमुच असंयम की ओर संकेत नहीं कर रही है?

आज देश में अनेक योजनाएँ चल रही हैं। द्वितीय पंचवर्षीय योजना की रूपरेखा लोगों के सामने है। कहते हैं, उसके लिए अर्थ का अभाव है।

विदेशों मे ऋण नही मिल रहा है। मैं सोचता हूँ यह समस्या तो शायद किसी प्रकार से हल हो जाएगी, पर देश में जो मानवता की कमी आ रही है उसे कैसे पूरा किया जाएगा ? योजनाओं में जो लाखों रुपए का छोयला चलता है उसे कैसे मिटाया जाएगा ? उसे ये योजनाएँ नहीं मिटा सकतीं। उसके लिए तो अणुव्रत-आन्दोलन जैसे नैतिक आन्दोलनों की आवश्यकता रहेगी। अतः देश के कर्णधारों को इस ओर ध्यान देना आवश्यक है।

६६ : शान्ति के उपाय

कहते हैं, आज मानव ने बहुत बड़ी उन्नति की है और एक तरह से यह ठीक भी है क्योंकि उसने पानी, आकाश, अग्नि आदि को मुट्ठी में कर रखा है, पर एक तरफ उसने जितनी उन्नति की है दूसरी ओर अवनति ही हुई है उसबार उसने अपनी मानवता को खुले आम बेचा। श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र जैसे मानवीय गुणों से हाथ धो बैठा। उसका कर्तव्य है कि वह अपनी खोई हुई मानवता को पुनः प्राप्त करें। अणुव्रत-आन्दोलन इसी लक्ष्य से अपना कार्य कर रहा है ताकि पथभूले मानव को शांति मिले, राह मिले। वह शांति के उपाय को ढूंढे।

●